

DATE LABEL

THE ASIATIC SOCIETY

1, Park Street, CALCUTTA-16.

The Book is to be returned on

the date last stamped :

15. 11. 52.

Taittiriya samhita of the Black Yajurveda
with commentary ~~of~~ by Sayanacharya
~~Satyajit~~ edited by Satyavrata somasvarani
calcutta The Asiatic Society
1899

BI 26, v.5

तैत्तिरीयसंहिता-पञ्चमकाण्डस्य ।

सूचीपत्रम् ।

अग्निषयनब्राह्मणम् ।

प्रपाठकाः १—७ ।

प्रपाठकः १.।

| | पृष्ठे । |
|--|----------|
| १—११ अनुवाकः—उत्थाभिब्राह्मणम् | १-२५ |
| १ अनुवाकः...सैवित्र्याहुतिः, अम्नादागश्च | १-२ |
| २ " ... मृदाधोविद्याम् | ४-६ |
| ३ " ... मृत्खननम्, उदस्मुखत्वेन अन्वस्य निर्गमनम्, उदकसेचनश्च | ६-७ |
| ४ " ... मृत्खननं, पुष्करपर्ये मृदः सम्भरणं, जव्या- जिने मृदः स्थापनश्च | ७-१० |
| ५ " ... जलसोपग्रादिपूर्वकं यच्चभूमौ मृदाहरणम्, | १०-१२ |
| ६ " ... उखानिष्ठाणम् | १४-१५ |
| ७ " ... उखासंस्कारः | १५-१७ |
| ८ " ... यशुग्रीवसम्पादनादि | १७-१८ |
| ९ " ... दीक्षासंस्कारः, उखाप्रतापनादि च | २०-२१ |
| १० " ... उत्थाप्रौ समिदाधानादि | २२-२३ |
| ११ " ... एकादशान्वस्य अग्निवास्या ऋचः | २४-२५ |

प्रपाठकः १ ।

| | |
|---|----------|
| | दृष्टे । |
| १—१२ अनुवाकः—चित्तुपक्रमब्राह्मणम् | ३२-६१ |
| १ अनुवाकः...आसन्ध्याम् उच्छ्वाभिस्रियापनम्, वात्सप्रेय उप- स्थानम् | ३२-३४ |
| २ " ... उच्छ्वास्य अग्नेश्चयनप्रदेशं प्रति नयनम् .. | ३६-३७ |
| ३ " ... गार्हपत्याग्नेश्चयनम् * | ३८-४० |
| ४ " ... गार्हपत्याग्नौ उच्छ्वाभिस्रिवापः | ४०-४१ |
| ५ " ... अग्नेश्चयनभूमेः कर्षणम् | ४२-४४ |
| ६ " ... सिकतादिवापः | ४४-४६ |
| ७ " ... पुष्करपर्य्ये वक्त्रायुपधानम् | ४६-४८ |
| ८ " ... स्वयमाद्वेष्टकोपधानम् | ४८-५१ |
| ९ " ... उल्लुप्युपधानम् | ५१-५३ |
| १० " , ... प्रथमचित्तौ अपस्याप्रागभ्युदयानभ्युदिकर्षे- धानम् | ५३-५५ |
| ११ " ... सौवर्ण्यसूचीभिः अश्वस्य अस्तिष्ठेद्येषु स्थानेषु रेखाकरयमन्त्राः | ५६ |
| १२ " ... अश्वस्य तच्छेदनमन्त्राः | ६०-६१ |

प्रपाठकः ३ ।

| | |
|--|-------|
| १—१२ अनुवाकः—चित्तिचतुष्टयान्त्रमेघविधानब्राह्मणम् | ६४-८४ |
| १ अनुवाकः...द्वितीयचित्तौ आन्विगीनाम्, ऋतयानाम्, प्रागभ्युदयानम्, अपस्यानां, वयस्यानाञ्च इष्टका- नामुपधानम् | ६४-६६ |
| २ " ... तृतीयचित्तौ स्वयमाद्वेष्टायाः, पक्ष्यानां दि- ग्गानां, दंष्ट्रानां प्रागभ्युदयानम्, वद्विंशतींश्च- नीनां, सप्तमीनां वाक्त्रिस्थानाञ्च इष्टकानां मुपधानम् | |

| | | |
|----|--|----------|
| | | दृष्टे । |
| ३ | ... चतुर्थचित्तौ अद्वययास्तोमोयानाम् इष्टका- नामुपधानम् | ६८-७० |
| ४ | ... चतुर्थचित्तौ दृष्टीनां व्युत्थौगाच्च इष्टकाना- मुपधानम् | ७०-७३ |
| ५ | ... पञ्चमचित्तौ असपत्न्यानां निरञ्जच्च इष्टकाना- मुपधानम् | ७३-७५ |
| ६ | ... पञ्चमचित्तौ स्तोमभागानामिष्टकानामुपधा- नम् | ७५-७६ |
| ७ | ... पञ्चमचित्तौ पञ्चानां नाकसदां, पञ्चानां चो- , ङानाम्, स्वयमाहस्यायाः ' विकर्षाच्च इष्ट- कायाः उपधानम् | ७६-७८ |
| ८ | ... पञ्चमचित्तौ हृन्द्सामिष्टकानामुपधानम् ... | ७८-७९ |
| ९ | ... अष्टानां सयुजामिष्टकानां, तिसृणां मण्डले- द्वयसंज्ञां, तिसृणां विन्ध्योतिषामिष्टकाना- द्योपधानम् | ७९-८० |
| १० | ... पञ्चानां दृष्टिसनीनाम्, अष्टानां संयानीनाम्, अष्टानाम् आदित्यानामिष्टकानां, पञ्चानां दृतेष्टकानां, पञ्चानां यज्ञोदानामिष्टकानाच्च उपधानम् | ८०-८२ |
| ११ | ... पञ्चानां भूयस्कृतां, पञ्चानामभिरूपायाम्, पञ्चानां त्रिविण्णोदानां, घस्त्रामायुष्यायाम् इष्टकानाम्, अभिरूदयेष्टकायाः, सप्तानाम् ऋतव्यानाच्च इष्टकानामुपधानम् ... | ८२-८३ |
| १२ | ... अन्त्रमेधविधानम् | ८३-८४ |

प्रपाठकः ४ ।

| | | |
|---|--------|----------|
| | | पृष्ठे । |
| १—१२ अनुवाकः—चितिसंस्कारः | | ८६-१११ |
| १ अनुवाकः .. इन्द्रतनु-यज्ञतनु-गच्छचेष्टकानामुपधानम् | | ८६-६० |
| २ ,, ... ऋतयेष्टकोपधानादि, साहस्रवता मन्त्रेण | | |
| प्रोक्ष्यच्च | ६०-६२ | |
| ३ ,, ... शतरुद्रोयज्ञोमः | | ६२-६३ |
| ४ ,, ... अग्निपरिषेचनविकर्षणे | | ६३-६५ |
| ५ ,, ... व्याधारणम्, वैश्वकर्म्मसूक्ताभ्यामाहुतिश्च | | ६५-६७ |
| ६ ,, ... समिदाधानाभिप्रणयने, अग्निचयनाङ्गस्य | | |
| दशर्चस्य पञ्चर्चस्य वा अप्रतिरथसूक्तस्य | | |
| विनियोगः | | ६७-६८ |
| ७ ,, ... वज्रिस्थापनम् | | ६८-१०२ |
| ८ ,, ... वसोर्धाराहोमविधानम् | | १०२-१०४ |
| ९ ,, ... वाजप्रसवीयहोमविधानम् | | १०४-१०५ |
| १० ,, ... वज्रियोगमन्त्रविनियोगः, पुनस्त्रितिविधानञ्च | | १०६-१०८ |
| ११ ,, ... कान्यचयनानां विहयेष्टकोपधानस्य च वि- | | |
| धानम् | | १०८-१०९ |
| १२ ,, ... अश्वमेधीय-वह्निव्यवमानस्तोत्रादौ ऋक्स्तोम- | | |
| सामविशेषाणामभिधानम् | | ११०-१११ |

प्रपाठकाः ५—७ ।

अग्निचितेः शिष्टाङ्गविषयकम् औपानुवाक्यम्

उत्तरं काण्डम् ।

प्रपाठकः ५ ।

१—२४ अनुवाकः—औपानुवाक्यगतमन्त्रविशेषाद्युक्तिः ११७-१६६

पृष्ठे ।

| | | |
|---|--------|---------|
| १ अनुवाकः...त्रिहविर्दोक्षणीयेष्टिकथनम्... | ... | ११७-११९ |
| २ ,, ... अग्निचयनविधिः, तत्पञ्चकथनम्, उखाभि- धारणस्य विधिश्च | | १२७-१३० |
| ३ ,, ... उखाहोम-पुरुषशीर्षोपधान-वामभृदिष्टको- पधानविधानानि | | १३६-१३७ |
| ४ ,, ... रेतःसिग्धोम-चिर्विस्पर्शविधानम् | ... | १४१-१४३ |
| ५ ,, ... द्विरण्येष्टका-स्यमाद्विष्टकोपधानविधानम् | ... | १४८-१४९ |
| ६ ,, ... अङ्गां-रूपाभिधेयानामिष्टकानामुक्तिः, तासां लोकंष्टयायाश्चार्थवादौ | | १५३-१५४ |
| ७ ,, ... एकयूपदिविधयः | | १५८-१५९ |
| ८ ,, ... गायत्रिसामादिना उपस्थानादिविधिः, आत्मे- ष्टकोपधानविधिश्च | | १६४-१६६ |
| ९ ,, ... पञ्चाव्याहृति-जप-चरूपधान-प्रोक्षणाणि | ... | १७०-१७१ |
| १० ,, ... षट्सपाहृति-षड्महाहोमाभिमोक्षविधयः | ... | १७५-१७७ |
| ११—२४ अनुवाकाः—अश्वमेधाङ्गपशुसङ्गविषयाः | ... | १८४-१९७ |
| ११ अनुवाकः...एकादशिनी नाम प्रथमो वन्यपशुसङ्गः... | ... | १८४ |
| १२ ,, ... दशिनी नाम द्वितीयो वन्यपशुसङ्गः | ... | १८५ |
| १३ ,, ... तृतीयो वन्यपशुसङ्गः | | १८६ |
| १४ ,, ... चतुर्थो वन्यपशुसङ्गः | | १८७ |
| १५ ,, ... पञ्चमो वन्यपशुसङ्गः | | १८८ |
| १६ ,, ... षष्ठो वन्यपशुसङ्गः | | १८९ |
| १७—१८, ... सप्तमो वन्यपशुसङ्गः... | | १९० |
| १८ ,, ... अष्टमो वन्यपशुसङ्गः | | १९१ |
| १९ ,, ... नवमो वन्यपशुसङ्गः | | १९२ |
| २० ,, ... दशमो वन्यपशुसङ्गः | | १९३ |

| | | | |
|----|--------------------------------|-----|----------|
| | | | पृष्ठे । |
| २१ | अनुवाकः...एकादशो वन्यपशुसङ्घः | ... | १८२ |
| २२ | ” ... प्रथमो ग्रास्यपशुसङ्घः | ... | १८३ |
| २३ | ” ... द्वितीयो ग्रास्यपशुसङ्घः | ... | १८५ |
| २४ | ” ... तृतीयो ग्रास्यपशुसङ्घः | ... | १८६ |

प्रपाठकः ६ ।

१—२३ अनुवाकाः,—अग्निविधेरुत्तरं काण्डं, १—१०, अथ-

| | | | | |
|----|---|-----|-----|---------|
| | मेघपशवः ११—२३ | ... | ... | २००-२७५ |
| १ | अनुवाकः—कुम्भेष्टकाभिर्मन्त्राणां स्त्रयोदश मन्त्राः | ... | ... | २००-२०१ |
| २ | ” कुम्भेष्टकोपधान-चरूपधानयोर्विधिः | ... | ... | २०८-२०९ |
| ३ | ” भूतेष्टकाभिमेक-चयनाङ्गसौम्ययोर्विधिः | ... | ... | २१५-२१७ |
| ४ | ” दमस्तम्भे होमविधानादि | ... | ... | २२३-२२४ |
| ५ | ” आग्नेयाष्टाकपाशाद्यभिजिदङ्गहविःपञ्चक- विधानं | ... | ... | २२९-२३० |
| ६ | ” जज्ञाजिनोपानसप्रतिमोचनविध्यादेः प्रशंसा | ... | ... | २३३-२३५ |
| ७ | ” दीक्षाकान्तिकल्पः | ... | ... | २४०-२४१ |
| ८ | ” अग्नारोहणादिविधयः | ... | ... | २४४-२४६ |
| ९ | ” आसन्धुद्यास्मोखाद्युपधानादिप्रशंसोपधान- काटविधयः | ... | ... | २५३-२५४ |
| १० | ” अग्निचयनप्रशंसा | ... | ... | २५८-२५९ |

| ११ अनुवाकः | अथमेधाङ्गानाम् | अष्टादशिकाङ्गाम् | अष्टादशानां | यशूनां | प्रथमः | सङ्गतः | पृष्ठे । |
|------------|----------------|------------------|-------------|--------|----------|--------|----------|
| १२ | " | " | " | " | द्वितीयः | " | २६२ |
| १३ | " | " | " | " | द्वितीयः | " | २६३ |
| १४ | " | " | " | " | चतुर्थः | " | २६४ |
| १५ | " | " | " | " | पञ्चमः | " | २६५-२६६ |
| १६ | " | " | " | " | षष्ठः | " | २६७ |
| १७ | " | " | " | " | सप्तमः | " | २६७-२६८ |
| १८ | " | " | " | " | अष्टमः | " | २६८-२६९ |
| १९ | " | " | " | " | नवमः | " | २६९ |
| २० | " | " | " | " | दशमः | " | २७० |
| २१ | " | " | " | " | ... | " | २७१ |
| २२ | " | " | " | " | ... | " | २७२ |
| २३ | " | " | " | " | ... | " | २७३ |
| | " | " | " | " | ... | " | २७४-२७५ |

पञ्चदशरूपाः इन्द्रियः पञ्चवः

द्वितीयदिनप्रातरात्मन्या एकादश पञ्चवः

चतुष्षण्डवः ...

प्रपाठकः ७ ।

पृष्ठे ।

| | |
|---|---------|
| १—२६ अनुवाकः—अभिकाण्डम्, १—१०, अश्वमेधाङ्ग- | |
| मन्त्राः ११—२६ | २७७-३५४ |
| १ अनुवाकः गायत्र्यादिपञ्चमन्त्रैः पञ्चचितिस्पर्शादिकं ... | २७७-२७८ |
| २ „ ... ऋषभेष्टकोपधानादि | २८२-२८४ |
| ३ „ ... वक्षिणी-चित्रिणीष्टकोपधान-वसुधारा- प्रशंसादि | २८१-२८२ |
| ४ „ ... अदाभ्यादीनां तिसृणामाहुतीनां राष्ट्रभृता- न्वेष्टकाणां विधिः | २८८-३८९ |
| ५ „ ... पुनः परीन्धन-होमविशेष-पञ्चचितिप्रशंसादि | ३०५-३०६ |
| ६ „ ... व्रताचरण-हिरण्येष्टकोपधान-सगाङ्गाभि- प्रशंसादि | ३१२-३१३ |
| ७ „ ... दश आकूत्याहुतिमन्त्राः | ३१९-३२० |
| ८ „ ... स्वयंचितिमन्त्रेण क्षत्राभिमर्शणं, कूर्मोपधा- नादि च | ३२४-३२५ |
| ९ „ ... अभिमयह्वयं, चयनप्रशंसा, हिरण्येष्टकाभिः सर्वतोमुखस्याग्नेरुपधानं दिशि दिक्प्रोता- भिधानञ्च | ३२९-३३० |
| १० „ ... पशुशीर्षाणां प्रशंसा विशेषविधानञ्च ... | ३३४ ३३५ |

| अनुवाकः ... | अथस्य | दंष्ट्रादिभिः | षष्ठैः | स्त्रेगादीनां | देवतानां | होमार्थाः सन्ताः | ... | पृष्ठ । |
|-------------|-------|---------------------------|--------|------------------|----------|------------------|-----|---------|
| ११ | " | हन्वादिभिः | " | वाजादीनां | " | " | ... | ३३७ |
| १२ | " | शष्पादिभिः | " | शूर्मादीनां | " | " | ... | ३३८ |
| १३ | " | कक्षादिभिः | " | योक्तादीनां | " | " | ... | ३४१ |
| १४ | " | जघनमांसादिभिः | " | मित्रावरुणादीनां | " | " | ... | ३४२ |
| १५ | " | गलभागादिभिः | " | इन्द्रादीनां | " | " | ... | ३४३ |
| १६ | " | प्रौढान्वादिभिः | " | पृषादीनां | " | " | ... | ३४४ |
| १७ | " | ग्रीवादिभिः | " | बोजबादीनां | " | " | ... | ३४५ |
| १८ | " | गुह्येन्द्रियादिभिः | " | खान्दादीनां | " | " | ... | ३४६ |
| १९ | " | मांसादिभिः | " | बह्वरादीनां | " | " | ... | ३४७ |
| २० | " | दक्षिणपक्ष्यादिभिः | " | अग्रादीनां | " | " | ... | ३४८ |
| २१ | " | उत्तरपक्ष्यादिभिः | " | वाखादीनां | " | " | ... | ३४९ |
| २२ | " | बनूष्यादिभिः | " | पण्यादीनां | " | " | ... | ३५० |
| २३ | " | अथं प्रति प्रार्थनमन्त्रः | " | ... | ... | ... | ... | ३५१ |
| २४ | " | अथानुमन्त्रणमन्त्रः | " | ... | ... | ... | ... | ३५२ |
| २५ | " | अथस्योदकावाधनमन्त्रः | " | ... | ... | ... | ... | ३५३ |
| २६ | " | | " | ... | ... | ... | ... | ३५४ |

INDEX

TO THE

FIFTH KANDA

OF

THE TAITTIRIYA-SANHITA.

AGNICHAYANA BRĀHMANAM

PRAPĀTHAKA 1-7.

PRAPĀTHAKA 1.

| | <i>Pages</i> |
|---|--------------|
| 1—11 Anuvākas—Ukhyagnibrāhmanam... | 1—25 |
| 1 Anuvāka—Sāvitrīyābutih, abhryādānancha ... | 1—2 |
| 2 „ Mridākrāntih ... | 4—6 |
| 3 „ Mritkhananam udarimukhatvena aś- vasya nirḡamanam udakasechan- ancha ... | 6—8 |
| 4 „ Mritkhananam, pushkaraparṇe mri- dah sambharanam, krishnajine mridah sthāpanancha ... | 8—10 |
| 5 „ Jalakshepanādīpūrvakam yajñabhū- mau mridāharanam ... | 10—13 |
| 6 „ Ukhānirmāṇam ... | 14—15 |
| 7 „ Ukhāsanskārah ... | 15—17 |
| 8 „ Paśuśīrshasampādanādi ... | 17—19 |
| 9 „ Dikshāsanskārah, ukhāpratāpanādi- cha ... | 20—21 |
| 10 „ Ukhyāgnau samidhādhanādi ... | 22—23 |
| 1 „ Ekādaśaśvasya apriyagjehah ... | 24—25 |

PRAPĀTHAKA 2.

| | | | |
|------|---|--------|-------|
| 1—12 | Anuvākas—Chityupakramabrāhmaṇam | ... | 32—61 |
| 1 | Anuvāka—Āsandhyām ukhyāgnisthāpanam, bātsapreṇa upasthānancha | ... | 32—34 |
| 2 | „ Ukhyasya agneś-chayanapradeśam prati nayanam | | 36—37 |
| 3 | „ Gārhapatyāgne-schayanam | ... | 38—40 |
| 4 | „ Gārhapatyāgnau ukhyāgnisannibāpah | ... | 40—41 |
| 5 | „ Agnichayanabhūmel karshaṇam | ... | 42—44 |
| 6 | „ Sikatādibāpah | | 44—46 |
| 7 | „ Pushkaraparṇe rukmādyupadhānam | ... | 46—48 |
| 8 | „ Svayamātriṇṇeshṭakopadhānam | ... | 48—51 |
| 9 | „ Ukhādyupadhānam | | 51—53 |
| 10 | „ Prathamachitau apasyā-praṇabhrid- apānabhridishṭakopadhānam | | 53—55 |
| 11 | „ Saubarnasūchivih āsvasya asichehhe- dyeshu sthāneshu rekhākaraṇa- mantrāh | | 56 |
| 12 | „ Asvasya tachchhedanamantṛāh | ... | 60—61 |

PRAPĀTHAKA 3.

| | | | |
|------|---|--------|-------|
| 1—12 | Anuvākas—Chitichatusṭṭayāśvamedhavidhāna- brāhmaṇam | | 64—84 |
| 1 | Anuvāka—Dvitiyachitau āsvinūām, ritabyānām, prāṇabhritām, apasyānām, baya- syānāncha ishṭakānām-upadhānam | ... | 64—66 |
| 2 | „ Tritiyachitau svayamātriṇṇāyāh, pañchānām diśyānām, dasānām prāṇabhritām, shaḍbinsatām bri- hatinām, saptānām bālakhilyā- nāmcha ishṭakānām upadhānam | ... | 66—68 |
| 3 | „ Chaturthachitau akshapayāstomiyā- nām ishṭakānām-upadhānam | ... | 68—70 |
| 4 | „ Chaturthachitau srisṭiṇām byusṭi- nāncha ishṭakānām upadhānam... | ... | 70—73 |

| | | Pages |
|----|--|-------|
| 5 | Anuváka—Panchamachitau asapatnánám bira-jáncha ishṭakánámupadhánam ... | 73—75 |
| 6 | „ Panchamachitau stomabhágánám ishṭakánámupadhánam ... | 75—76 |
| 7 | „ Panchamachitau panchánám náka-sadám, panchánám choḍánám svayamátripñáyáḥ bikarñyáscha ishṭakáyáḥ upadhánam ... | 76—78 |
| 8 | „ Panchamachitau chhandasámishṭa-kánám upadhánam ... | 78—79 |
| 9 | „ Ashtánám sayujámishtakánám, tisṛínám mandaleshtakánám, tisṛínám biśvajyotishám ishṭakánácha upadhánam ... | 79—80 |
| 10 | „ „ Panchánám bṛishṭisanínám, ashtánám samyánínám, ashtánám-áditýánám ishṭakánám, panchánám ghriteshṭakánám, panchánám yaśodánám-mishṭakánám upadhánam ... | 80—82 |
| 11 | „ „ Panchánám bhúyaskṛitám, panchánám agnirúpánám, panchánám dravinodánám, shaṇṇám áyushyánám ishṭakánám, agnihṛidaye-shṭakáyáḥ, saptánám ritabyánáncha ishṭakánám upadhánam ... | 82—83 |
| 12 | „ „ Áśvamedhavidhánam ... | 83—84 |

PRAPÁTHAKA 4.

| | | |
|------|--|--------|
| 1—12 | Anuvákas—Chitisanskárah ... | 89—111 |
| 1 | Anuváka—Indratanu-yajñatanu-nakshatreshṭa-kánámupadhánam ... | 89—90 |
| 2 | „ Ritabyeshṭakopadhánádi, śahasrabatá mantreṇa prokṣhaṇamcha ... | 90—92 |
| 3 | „ Satarudríyahomah ... | 92—93 |
| 4 | „ „ Agnipariśhechana-bikarshaṇe ... | 94—95 |

| | | <i>Pages</i> |
|----|--|--------------|
| 5 | Anuváka—Byágháraṇam baiśyakarma-súktá- bhyám-áhutischa | 95—97 |
| 6 | „ Sabhiidádhanágni-praṇayne agnichayan- ángasya daśarchasya pancharchasya bá apratirathasúktasya viniyogah ... | 97—99 |
| 7 | „ Vahnisthápanam | 99—102 |
| 8 | „ Basordháráhomavidhánam | 102—104 |
| 9 | „ Bájaprasábiyahomavidhánam | 104—105 |
| 10 | „ Vahniiyogamantraviniyogah, punaś- chitividhánanacha | 106—108 |
| 11 | „ Kámyachayanánám bihabyeshṭako- padhánasya cha vidhánam | 108—109 |
| 12 | „ Asvamedhiya-bahishpabamánastotrá- dau ṛikstomasúnaviśeshánámabhi- dhánam | 110—111 |

PRAPÁTHAKAS 5—7.

Agnichitah śishtángavishayakam aupá-
nuvákyaṃ uttaram káṇḍam.

PRAPÁTHAKA 5.

| | | |
|------|--|---------|
| 1—24 | Anuvákas—Aupanuvákyagata-mantraviśeshad- yuktiḥ | 117—196 |
| 1 | Anuváka—Trihabirdíksanīyeshṭikathanam ... | 117—119 |
| 2 | „ Agnichayanavidhiḥ, tatphalakatha- nam, ukhyágnidháranasya vidhiścha ... | 127—130 |
| 3 | „ Ukháhoma-purushaśírshopadhána-bá- mabhidrishtakopadhánavidhánáni ... | 136—137 |
| 4 | „ Retah sigghomachitisparśavidhánam ... | 141—143 |
| 5 | „ Hiranyeshṭaká-svayamátriṇṇeshṭako- padhánavidhánam | 148—149 |
| 6 | „ Ahnám rúpábhidheyánámishṭakáná- muktib, tásám lokamprináyás- , chárthabádau | 153—154 |

| | | <i>Pages</i> |
|-------|--|--------------|
| 7 | Anuváka—Ekayúpádividhayah ... | 153—159 |
| 8 | „ Gáyatrasámádiná upasthánádividhih, átmeshtakopadhánavidhiścha ... | 164—166 |
| 9 | „ Panchájyáhuti-japa-charúpadhána- prokshaṇani ... | 170—171 |
| 10 | „ Shatsarpáhuti-shaḍmaháhomágni- mokshavidhayah ... | 175—177 |
| 11—24 | Anuvákas—Aśvamedhánga-paśusanghabishayáh | 184—199 |
| 11 | Anuváka—Ekádaśinínána prathamó banya- paśusanghah ... | 184 |
| 12 | „ Daśiní náma dvitíyo banyapaśu- sanghah ... | 185 |
| 13 | „ Tritíyo banyapaśusanghah ... | 186 |
| 14 | „ Chaturtho „ ... | 187 |
| 15 | „ Panchamo „ ... | 188 |
| 16 | „ Shashṭo „ ... | 189 |
| 17 | „ Saptamo „ ... | 190 |
| 18 | „ Ashtamo „ ... | 191 |
| 19 | „ Navamo „ ... | 192 |
| 20 | „ Daśamo „ ... | 193 |
| 21 | „ Ekádaśo „ ... | 193 |
| 22 | „ Prathamó grámyapaśusanghah ... | 194 |
| 23 | „ Dvitíyo „ ... | 195 |
| 24 | „ Tritíyo „ ... | 196—197 |

ΠΡΑΡΤΗΡΙΑΚΑ 6.

| | | |
|------|---|---------|
| 1—23 | Anuvákas—Agnibidhe-ruttaram káṇḍam—1,—10 ; Aśvamedhapasabah—11—23. ... | 200—275 |
| 1 | Anuváka—Kumbheshṭakábhimantranárthás-tráyodaśa- mantráhi ... | 200—201 |
| 2 | „ Kumbheshṭakopadhána-charúpadhánayor- vidhih ... | 208—209 |
| 3 | „ Bhúteshtakávisheka-chayanánga-sautsáyani- vidhih ... | 215—217 |
| 4 | „ Darbhastambhe homabidhánádi ... | 223—224 |

| | | <i>Pages</i> |
|----|--|--------------|
| 5 | Anuvāka—Āgneyāśhṭākāpālādyabhiijidanga-habihpan-chakabidhanam | 229—230 |
| 6 | „ Krishnājinopānat-pratimochana-bidhyādeh prasāmsā | 233—235 |
| 7 | „ Dīkshākālabikalpah | 240—241 |
| 8 | „ Anvárohanādidibidhayah | 244—246 |
| 9 | „ Asandyudyāmokhādyupadhānādi prasāmsopadhānakartribidhayah | 253—254 |
| 10 | „ Agnichayana-prasāmsā | 258—259 |
| 11 | „ Asvamedhāngānām ashtādaśināmnām ashtādaśinām paśūnām prathamah sanghātah | 262 |
| 12 | „ „ „ „ dvitīyah „ | 263 |
| 13 | „ „ „ „ tritīyah „ | 264 |
| 14 | „ „ „ „ chaturthah „ | 265—266 |
| 15 | „ „ „ „ panchamah „ | 267 |
| 16 | „ „ „ „ shashtthah „ | 267—268 |
| 17 | „ „ „ „ saptamah „ | 268—269 |
| 18 | „ „ „ „ ashtamah „ | 269 |
| 19 | „ „ „ „ navamah „ | 270 |
| 20 | „ „ „ „ daśamah „ | 271 |
| 21 | „ „ Pasūdvyarūpāh dvandvinah paśavah | 272 |
| 22 | „ „ Tritīyadinaprūtārūlabhyā ekādaśa paśavah | 273 |
| 23 | „ „ Ritupaśavah | 274—275 |

PRAPĀTHAKA 7.

1—26 Anuvākas—Āgnikāṇḍam—1—10.

| | | |
|---|---|---------|
| | Asvamedhāngamantrāh—11—26 ... | 277—354 |
| 1 | Anuvāka—Gāyatryādipanchamantraih paśuchiti-sparśadikam | 277—278 |
| 2 | „ Rishabheshtakopadhānādi | 282—284 |
| 3 | „ Bajrinī-chitrīṣhṭakopadhāna-basudhārāprasāmsādi | 291—292 |
| 4 | „ Adābhyādīnam tisrīṇām-āhutīnam rāsh-trabhrīṭameśhṭakānām vidhih ... | 298—299 |

| | | | |
|----|---------------|---|---------|
| 5 | Anuváka—Punah | paríndhanahomaviśeśha-pancha- | |
| | | chitipraśamsádi ... | 305—306 |
| 6 | „ | Bratácharaṇa-hiraṇyeshatakopadhána-rugá- | |
| | | hutyagni-praśamsadi ... | 312—313 |
| 7 | „ | Daśa ákútyáhutimantráh ... | 319—320 |
| 8 | „ | Svayam chitimantreṇa kṣhetrábhimarsaṇam, | |
| | | kúrmopadhánádi cha ... | 324—325 |
| 9 | „ | Agnigrahaṇam, chayanapraśamsá, hiraṇyesh- | |
| | | takábhih sarbatomukhasyágne-rupadhá- | |
| | | nam diśi dikprotábhidhánamcha ... | 329—330 |
| 10 | „ | Paśuśírshánám praśamsa viśeshavidhánamcha | 334—335 |
| 11 | „ | Aśvasya danshtrádibhih aṅgaih stegádínám | |
| | | devatánám homártháh mantráh | 337 |
| 12 | „ | „ hanvádibhih aṅgaih bújádínám | |
| | | devatánám homártháh mantráh | 339 |
| 13 | „ | „ śaphádibhih aṅgaih kúrnádínám | |
| | | devatánám homártháh mantráh | 341 |
| 14 | „ | „ kakshádibhih aṅgaih yoktrádínám | |
| | | devatánám homártháh mantráh | 342 |
| 15 | „ | „ jaghanamáusádibhih aṅgaih mitrá- | |
| | | varuṇádínám devatánám hom- | |
| | | ártháh mantráh ... | 343 |
| 16 | „ | „ galabhágádibhih aṅgaih indrádínám | |
| | | devatánám homártháh mantráh | 344 |
| 17 | „ | „ prauḍhántradibhih aṅgaih púshádi- | |
| | | nám devatánám homártháh | |
| | | mantráh ... | 345 |
| 18 | „ | „ gríbádibhih aṅgaih oja-ádínám | |
| | | devatánám homártháh mantráh | 346 |
| 19 | „ | „ guhyendriyádibhih aṅgaih ánandádi- | |
| | | nám devatánám homártháh | |
| | | mantráh ... | 347 |
| 20 | „ | „ mánśádibhih aṅgaih abarádínám | |
| | | devatánám homártháh mantráh | 348 |
| 21 | „ | „ dakshipapakshatyádibhih aṅgaih | |
| | | agnyádínám devatánám ho- | |
| | | mártháh mantráh ... | 349 |

| | <i>Page</i> |
|--|-------------|
| 22 Anuvāka—Aśvasya uttarapakshatyādibhiḥ āṅgaih vāshvādínām devatánām hom- áartháh mantráh | 350 |
| 23 „ „ anúbṛigádibhiḥ āṅgaih pathyádí- nām devatánām homáartháh mantráh | 351 |
| 24 „ Asvam prati prárthanamantrah | 352 |
| 25 „ Asvānumantrāṇāmantrah | 353 |
| 26 „ Asvasyodakábaghrāpanamantrah | 354 |

॥०॥ श्रीगणेशाय नमः ॥०॥

तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये

पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।

हरिः ओम् ।

सावि॒त्राणि॑ जु॒होति॑ प्र॒सूत्यै॑ चतु॒र्यु॒हीतेन॑ जु॒होति॑
चतु॒ष्पादः॑ प॒शवः॑ प॒शूने॒वावरु॑न्धे चत॒स्रो दि॒शो दि॒क्ष्वेव॑
प्रति॑ तिष्ठति॒ छन्दा॑सि॒ देवेभ्यो॑ऽपा॒क्रामन्॑ न वो
भा॒गानि॑ ह॒व्यं व॑क्षाम॒ इति॑ तेभ्य॒ एतच्च॑तु॒र्यु॒हीतम॑धारयन्
पुरोऽनु॒वाक्या॑यै याज्या॑यै दे॒वता॑यै वषट्काराय॒ यच्चतु॑
र्यु॒हीतं॑ जु॒होति॑ छन्दा॑स्येव तत् प्री॒णाति॑ तान्य॒स्थ
प्री॒तानि॑ दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यं व॑हन्ति॒ यं का॑मयेत ॥ १ ॥

पापी॑यान्त्स्यादित्येकैकं॑ तस्य॑ जुहुयादाहु॑तीभिरे॒
वैन॑मप॒ गृह्णा॑ति पापी॑यान् भवति॒ यं का॑मयेत॒ वसी॑या॒
न्त्स्या॑दिति॒ सर्वा॑णि तस्या॒नुद्रु॑त्य जुहुयादाहु॑त्यैवैन॑मभि॒
क्राम॑यति॒ वसी॑यान् भवत्यर्थो॑ य॒ज्ञस्यै॑वैवाभिक्रान्तिरेति॑

वै एष यज्ञमुखादध्याः योऽग्नेर्देवताया एत्यष्टावेतानि
सावित्राणि भवन्ति अष्टाक्षरा गायत्री गायत्रः ॥ २ ॥

अग्निस्तेनैव यज्ञमुखादध्या अग्नेर्देवतायै नैत्यष्टौ
सावित्राणि भवन्ति आहुतिर्नवमी चिह्नमेव यज्ञमुखे
वि यातयति यदि कामयेत् छन्दांसि यज्ञयज्ञसेनार्प-
येयमित्यूचमन्तुमां कुर्याच्छन्दांस्येव यज्ञयज्ञसेनार्प-
यति यदि कामयेत् यजमानं यज्ञयज्ञसेनार्पयेयमिति
यजुरन्तमं कुर्याद्यजमानमेव यज्ञयज्ञसेनार्पयत्युचा-
स्तोमः समर्द्धयेति ॥ ३ ॥

आह समर्द्धौ चतुर्भिर्भ्रिमा दत्ते चत्वारि छन्दांसि
छन्देभिरेव देवस्य त्वा सवितुः प्रसव इत्याह प्रसृत्यै
अग्निर्देवेभ्यो निलायत् स वेणुं प्राविशत् स एतामूति-
मनु समचरद् यद्वेणोः सुषिरः सुषिराऽग्निर्भवति स-
त्रेनित्वाय स यत्रयचावसत् तत्कृष्णमभवत् कल्माषी
भवति रूपसमर्द्धौ उभयतः क्षणूभवतीतश्च, अमुतश्चार्क-
स्यावरुध्यै व्याममाची भवत्येतावद्वै पुरुषे वीर्यं वीर्य-
सम्पिताऽपरिमिता भवत्यपरिमितस्यावरुध्यै यो वन-
स्पतीनां फलग्रहिः स एषां वीर्यावान् फलग्रहिवेणु-
र्वैणुवी भवति वीर्यस्यावरुध्यै* ॥ ४ ॥

* अस्य व्याख्यानं अतुर्षकायङ्-प्रथमप्रपाठक-प्रथमानुवाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

क्रामयेत् । गायत्रः । अर्ह्येति । च । सप्तविंशतिश्च ॥
॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके
प्रथमेऽनुवाकः ॥ * ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निश्चितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ •
चतुर्थकाण्डे चित्तर्यमन्त्राः सर्वत्र वर्णिताः ।
ब्राह्मणं पञ्चमे काण्डे, तत्र सप्त प्रपाठकाः ॥
मन्त्रव्याख्या चतुर्थादौ, शिष्टमौपानुवाक्यगम् ।
एकादशानुवाका स्युराद्येऽर्थास्त्रैवमीरिताः ॥
सावित्राज्जतिरभ्रेश्च स्त्रीकारः प्रथमे भवेत् ।
द्वितीये मृतखनं गच्छन्नश्वेनाक्रामयेद्भुवम् ॥
तृतीये त्वत्क्रमय्याश्वं* भूसंस्कारो जलादिभिः ।
चतुर्थे तु मृदं खाला सन्नरेचर्मपत्रयोः ॥
पञ्चमे सम्भृतामेतां यज्ञभूमौ समाहरेत् ।
षष्ठे त्रखां निर्मिमीत, सप्तमे संस्करोति ताम् ॥
अष्टमे पशवो वज्रेरुख्यस्य नवमे जनिः ।

* 'मृत्क्रमय्याश्वम्' इति सार्वचिकः पाठो न सम्यगिव प्रतिभाति ।

उत्थं दधीत दध्ने, स्वादन्धस्याश्वमेधिकः* ॥

अथेतुमनुवाकोऽच प्रोक्तः, उत्कथ्यतां ततः ।

‘समिद्धः’ इत्येवमाद्या अश्वस्याप्रिय ईरिताः ॥

आप्रियः स्युः प्रयाजानां याज्या एकादशाच ताः ।

अश्वमेधाख्यकाण्डे ताः विनियुक्ता स्फुटं श्रुतम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छण्यजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥०॥

व्यूहं वा एतद्यज्ञस्य यदयजुष्केण क्रियते “इमाम-
गृभणन् रशनामृतस्येत्वाभिधानीमादत्ते” यजुष्कृत्यै
यज्ञस्य समृद्धौ प्रतूर्त्तं वाजिन्ना द्रवेत्वाश्वमभि दधाति
रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे युञ्जाथाः रासभं
युवमिति गदुभमसत्येव गर्दभं प्रति षापयति तस्माद्-
श्वाङ्गर्दभो सत्तरो योगेयोगे तवस्तरमित्याह ॥१॥

योगेयोग एवैनं युक्ते वाजेवाजे हवामह इत्याहानं
वै वाजोऽन्नमेवाव रुन्धे सखाय इन्द्रमूतय इत्याहेन्द्रिय-
मेवाव रुन्धेऽग्निर्देवेभ्यो निलायत तं प्रजापतिरन्वविन्दत्
प्रजापत्योऽश्वोऽश्वेन सम्भरत्यनुवित्यै पापवस्यसं वा
एतत् क्रियते यच्छ्रेयसा च पापीयसा च समानं कर्म
कुर्वन्ति पापीयान् ॥ २ ॥

† ‘स्वादन्धस्याश्वमेधिकाः’ इति अनेकेषु पाठो न संलगतिः ।

ह्यश्वार्जुर्दभोऽश्वं पूर्वं नयन्ति पापवस्यसस्य व्यावृत्त्यै
तस्माच्छ्रेयांसं पापीयान् पश्चादन्वेति बहुर्वै भवतो
भ्रातृव्यो भवतीव खलु वा एष योऽग्निं चिनुते वज्रश्वः
प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्तीरित्याहः वज्रैर्गैव पाप्मानं
भ्रातृव्यमव क्रामति रुद्रस्य गाणपत्यादित्याह रौद्रा वै
पशवो रुद्रादेव ॥ ३ ॥

पशून्धिर्याच्यात्मने कर्म कुरुते पष्णा स्युजा सहे-
त्याह पूषा वा अध्वनाऽसन्नेता समष्ट्यै पुरीषायतनो
वा एष यदग्निरङ्गिरसो वा एतमग्रं देवमानाऽसम-
भरन् पृथिव्याऽसधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेही-
त्याह सायतनमेवैनं देवताभिः सम्भरत्यग्निं पुरीष्य-
मङ्गिरस्वदच्छेम इत्याह येन ॥ ४ ॥

सङ्गच्छते वाजमेवास्य वृङ्क्ते प्रजापतये प्रति-
प्रोच्याग्निः सम्भृत्य इत्याहुरीयं वै प्रजापतिस्तस्या
एतच्छेवं यद्वल्मीकोऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्वरिष्याम
इति वल्मीकवपामुप तिष्ठते साक्षादेव प्रजापतये प्रति-
प्रोच्याग्निऽसम्भरत्यग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्वराम इत्याह
येन सङ्गच्छते वाजमेवास्य वृङ्क्तेऽग्निरुषसामग्रं ॥
॥ ५ ॥

अस्यदित्याहानुस्थात्या आगत्य वाज्यध्वन आत्रस्य

वाजिन् पृथिवीमित्याहेच्छत्येवैनं पूर्वया विन्दत्युत्तरया
 द्वाभ्यामाक्रमयति प्रतिष्ठित्या अनुरूपाभ्यां तस्मादनुरूपाः
 पशवः प्रजायन्ते द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थ-
 मीत्याह एभ्यो वा एतं लोकेभ्यः प्रजापतिः समैरयत्
 रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे वज्री वै, एष यदश्वा
 दुद्भिरन्यतोदङ्गो भूयाल्लोमभिरुभयादङ्गो यं द्विधा-
 त्तमधस्पदं ध्यायेद्वज्रैर्णैवैनं स्तृणुते* ॥ ६ ॥

आह । पापीयान् । रुद्रादेव । येन । अग्रं । वज्री
 वै । सप्तदश च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके
 द्वितीयोऽनुवाकः ॥०॥

उत्क्रामोदक्रमीदिति द्वाभ्यामुत्क्रमयति प्रतिष्ठित्या
 अनुरूपाभ्यां तस्मादनुरूपाः पशवः प्रजायन्तेऽप उप
 सृजति यच्च वा आप उपगच्छन्ति तदोषधयः प्रति
 तिष्ठन्त्योषधीः प्रतितिष्ठन्तीः पशवोऽनु प्रति तिष्ठन्ति
 पशून् यज्ञो यज्ञं यजमानो यजमानं प्रजास्तस्मादुप
 उप सृजति प्रतिष्ठित्यै यदध्वर्युरनभावाहुतिं जुहु-
 यादन्धोऽध्वर्युः ॥ १ ॥

* अस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्ड-प्रथमप्रपाठक-द्वितीयानुवाकभाष्ये ऋचमम् ।

स्याद्रक्षाः॑सि य॒ज्ञः॑ ह॒न्युर्हि॑र॒ण्यमु॑पास्य जु॒होत्य॑भि-
वत्येव जु॒होति॑ नान्योऽध्व॒र्युर्भव॑ति न य॒ज्ञः॑ रक्षाः॑सि
घ्नन्ति॑ जिघ॒म्यभि॑ मन॒सा घृ॑तेनेत्याह मन॒सा हि॑ पुरु॒षो
य॒ज्ञम॑भिगच्छति॑ प्र॒ति॒क्ष्यन्तं॑ भुव॒नानि॑ वि॒श्वेत्या॑ह
सर्वः॑ ह्येष प्र॒त्यङ् क्षेति॑ पृथुं ति॒रश्चा॑ वयसा वृ॒हन्त॑मि-
त्या॒हाल्पो॑ ह्येष जा॒तो म॒हान् ॥ २ ॥

भव॑ति व्य॒चिष्ट॑मन्नः॑ रभ॒सं वि॑दान॒मित्या॑हान्नमे-
वास्मै॑ स्वदयति॒ सर्व॑मस्मै स्वदते॒ य एवं॑ वेद आ त्वा
जिघ॑मि वच॒सा घृ॑तेनेत्याह तस्माद्यत् पुरु॒षो मन॑साभि
गच्छति॑ तद्वाचा॒ वद॑त्यरक्ष॒सेत्या॑ह रक्ष॒साम॑प॒हत्यै॑
मर्य॑श्रीः स्पृ॒ह्यद्व॑र्णे॒ अभि॑रित्या॒हाप॑चितिमे॒वास्मिन्
दधा॑त्यप॒चिति॑मान् भवति॒ य एवं॑ ॥ ३ ॥

वेद॑ मन॒सा तु *वै॑ तामाप्नु॒मर्हति॑ यामध्व॒र्युर॑न॒ग्ना-
वाहु॑ति जु॒होति॑ मन॒स्वती॑भ्यां जु॒होत्या॑हु॒त्योरा॑प्त्यै द्वाभ्यां
प्रति॑ष्ठित्यै य॒ज्ञमु॑खेय॒ज्ञमु॑खे वै क्रि॒यमा॑णे य॒ज्ञः॑ रक्षाः॑-
सि जिघांस॒न्येत॑र्हि॒ खलु॑ वा ए॒तद्य॑ज्ञ॒मुखं॑ य॒ज्ञेन॑ दा-
हु॒तिर॑श्नुते परि॑ लिखति॒ रक्ष॑साम॒प॒हत्यै॑ ति॒सृभिः॑ परि॑
लिखति॒ त्रिवृ॑दा॒ अभि॑र्यावाने॒वाभि॑स्तस्माद्रक्षाः॑स्यप
हन्ति॑ ॥ ४ ॥

गायत्रिया परि लिखति तेजो वै गायत्री तेजसैवैनं
 परि गृह्णाति चिष्टुभा परि लिखतीन्द्रियं वै चिष्टुगिन्द्रि-
 येणैवैनं परि गृह्णात्यनुष्टुभा परि लिखत्यनुष्टुप् सर्वाणि
 छन्दांसि परिभूः पर्याप्तै मध्यतोऽनुष्टुभा वाग्वा
 अनुष्टुप् तस्मान्मध्यतो वाचा वदामो गायत्रिया
 प्रथमया परि लिखत्यथानुष्टुभाय चिष्टुभा तेजो वै
 गायत्री, यज्ञोऽनुष्टुगिन्द्रियं चिष्टुप् तेजसा चैवेन्द्रियेण
 चोभयतो यज्ञं परि गृह्णाति* ॥ ५ ॥

अन्धोऽध्वर्युः । महान् । भवति य एवं । हन्ति ।
 चिष्टुभा तेजो वै गायत्री । त्रयोदश च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके
 तृतीयोऽनुवाकः ॥०॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसव इति खनति प्रसूत्या अथो
 धूममेवैतेन जनयति ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमि-
 त्याह ज्योतिरेवैतेन जनयति सोऽग्निर्जातः प्रजाः
 शुक्लापयत् तं देवा अर्धर्चेनाशमयन् शिवं प्रजाभ्यो
 ऽहिंसन्तमित्याह प्रजाभ्य एवैनं शमयति द्वाभ्यां
 खनति प्रतिष्ठित्या अपां पृष्ठमसीति पुष्करपर्णमा ॥१॥

* अस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्ड-प्रथमप्रपाठक-द्वितीयानुवाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

हरत्यापां वै एतत् पृष्ठं यत् पुष्करपर्णेः रूपेणैवैन-
नत् आ हरति पुष्करपर्णेन सम्भरति योनिर्वा अग्नेः
पुष्करपर्णेः सयोनिमेवाग्निः सम्भरति कृष्णाजिनेन
सम्भरति यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञेनैव यज्ञः सम्भरति
यद् ग्राम्याणां पशूनां चर्मणा सम्भरेद् ग्राम्यान् पशून्
शुचार्पयेत् कृष्णाजिनेन सम्भरत्यारण्यानेव पशून् ॥२॥

शुचार्पयति तस्मात् समावत् पशूनां प्रजायमानाना-
मारण्याः पशवः कनीयाः सः शुचा ह्यृता लोमतः
सम्भरत्यतो ह्यस्य मेध्यं कृष्णाजिनञ्च पुष्करपर्णञ्च
सः स्तृणाति इयं वै कृष्णाजिनमसौ पुष्करपर्णमाभ्या-
मेवैनमुभयतः परि गृह्णात्यग्निर्देवेभ्यो निलायत् तम-
यर्वान्वपश्यदयर्वा त्वा प्रथमो निरमन्यदग्ने इति ॥३॥

आह य एवैनमन्वपश्यन्ते तेनैवैनः सम्भरति त्वा-
मग्ने पुष्करादधि इत्याह पुष्करपर्णे ह्येनमुपश्रितम-
विन्दुत्तमु त्वा दध्यङ्घ्रिरित्याह दध्यङ्घ्रि वा आयवण-
स्तेजस्व्यासीत् तेज एवास्मिन् दधाति तमु त्वा पाथ्यो
वृषेत्याह पूर्वमेवोदितमुत्तरेणाभि गृणाति ॥ ४ ॥

चतसृभिः सम्भरति चत्वारि छन्दाः सित् छन्दाभिरेव
गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्य गायत्री हि ब्राह्मणस्त्रिष्टुग्भी-
राजन्यस्य चैष्टुभो हि राजन्यो यं कामयेत् वसीया-

नस्यादित्युभयीभिस्तस्य सम्भरेत् तेजश्चैवासौ इन्द्रियं
 च समीचीं दधात्यष्टाभिः सम्भरत्यष्टाक्षरा गायत्री
 गायत्रीऽग्निर्यावानेवाग्निस्तः सम्भरति सीदं होतरिति,
 आह देवता एवासौ सः सादयति नि होतेति
 मनुष्यान्तः सीदुस्वेति वयांसि जनिष्या हि जेन्यो
 अग्रे अह्नामित्याह देवमनुष्यानेवासौ सः सन्नान् प्र
 जनयति ॥ ५ ॥

आ । एव पशून् । इति । गृणाति । होतरिति ।
 सप्तविंशतिश्च ॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके
 चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

क्रूरमिव वै अस्याः एतत् करोति यत् खनत्यप उप-
 सृजत्यापो वै शान्ताः शान्ताभिरेवास्यै शुचः शमयति
 सन्ते वायुर्मातरिश्वा दधात्वित्याह प्राणो वै वायुः
 प्राणेनैवास्यै प्राणाः सन्दधाति सन्ते वायुरित्याह
 तस्माद्वायुप्रच्युता दिवो दृष्टिरीर्त्ते तस्मै च देवि वष-
 डस्तु ॥ १ ॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयप्रथमप्रपाठकस्य द्वितीयानुवाक-
 भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

तुभ्यमित्याह षड्वा कृतव कृतुष्वेव दृष्टिं दधाति
तस्मात् सर्वान् कृतून् वर्षति यद्वषट्कुर्याद् यातयामा
अस्य वषट्कारः स्याद्यन्न वषट्कुर्याद् रक्षाःसि यज्ञः
हन्त्युर्वडित्याह परोक्षमेव वषट्करोति नास्य यातयामा
वषट्कारो भवति न यज्ञः रक्षाःसि घ्नन्ति सुजातो
ज्योतिषा सहेत्यनुष्टुभा उप नह्यत्यनुष्टुप् ॥ २ ॥

सर्वाणि छन्दाःसि छन्दाःसि खलु वा. अग्नेः प्रिया
तनूः प्रिययैवैनं तनुवा परि दधाति वेदुको वासो
भवति य एवं वेद वारुणो वै अग्निरुपनह उदु तिष्ठ
स्वध्वर ऊर्ध्व ऊ पु ण ऊतये इति सावित्रीभ्यामुत्तिष्ठति
सवितृप्रसूत एवास्योर्ध्वा वरुणमेनिमुत्सृजति दाभ्यां
प्रतिष्ठित्यै स जातो गर्भो असि ॥ ३ ॥

रोदस्योरित्याह इमे वै रोदसी तयोरेष गर्भो यत्
अग्निस्तस्मादेवमाह अग्ने चारुर्विभृत औषधिष्वित्याह
यदा ह्येतं वि भरन्ति अथ चारुतरो भवन्ति प्र
मातृभ्यो अधि कृत्तिकदङ्गा इत्याह औषधयो वा अस्य
मातरस्ताभ्य एवैनं प्र च्यवयति स्थिरो भव वीङ्गङ्ग
इति गर्दभ आ सादयति ॥ ४ ॥

सन्नह्यत्येवैनमेतया स्थेन्ने गर्दभेन सं भरति तस्मात्
गर्दभः पशूनां भारभारितमो. गर्दभेन सं भरति तस्मा-

ऋद्भोऽप्यनाहेलेषेऽत्यन्यान् पशून् मैद्यत्यन्ः ह्येने-
नार्कः सं भरन्ति गर्दभेन सं भरति तस्माद् गर्दभो
द्विरेताः सन् कनिष्ठं पशूनां प्रजायतेऽग्निर्ह्यस्य योनिं
निर्दहति प्रजासु वै एष एतर्ह्यारूढः ॥ ५ ॥

स ईश्वरः प्रजाः शुचा प्रदहः शिवो भव प्रजाभ्य
इत्याह प्रजाभ्य एवैनः शमयति मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिर
इत्याह मानव्यो हि प्रजाः मा द्यावापृथिवी अभि
शूशुचो मा अन्तरिक्षः मा वनस्पतीनित्याह एभ्य
एवैनं लोकेभ्यः शमयति प्रेतु वाजी कनिक्रददित्याह
वाजी ह्येष नानदद्रासभः पत्वेति ॥ ६ ॥

आह रासभ इति ह्येतमृषयोऽवदन् भरन्नग्निं
पूरीष्यमित्याह अग्निः ह्येष भरति मा पादि आयुषः
पुरेत्याह आयुरेवास्मिन् दधाति तस्माद्गर्दभः सर्वमायु-
रेति तस्माद्गर्दभे पुरा आयुषः प्रमीते विभ्यति वृषामिं
वृषाणं भरन्नित्याह वृषा ह्येष वृषामिरपां गर्भं ॥
॥ ७ ॥

समुद्रियमित्याह अपाः ह्येष गर्भो यदग्निरग्ने आ
याहि वीतये इति वै इमौ लोकौ वि एतामग्ने आ याहि
वीतये इति यदाहानयौलोकयोर्वीत्यै प्रच्युतो वै एष
आयतनात् अगतः प्रतिष्ठाः स एतर्हि अध्वर्युश्च यज-

मानञ्च ध्यायति कृतं सत्यमित्याह इयं वा कृतमसौ ॥
॥ ८ ॥

सत्यमनयोरेवैनं प्रति षापयति नार्तिमार्च्छत्यध्वर्यु-
र्न यजमानो वरुणो वै एष यजमानमभ्येति यदग्नि-
रूपनङ्क ओषधयः प्रति गृह्णीताग्निमेतमित्याह शान्त्यै
व्यस्यन् विश्वा अमतीररातीरित्याह रक्षसामपहत्यै
निषीदन् नो अप दुर्मतिः हनदित्याह प्रतिष्ठित्यै
ओषधयः प्रति मोदध्वं ॥ ९ ॥

एनमित्याहौषधयो वै अग्नेर्भागधेयः ताभिरेवैनः
समर्द्धयति पुष्पावतीः सुपिप्पला इत्याह तस्मादौषधयः
फलं गृह्णन्त्ययं वो गर्भं कृत्वियः प्रत्नः सधस्यमासदु-
दित्याह याभ्य एवैनं प्र च्यावयति तास्वेवैनं प्रति
षापयति द्वाभ्यामुपावहरति प्रतिष्ठित्यै* ॥ १० ॥

अस्तु । अनुष्टुप् । असि । सादयति । आरूढः ।
पत्वेति । गर्भम् । असौ । मोदध्वम् । द्विचत्वारिंशच्च ॥
॥ ५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके
पञ्चमोऽनुवाकः ॥०॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डोपप्रथमप्रपाठकस्य चतुर्थानुवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

वारुणो वै अग्निरुपनद्धो वि पाजसा इति वि
 स्रस्यति सवितृप्रसूत एवास्य विषूचीं वरुणमेनिं वि
 सृजति अप उपसृजति आपो वै शान्ताः शान्ताभिरे-
 वास्य शुचः शमयति तिसृभिरुपसृजति त्रिष्टुदै अग्नि-
 र्यावानेव अग्निस्तस्य शुचः शमयति मित्रः ससृज्य
 पृथिवीमित्याह मित्रो वै शिवो देवानां तेनैव ॥ १ ॥

एनः सः सृजति शान्त्यै यद् ग्राम्याणां पात्राणां
 कपालैः सः सृजेद् ग्राम्याणि पात्राणि शुचार्पयेद् अर्भ-
 कपालैः सः सृजत्येतानि वै अनुपजीवनीयानि तान्येव
 शुचार्पयति शर्कराभिः सः सृजति धृत्यै अथो शन्वा-
 याजलोमैः सः सृजत्येषा वै अग्नेः प्रिया तनूर्यदुजा
 प्रिययैवैनं तनुवा सः सृजत्यथो तेजसा कृष्णाजिनस्य
 लोमभिः सं ॥ २ ॥

सृजति यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञेनैव यज्ञः सः
 सृजति रुद्राः सम्भृत्य पृथिवीमित्याहैता वै एतं
 देवता अग्ने समभरन् ताभिरेवैनः सम्भरति मखस्य
 शिरोऽसीत्याह यज्ञो वै मखस्तस्य एतच्छिरो यदुखा
 तस्मादेवमाह यज्ञस्य पदे स्थ इत्याह यज्ञस्य ह्येते ॥ ३ ॥

पदे अथो प्रतिष्ठित्यै प्र अन्याभिर्यच्छति अनु अन्थै-
 र्मन्त्रयते मिथुनत्वाय व्युद्धिं करोति चय इमे लोका एषां

लोकानामास्यै छन्दोभिः करोति वीर्यं वै छन्दांसि
 वीर्येणैवैनां करोति यजुषा विसं करोति व्यावृत्त्यै
 द्वयतीं करोति प्रजापतिना यज्ञमुखेन सम्मितां द्वि-
 स्तनां करोति द्यावापृथिव्योर्दोहाय चतुस्तनां करोति
 पशूनां० दोहाय अष्टास्तनां करोति छन्दसां दोहाय
 नवाश्रिम् अभिचरतः, कुर्यात् चिद्वत्मेव वज्रं सम्भृत्य
 भ्रातृव्याय प्र हरति स्तृत्यै कृत्वाय सा महीम् उखा-
 मिति नि दधाति देवतास्वैनां प्रति स्थापयति* ॥
 ॥ ४ ॥

तेनैव । लोमभिः सं । एते । अभिचरतः । एक-
 विंशतिश्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायाम् पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके
 षष्ठोऽनुवाकः ॥०॥

सप्तभिर्धूपयति सप्त वै शीर्षेण्याः प्राणाः शिर एतद्
 यज्ञस्य यदुखा शीर्षन्नेव यज्ञस्य प्राणान् दधाति तस्मात्
 सप्त शीर्षन् प्राणा अश्वशुकेन धूपयति प्राजापत्यो वै

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयप्रथमप्रपाठकस्य षष्ठ्यानुवाक-
 भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

अश्वः स॒योनि॒त्वाय॒ अदि॑ति॒स्त्वेत्या॑ह इ॒यं वै अदि॑ति॒-
रदि॑त्या ए॒व अदि॑त्यां खन॒त्यस्याः॑ अ॒क्रूर॑ङ्काराय॒ न हि
स्वः स्वः॑ हि॒नस्ति॑ दे॒वानां॑ त्वा प॒त्नीरि॑त्याह दे॒वाना॑म्॥

॥ १ ॥

वै ए॒तां प॒त्नयोऽग्ने॑ऽकुर्व॒न्ताभि॑रे॒वैनां॑ दधा॒ति धि॑षणा॒-
स्त्वा इत्या॑ह वि॒द्या वै धि॑षणा वि॒द्याभि॑रे॒वैना॑म॒भीत्ये॑
मास्त्वे॒त्याह छ॒न्दाः॑सि॒ वै मा॒श्छ॒न्दो॑भि॒रेवै॑नाः॑ अ॒पय॑ति
वरू॒चय॑स्त्वे॒त्याह हो॒त्राः॑ वै वरू॒चयो॑ हो॒त्राभि॑रे॒वैनां॑
प॒चति॑ ज॒नय॑स्त्वा इत्या॑ह दे॒वानां॑ वै प॒त्नीः॑ ॥ २ ॥

ज॒नय॑स्ताभि॒रेवै॑नां प॒चति॑ षड॒भिः प॑चति॒ षड्वै
कृ॒तव॑ कृ॒तुभि॑रे॒वैनां॑ प॒चति॑ द्विः प॒चन्वि॒त्याह तस्मा॑त्
द्विः सं॒वत्स॑रस्य स॒स्यं प॑च्यते वा॒रु॒ण्यु॒खा अ॒भी॒ज्ञा मै॒त्रिया॑
उ॒पैति॑ शान्त्यै दे॒वस्त्वा स॒वि॒ता उ॒द॒प॒त्वि॒त्याह स॒वि॒तु॒-
प्र॒सूत॑ ए॒वैनां॑ ब्र॒ह्म॒णा दे॒वता॑भि॒रु॒द॒प॒ति अ॒प॒द्य॑मा॒ना
पृ॒थि॒वि आ॒शा दि॒शु आ॑ पृ॒ण ॥ ३ ॥

इत्या॑ह तस्मा॒दग्निः॑ सर्वा दि॒शोऽ॒नु वि॒भा॒ति उ॒त्तिष्ठ॑
बृ॒ह॒ती भ॒वोर्ध्वा तिष्ठ॑ ध्रु॒वा त्वमि॒त्याह प्र॑ति॒ष्ठित्यै॑
अ॒सू॒र्यं पा॒त्रम॑नाच्छृ॒णु॒मा च्छृ॑ण॒न्ति दे॒व॒त्रा अ॒क्रः अ॒ज॒-
क्षी॒रेण॑ आ च्छृ॑ण॒न्ति पर॑मं वै ए॒तत् प॒यो य॒द॒ज॒क्षी॒रं
पर॑मे॒णैवै॑नां प॒य॑सि आ च्छृ॑ण॒न्ति य॒जु॒षा व्या॑वृ॒त्यै

इन्दाभिरा ऋणति छन्दाभिर्वै एषा, क्रियते छन्दा-
भरेव छन्दाऽसि आ ऋणति* ॥ ४ ॥

आह देवानां । वै पत्नीः । पृण । एषा । षट् च ॥
७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके
तप्तमोऽनुवाकः ॥०॥

एकविंशत्यु माषैः पुरुषशीर्षमश्नैति अमेध्या वै
माषा अमेध्यं पुरुषशीर्षममेध्यैरेवास्य अमेध्यं निरवदाय
मेध्यं कृत्वा आहरति एकविंशतिर्भवति एकविंशो
वै पुरुषः पुरुषस्यास्यै व्यृञ् वा एतत् प्राणैरमेध्यं यत्
पुरुषशीर्षः सप्तधा वितृष्णां वल्मीकवृषां प्रति नि
रधाति सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः प्राणैरेवैनत् सम-
र्हयति मेध्यत्वाय यावन्तः ॥ १ ॥

वै मृत्युबन्धवस्तेषां यम आधिपत्यं परीयाय यम-
गाथाभिः परि गायति यमादेवैनदृक्केति स्तुभिः परि
गायति चय इमे लोका एभ्य एवैनल्लोकेभ्यो वृक्के
तस्माद् गायते न देयं गाथा हि तद् वृक्केऽग्निभ्यः

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयप्रथमप्रपाठकस्य षष्ठानुवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

पशूनालभते कामा वै अग्नयः कामानेवाव रुन्धे यत्
पशूनालभेत अनवरुद्धा अस्य ॥ २ ॥

पशवः सूर्यत् पर्यग्निकृतानुस्त्वज्जघनेषुसं कुर्यात्
यत् संस्थापयेत् यातयामानि शीर्षाणि सूर्यत् पशू-
नालभते नैव पशूनव रुन्धे यत् पर्यग्निकृतानुस्त्वज्जति
शीर्षामयातयामत्वाय प्राजापदेन सः स्थापयति
यज्ञो वै प्रजापतिर्यज्ञ एव यज्ञं प्रति स्थापयति प्रजापतिः
प्रजा असृजत् स रिरिचानोऽमन्यत् स एता आप्री-
रपश्यताभिर्वै स मुखतः ॥ ३ ॥

आत्मानमा प्रीणीत् यदेता आप्रियो भवन्ति यज्ञो
वै प्रजापतिर्यज्ञमेवैताभिर्मुखत आ प्रीणाति अपरि-
मितछन्दसो भवन्ति अपरिमितः प्रजापतिः प्रजापते-
रात्यै जनातिरिक्ता मिथुनाः प्रजात्यै लोमशं वै
नामैतच्छन्दः प्रजापतेः पशवो लोमशाः पशूनेवाव
रुन्धे सवाणि वै एता रूपाणि सर्वाणि रूपाण्यग्नौ चित्ये
क्रियन्ते तस्मादेता अग्नेश्चित्यस्य ॥ ४ ॥

भवन्ति एकविंशतिः सामिधेनीरन्वाह रुग्वै
एकविंशो रुचमेव गच्छत्यथो प्रतिष्ठामेव प्रतिष्ठा हि
एकविंशश्चतुर्विंशतिमन्वाह चतुर्विंशतिरर्द्धमासाः
संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः साक्षादेव वैश्वानर-

मव रुन्धे पराचीरन्वाह पराङ्गिव हि सुवर्गे लोकः
समात्त्वाम्ने कृतवो वर्धयन्त्वित्याह समाभिरेवाम्निं
वर्धयति ॥ ५ ॥

कृतुभिः संवत्सरं विश्वा आ भाहि प्रदिशः पृथिव्या
इत्याह तस्मादग्निः सर्वा दिशोऽनु वि भाति प्रत्यौहता-
मश्विना मृत्युमस्मादित्याह मृत्युमेवास्मादप नुदति उत
वयं तमसस्परीत्याह पाप्मा वै तमः पाप्मानमेवास्मादप
हन्ति अगन्म ज्योतिरुत्तममित्याह असौ वै आदित्यो,
ज्योतिरुत्तमम् आदिस्यैव सायज्यं गच्छति न संवत्सर-
स्तिष्ठति नास्य श्रीस्तिष्ठति यस्य एताः क्रियन्ते
ज्योतिमतीमुत्तमामन्वाह ज्योतिरेवास्मै उपरिष्ठाद्
दधाति सुवर्गस्य लोकस्य अनुख्यात्यै* ॥ ६ ॥

यावन्तः । अस्य । मुखतः । चित्यस्य । वर्धयति ।
आदित्यः । अष्टाविंशतिश्च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके
अष्टमोऽनुवाकः ॥०॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयप्रथमप्रपाठकस्य अष्टमानुवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

षडभिर्दीक्षयति षड्वै कृतव कृतुभिरेवैनं दीक्ष-
यति सप्तभिर्दीक्षयति सप्त छन्दांसि छन्दोभिरेवैनं
दीक्षयति विश्वे देवस्य नेतुरित्यनुष्टुभा उत्तमया जुहोति
वाग्वै अनुष्टुप् तस्मात् प्राणानां वागुत्तमा एकस्मात्
अक्षरादनामं प्रथमं पदं तस्माद् यद्वाचेरुनामं
तन्मनुष्या उप जीवन्ति पूर्णया जुहोति पूर्ण इष हि
प्रजापतिः ॥ १ ॥

प्रजापतेरास्यै न्यूनया जुहोति न्यूनास्त्रि प्रजापतिः
प्रजा अस्तृजत प्रजानां सृष्ट्यै यदर्चिषि प्रवृज्याद्
भूतमव रुन्धीत् यदङ्गारेषु भविष्यदङ्गारेषु प्र वृणक्ति
भविष्यदेवाव रुन्धे भविष्यद्वि भूयो भूताद्वाभ्यां प्र वृणक्ति
द्विपाद् यजमानः प्रतिष्ठित्यै ब्रह्मणा वै एषा यजुषा
सम्भृता यदुखा सा यद्विद्येत आर्त्तिमाञ्छेत् ॥ २ ॥

यजमानो हन्येतास्य यज्ञो मिचेतामुखानुपेत्याह
ब्रह्म वै मिचो ब्रह्मन्नेवेनां प्रति ष्ठापयति नार्त्तिमा-
ञ्छति यजमानो नास्य यज्ञो हन्यते यदि भिद्येत
तैरेव कृपालैः सः सृजेत् सैव ततः प्रायश्चित्तिर्यो गत-
श्रीः स्यान्मथित्वा तस्य अव दध्याद् भूतो वै एष
स स्वां ॥ ३ ॥

देवतामुपैति यो भूतिकामः स्याद् य उखायै स-

भवेत् स एव तस्य स्यादतो ह्येष सम्भवति एष वै स्वयम्भू-
नाम भवत्येव यं कामयेत् भ्रातृव्यमस्मै जनयेयमित्यु-
न्यतस्तस्याहृत्य अव दध्यात् साक्षादेवास्मै भ्रातृव्यं
जनयति अम्बरीषादन्नकामस्य अव दध्याद् अम्बरीषे
वै अन्नं ध्रियते सयोन्येवान्नं ॥ ४ ॥

अव रुन्धे मुञ्जानव दधाति जग्वै मुञ्जा जजमेवास्मै
अपि दधाति अग्निर्देवेभ्यो निलायत् स क्रुमुकं प्राविशत्
क्रुमकमव दधाति यदेवास्य तच्च न्यक्तं तदेवाव रुन्धे
आज्येन सं यैति एतद्वै अग्नेः प्रियं धाम यदाज्यं
प्रियेणैवेन धाम्ना समर्द्धयति अथो तेजसा ॥ ५ ॥

वैकङ्कतीमा दधाति भा एवाव रुन्धे शमीमयीमा
दधाति शान्त्यै सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे इति
तिस्त्रभिर्जातिमुप तिष्ठते चय इमे लोका एषेव लोकेषु
आविदं गच्छति अथो प्राणानेवात्मन् धत्ते* ॥ ६ ॥

प्रजापतिः । ऋच्छत् । स्वां । एवान्नं । तेजसा ।
चतुस्त्रिंशच्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके
नवमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डप्रथमप्रपाठकस्य नवमानुवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

न ह स्म वै पुरामिरपरशुवृक्णं दहति तदस्मै
 प्रयोगः एव ऋषिरस्वदयत् यदग्ने यानि कानि चेति
 समिधुमा दधात्यपरशुवृक्णमेवास्मै स्वदयति सर्वमस्मै
 स्वदते य एवं वेद औदुम्बरीमा दधाति ऊर्ग्वै उदुम्बर
 ऊर्गमेवास्मै अपि दधाति प्रजापतिरग्निमसृजत् तः
 सृष्टः रक्षांसि ॥ १ ॥

अजिघांसन्त एतद्राक्षोघ्नमपश्यत् तेन वै स
 रक्षांस्यपाहत यद्राक्षोघ्नं भवत्यग्नेरेव तेन जाता-
 द्रक्षांस्यप हन्ति आश्वत्योमा दधाति अश्वत्यो वै वन-
 स्पतीनाः सपत्नसाहो विजित्यै वैकङ्कतीमा दधाति
 भा एवाव रुन्धे शमीमयोमा दधाति शान्त्यै सःशितं
 मे ब्रह्म उदैषां बाह्व अतिरमित्युत्तमे औदुम्बरी ॥ २ ॥

वाचयति ब्रह्मणैव क्षत्रः सःश्यति क्षत्रेण ब्रह्म
 तस्माद् ब्राह्मणो राजन्यवानति अन्यं ब्राह्मणं तस्माद्
 राजन्यो ब्राह्मणवानति अन्यः राजन्यं मृत्युर्वै एष यत्
 अग्निरमृतः हिरण्यः रुक्ममन्तरं प्रति मुञ्चतेऽमृत-
 मिव मृत्योरन्तर्धत्ते एकविंशतिनिर्वाधो भवति एक-
 विंशतिर्वै देवल्लोका द्वादश मासाः पञ्च कृतवस्त्रय
 इमे लोका असावादित्यः ॥ ३ ॥

एकविंश एतावन्तो वै देवल्लोकास्तेभ्य एव भ्रातृव्य-

मन्तरेति निर्वाधैवै देवा असुरान्निर्वाधेऽकुर्वन् तत्
निर्वाधानां निर्वाधत्वं निर्वाधी भवति भ्रातृव्यानेव
निर्वाधे कुरुते सावित्रिया प्रतिमुञ्चते प्रसृत्यै नक्तो-
षासेत्युत्तरया अहोरात्राभ्यामेवैनमुद्यच्छते देवा अग्निं
धारयन् द्रविणोदा इत्याह प्राणा वै देवा द्रविणोदा
अहोरात्राभ्यामेवैनमुद्यत्य ॥ ४ ॥

प्राणैर्दाधारासीनः प्रति मुञ्चते तस्मादासीनाः
प्रजाः प्र जायन्ते कृष्णाजिनमुत्तरं तेजो वै हिरण्यं
ब्रह्म कृष्णाजिनं तेजसा चैवैनं ब्रह्मणा बोभयतः परि-
गृह्णाति षडङ्गामः शिष्यं भवति षड्वै ऋतव ऋतुभि-
रेवैनमुद्यच्छते यद् द्वादशोद्यामः संवत्सरेणैव मौजं
भवति ऊर्ग्वै मुञ्जा ऊर्जैवैनः सम्, अर्धयति सुपर्णोऽसि
गरुत्मानित्यवक्षते रूपमेवास्यै एतन्महिमानं व्याचष्टे
दिवं गच्छ सुवः पतेत्याह सुवर्गमेवैनं लोकं गमयति*
॥ ५ ॥

रक्षांसि । औदुम्बरी । आदित्यः । उद्यत्य । सं ।
चतुर्विंशतिश्च ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके
दशमोऽनुवाकः ॥०॥

अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयप्रथमप्रपाठकस्य दशमानुवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

समीक्षो अञ्जन्तदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत
 पिबमानः । वाजी वहन् वाजिनं जातवेदो देवानां
 वक्षि प्रियमा सधस्थम्^(१) । घृतेनाञ्जन्तं पथो देव-
 यानान् प्रजानम्वाजी अर्प्येतु देवान् । अनु त्वा सप्ते
 प्रदिशः सचन्ताः स्वधामस्मै यजमानाय वेहि^(२) ।
 इद्यश्वासि वन्द्यश्च वाजिन्नाशुश्वासि मेध्यश्च सप्ते ।
 अग्निष्टा ॥ १० ॥

देवैर्वसुभिः सजोषाः प्रीतं वहिं वहतु जातवेदाः^(३) ।
 स्तीर्णं वहिः सुष्टरीमा जुषाणा उरु पृथु प्रथमानं
 वृष्टिव्याम् । देवेभिर्यत्तमदितिः सजोषाः स्योनं हृष्याना
 सुविते दधातु^(४) । एता उ वः सुभगा विश्वरूपा वि
 पक्षेभिः अयमाणा उत आतैः । ऋषाः सतीः कवषः
 शुभमाना द्वारो देवीः सुप्रायणा भवन्तु^(५) । अन्तरा
 मिचावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानामभि संविदाने ।
 उषासा वां ॥ २ ॥

सहिरण्ये सुशिल्पे ऋतस्य योनात्तिह सादयामि^(६) ।
 प्रथमा वाः सरथिना सुवर्णा देवौ पश्यन्तौ भुवनानि
 विश्वा । अपिप्रयं चोदना वां मिमाना होतारौ
 ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता^(७) । आदित्यैर्नो भारती वष्टु
 यज्ञः सरस्वती सह रुद्रैर्न आवीत् । इडा उपहता

वसुभिः सुजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त^(८) । त्वष्टा
वीरं देवकामं जजान त्वष्टुरर्वा जायते आशुरश्वः ॥
॥ ३ ॥

त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान ब्रह्माः कर्तारमिह
यक्षि होतः^(९) । अश्वो घृतेन तमन्या समक्त उप देवाः
कृतुशः पाय एतु । वनस्पतिर्देवलोकं प्रजानन् अग्निना
हव्याः स्वदितानि वक्षत्^(१०) । प्रजापतेस्तपसा वा-
वधानः सद्यो जातो दधिषे यज्ञमग्ने । स्वाहाकृतेन
हविषा पुरोगा याहि साध्या हविरदन्तु देवाः^(११) ॥
॥ ४ ॥

अग्निष्टा । वाम् । अश्वः । द्विचत्वारिंशच्च ॥
॥ ११ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके
एकादशोऽनुवाकः ॥०॥

साविचाणि । व्यृद्धम् । उत्क्राम । देवस्य-खनति ।
क्रूरं । वारुणः । सप्तभिः । एकविंशत्या । षड्भिः ।
न ह स्म । समीक्षो अज्जन् ॥ एकादश ॥ ११ ॥

साविचाणि^(१२) । उत्क्राम^(१३) । क्रूरं^(१४) । वारुणः^(१५) ।

प॒श्वः स्युः^(७१) । न ह॑ स्म^(१०१) । नवप॒ञ्चाशत्* ॥
॥ ५६ ॥

समाप्तः प्रथमप्रपाठकः ।

॥०॥ हरिः ओम् ॥०॥

एवं हि श्रूयते, 'समिद्धो अञ्जन्कदरस्मतीनामित्यश्वस्थाप्रियो भवन्ति स्वरूपत्वाय' इति । तत्र प्रथमानुवचमाह,—“समिद्धो अञ्जन् कदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत् पितृमानः । धाजी वहन् वाजिनं जातवेदो देवानां पक्षि प्रियमा सधस्यम्^(१)” इति । हे 'जातवेदः' 'अग्ने', 'वाजिनं' (अश्वं) 'वहन्' (वह, देवान् प्रापयेत्यर्थः) । कीदृशोऽग्निः ?— 'समिद्धः' (सम्यक् प्रदीप्तः), 'वाजी' (अश्ववान्, अश्वसम्पादक इत्यर्थः) । किं कुर्वन् ?—'मतीनां' 'कदरं' 'अञ्जन्', कदरशब्दो धान्यानां आवापनं कुसुमादिकमाचष्टे, 'मतीनां' (अभिज्ञानां) 'कदरं' (कुसुमस्थानीयं) तत्स्वरूपम् 'अञ्जन्' (प्रकाशयन्), 'मधुमत्' (मधुरं) 'घृतं' 'पितृमानः' (पितृन्), तथा देवार्थं सर्वाणि हवींषि वहन् । कीदृशं वाजिनं ?—'देवानां' 'प्रियं' (प्रीतिहेतुं), 'आ' + 'सधस्यं' (सर्वतः पश्वन्तरैः सह स्थितं) । अत एवाश्वमेधकाण्डे समाख्यास्यते,—‘आग्नेयं कृष्यायीवं पुरस्तात्कलाटे’ इत्यादि ।

* प्रथमे अनुवाके ४, द्वितीये ६, तृतीये ५, चतुर्थे ५, पञ्चमे १०, षष्ठे ४, सप्तमे ४, अष्टमे ६, नवमे ६, दशमे ५, एकादशे ४ इति नवपञ्चाशत् ।

अथ द्वितीयाष्टममाह,—“घृतेनाञ्जन्तं पयो देवयानान् प्रजानन्
वाजी अयेतु देवान् । अनु त्वा सप्ते प्रदिशः सचन्ताः स्वधामस्यै
यजमानाय धेहि^(१)” इति । अथ ‘वाजी’ ‘देवान्’ ‘अयेतु’ (प्राप्नोतु) ।
किं कुर्वन् ?—‘घृतेन’ (स्वस्थोपरिभूतेनाञ्जेन) ‘देवयानान्’ ‘पयः’
(देवलोकस्थितान् मार्गान्) ‘सं’-‘अञ्जन्’ (सम्यक् द्रवीकुर्वन्), ‘प्रजानन्’
(तेन घृतस्नाञ्जनेन मार्गं यथा ज्ञायते तथा कुर्वन्) । हे ‘सप्ते’
(अश्व), ‘प्रदिशः’ (प्रकृष्टाः सर्वा दिशः) ‘त्वा’ (त्वाम्) ‘अनु’-‘सृत्य’
‘सचन्तां’ (सर्वे वेत्तारो भवन्तु*), देवप्राप्तावानुकूल्यमेव कुर्वन्तु; त्वस्य
‘अस्यै’ (यजमानाय) ‘स्वधां’ (स्वधाकारोपलक्षितमन्नं) ‘धेहि’
(सम्पादय) ॥

अथ तृतीयाष्टममाह,—“ईक्ष्वासि वन्द्यस्य वाजिन्नाशुश्वासि
मेध्यस्य सप्ते । अग्निष्ट्वा देवैर्वसुभिः सजोषाः प्रीतं वक्त्रं वहतु जात-
वेदाः^(२)” इति । हे ‘वाजिन्’ (अश्व), त्वम् अस्माभिः ‘ईक्ष्वा’ (स्तोतव्यस्य),
‘वन्द्यस्य’ (नमस्कार्यस्य) ‘असि’ । हे ‘सप्ते’ (अश्व), ‘आशुश्वा’ (श्रीच-
गामी च), ‘मेध्यस्य’ (यागयोग्यस्य) ‘असि’ । ‘जातवेदाः’ ‘अग्निः’
‘त्वा’ (त्वां) ‘वहतु’ (देवान् प्रापयतु) । कीदृशः ‘अग्निः’ ? ‘वसुभिः’
(जगन्निवासहेतुभिः) ‘देवैः’ ‘सजोषाः’ (समानप्रीतिः) । कीदृशं
त्वां ?—‘प्रीतं’ (प्रीतिविषयं) ‘वक्त्रं’ (बोद्धारं) ॥ *

अथ चतुर्थीष्टममाह,—“स्त्रीणं बर्हिः सुष्टरीमा जुषाणा उंरु
पृथु प्रथमानं पृथिव्याम् । देवेभिर्युक्तमदितिः सजोषाः स्त्रोतं
क्षणांता सुविते दधातु^(३)” इति । ‘अदितिः’ (भूमिदेवी) ‘सुविते’

* सर्वा वेत्तो भवन्तु इति ४ पु० पाठः ।

(शोभनप्राप्तियोग्ये) स्थाने 'दधातु' अश्वं (स्थापयतु) । कीदृशी अदितिः?—
 'बर्हिः' 'जुषाणा' (दर्भं पूर्णं सेवमाना) । कीदृशं बर्हिः? 'स्त्रीर्षे'
 सञ्ज्ञपनायाश्च ज्ञायचितुं (आस्तीर्षे), 'सुष्टरीम' (सुष्टु स्तरणयोग्यं),
 'पृथिव्या' (भूमौ) 'उद' (बज्रं) यथा भवति तथा, 'पृथु' (अति-
 विस्तृतं) यथा भवति तथा 'प्रथमानं' (प्रसारितं) । तथा इदमदितिः,
 'देवेभिः' (सर्वैः देवैः) 'सजोषाः' (समानप्रीतिः) तथा, 'युक्तं' (योग्यं)
 'स्योनं' सुखकरं (स्थानं) 'कृष्णाना' (कुर्वती) ॥

अथ पञ्चमीमृचमाह,—“एता उ वः सुभगा विश्वरूपा वि
 पक्षोभिः अयमाणा उत् आतैः । ऋष्याः सतीः कवषः शुभमाना
 द्वारो देवीः सुप्रायणा भवन्तु^(*)” इति । ‘एता’ अपि ‘द्वारो’ ‘देवीः’
 (द्वाराख्या* देव्यः) ‘सुप्रायणाः’ ‘भवन्तु’ (सुष्टु अश्वस्य प्रापिका भवन्तु) ।
 कीदृशो देव्यः?—‘वः’ (युष्माकं) ऋषिग्यजमानानां ‘सुभगाः’
 (सौभाग्यप्रदाः), ‘विश्वरूपाः’ (बज्रविधिरूपयुक्ताः), ‘आतैः’† (सततगमन-
 साधनानि वाहनानि‡), ‘पक्षोभिः’ (पक्षस्थानीयैः) गतैः विशेषेण ‘उत्’-
 ‘अयमाणाः’ (ऊर्द्धं गच्छन्त्यः) ‘ऋष्याः’ ‘सतीः’ (गमनागमनयोग्याः
 स यः), ‘कवषः’ (कवाटैः) ‘शुभमानाः’ (शोभमानाः); द्वाराभिमानिन्यो
 हि देव्यः कपाटसमीपे वर्तमानाः शोभन्ते ॥

* ‘द्वाराख्यो देव्यः’ इति आदर्शपुस्तक ४ पुस्तकयोः पाठः न सम्यगिव
 प्रतिभाति ।

† सुष्टु अश्वस्य अश्वस्य इति ४ पुस्तकपाठः ।

‡ आता इति ४ पुस्तकपाठः ।

§ एवमेव सर्वत्र पाठः । अत्र ‘तैः’ इति पठितम्; किं वा ‘सततगमन-
 साधनैः वाहकैः’ इत्येव पाठः ।

अथ षष्ठीवृत्तमाह,—“अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती सुखं यज्ञा-
नामभि संविदाने । उषासा वाऽ सुहिरण्ये सुशिल्पे ऋतस्य योनौ
इह सादयामि^(१)” इति । हे ‘उषासा’ (उषःशब्दोपलक्षिते अहोरात्रे
देवते), ‘वां’ (युवां) ‘ऋतस्य’ ‘योनौ’ (यज्ञस्य कारणे) ‘इह’ (अग्ने)
‘सादयामि’ (स्थापयामि) । कीदृशौ अहोरात्रे देवते ?—मित्रावरुणरूपे ।
अत एव अन्यत्रास्मात्,—‘मैत्रं वा अर्चवर्षणी रात्रिः’ इति ।
‘अन्तरा’ ‘चरन्ती’ (ब्रह्माण्डस्य मध्ये वर्त्तमाने), ‘यज्ञानां’ ‘सुखं’
‘अभि’ ‘संविदाने’ (यज्ञप्रारम्भम् अभिलक्ष्य परस्परमैकमत्ययुक्ते),
‘सुहिरण्ये’ (शोभनहिरण्यवत् सूर्यचन्द्रप्रकाशयुक्ते*) ‘सुशिल्पे’ (सर्वव्यव-
हारहेतुत्वेन शोभनैः शिल्पैरूपेते) ॥

अथ सप्तमीवृत्तमाह,—“प्रथमा वाऽ सरथिना सुवर्णा देवौ
पश्यन्तौ भुवनानि विश्वा । अपिप्रथं चोदना वां मिमाना हेतारा
ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता^(२)” इति । हे दम्पती यजमानपत्न्यौ, ‘वां’
(युवयोरर्थे) ‘हेतारा’ (देवानां मध्ये यौ हेतारौ तावुभौ) ‘अपिप्रथं’
(प्रीणयामि) । कीदृशौ ?—‘प्रथमा’ (प्रथमौ, मुख्यौ), ‘सरथिना’
(समान एको रथः, सरथः, तदन्तौ), ‘सुवर्णा’ (शोभनवर्णोपेतौ), ‘देवौ’
(दीप्यमानौ), ‘विश्वा’ ‘भुवनानि’ (सर्वलोकान्), ‘पश्यन्तौ’, ‘वां’
‘चोदना’ ‘मिमाना’ (युवयोर्विहितानि कर्माणि प्रमितवन्तौ)
‘प्रदिशा’ (प्रकृष्टासु दिक्षु) ‘ज्योतिः’ ‘दिशन्ता’ (स्वकीयप्रका-
शमारयन्तौ) ॥

* सूर्यचन्द्र इव प्रकाशयुक्ते इति आदर्शपुस्तक N पुस्तकयोः पाठः ।

अथाष्टमीष्टचमाह,—“आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञः सरस्वती
सह रुद्रैर्न आवीत् । इडा उपहता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो
देवीरमृतेषु धत्त^(८)” इति । ‘भारती’ (भारताख्या देवी) ‘आदित्यैः’
‘सह’ ‘नः’ (अस्मादीयं) ‘यज्ञं’ ‘वष्टु’ (कामयती) । ‘सरस्वती’ (सरस्वत्याख्या
देवी) ‘रुद्रैः’ ‘सह’ ‘नः’ (अस्मान्) ‘आवीत्’ (रक्षतु) । इडाख्या देवी
‘वसुभिः’ ‘सह’ ‘सजोषा’ (समानप्रीतिः) ‘उपहता’ (अनुज्ञाता) सती
अस्मान् अवतु । ‘देवीः’ (हे देव्यः), सर्वं ‘नः’ (अस्मादीयं) ‘यज्ञम्’
‘अमृतेषु’ (मरणरहितेषु देवेषु) ‘धत्त’ (स्थापयत) ॥

अथ नवमीष्टचमाह,—“त्वष्टा वीरं देवकामं जजान त्वष्टुर्वा
जायत आशुः^(९) । त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्त्तारमिह
यच्च होतः^(९)” इति । ‘त्वष्टा’ (त्वष्टृनामको, देवः) ‘देवकामं’
(देवान् कामयमानं) ‘वीरं’ (कर्मसु शूरं) पुत्रं ‘जजान’ (उत्पादयामास) ।
स ‘त्वष्टुः’ सकाशात् ‘अर्वा’ (गमनकुशलः), ‘आशुः’ (शीघ्रगामी)
‘अश्वः’ ‘जायते’ । किं ब्रह्मना, ‘त्वष्टा’ ‘इदं’ ‘विश्वं’ ‘भुवनं’ (सर्वमपि
लोकं) ‘जजान’ (जनयामास) । हे ‘होतः’, ‘बहोः’ (ब्रह्मण्य जगतः)
‘कर्त्तारं’ (स्रष्टारं) ‘इह’ (अस्मिन् कर्मणि) ‘यच्च’ (यज) ॥

अथ दशमीष्टचमाह,—“अश्वो घृतेन त्मन्या समक्त उप देवाः
श्चतुश्रः पाथ एतु । वनस्पतिर्देवलोकं प्रजानन्नग्निं हव्याः स्वदितानि
वक्षत्^(१०)” इति । अथम् ‘अश्वः’ ‘त्मन्या’ (आत्मना, स्वयमेव)
‘घृतेन’ ‘समक्तः’ (घृताक्त इव रुचिकरः) सन् ‘पाथः’ (देवानामन्त्रं)
भूत्वा ‘श्चतुश्रः’ (तत्तद्भूतकाले) ‘देवान्’ ‘उप’-‘एतु’ (प्राप्नोतु) ।
‘वनस्पतिः’ (एतन्नामको देवः) ‘देवलोकं’ ‘प्रजानन्’ (प्रकर्षेणावगच्छन्)

‘अग्निना’ सह ‘स्वदितानि’ ‘हव्याः’ (स्वादुभूतानि हवींषि) ‘वक्तु’
(वहतु, देवान् प्रापयतु) ॥

अथैकादशीऋषमाह,—“प्रजापतेस्तपसा वावृधानः सद्यो जातो
दधिषे यज्ञमग्ने । स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगा याहि साध्या हवि-
रदन्तु देवाः^(११)” इति॥ हे ‘अग्ने’, त्वं ‘प्रजापतेः’ (जगदीश्वरस्य)
‘तपसा’ (पर्यालोचनेन) ‘वावृधानः’ (वर्द्धमानः), त्वं ‘जातः’ (उत्पन्न-
मात्रः) ‘सद्यः’ (तदानीमेव) ‘यज्ञं’ ‘दधिषे’ (धारयसि) । ‘स्वाहाकृतेन’
(स्वाहाकारसमर्पितेन) ‘हविषा’ सह ‘पुरोगाः’ (अग्रतो गच्छन्)
‘याहि’ (देवान् प्राप्नुहि) । ‘साध्याः’ अस्माभिः (साधनीयाः पूजनीयाः)
‘देवाः’ इदम् अस्माभिः समर्पितं हविः ‘अदन्तु’ (भक्षयन्तु) ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

‘समिद्धः’—इत्याप्रियः स्युरश्वस्यैकादशोदिताः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो ह्यर्दं विनाशयन् ।

पुमर्थाञ्चतुरो देवादिद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे प्रथमप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥०॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुद्ध-
भूपासनाष्टावधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थ-
प्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः
सम्पूर्णः ॥०॥

॥०॥ ॐ तत्सत् ॥०॥

॥०॥ श्रीगणेशाय नमः ॥०॥

अथ तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये

पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।

विष्णुमुखा वै देवाश्छन्दाभिरिमाँल्लोकाननपजय्य-
मभ्यजयन् यद्विष्णुकृमान् क्रमते विष्णुरेव भूत्वा
यजमानश्छन्दाभिरिमाँल्लोकाननपजय्यमभि जयति
विष्णोः क्रमोऽस्यभिमाति हेत्याह गायत्री वै पृथिवी
चैष्टुभमन्तरिक्षं जागती द्यौरानुष्टुभीर्दिशश्छन्दाभिरेव
इमाँल्लोकान् यथापूर्वमभि जयति प्रजापतिरग्निम-
सृजत सोऽस्मात् सृष्टः ॥ १ ॥

पराङ् ऐतमेतयाऽन्वेदक्रन्ददिति तथा वै सोऽग्नेः
प्रियं धामावाकन्ध्र यदेतामन्वाह अग्नेरेवैतया प्रियं
धामाव कन्ध्रे ईश्वरो वै एष पराङ् प्रदधो यो विष्णु-
कृमान् क्रमते चतसृभिरा वर्तते चत्वारि छन्दाःसि
छन्दाःसि खलु वै अग्नेः प्रिया तनूः प्रियामेवास्व
तनुवमभि ॥ २ ॥

पर्यावर्त्तते दक्षिणा पर्यावर्त्तते स्वमेव वीर्यमनु
 पर्यावर्त्तते तस्मादक्षिणोऽर्ध आत्मने। वीर्यावत्तरोऽर्थो
 आदित्यस्यैवावृत्तमनु पर्यावर्त्तते शुनःशेषमाजीगर्त्ति
 वरुणोऽष्टात् स एतां वारुणीमपश्यत् तया वै स
 आत्मानं वरुणपाशादमुञ्चद् वरुणो वै एतं गृह्णाति
 य उखां प्रतिमुञ्चते उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदित्याह
 आत्मानमेवैतया ॥ ३ ॥

वरुणपाशात् मुञ्चति आत्माऽहार्षमित्याह आह्वेनः
 हरति ध्रुवस्तिष्ठ अविचाचक्षिरित्याह प्रतिष्ठित्यै
 विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्वित्याह विश्वेनः समर्द्धयति
 अस्मिन् राष्ट्रमधि अयेत्याह राष्ट्रमेवास्मिन् ध्रुवमकः यं
 कामयेत राष्ट्रं स्यादिति तं मनसा ध्यायेद् राष्ट्रमेव
 भवति ॥ ४ ॥

अग्ने बृहन्नृषसामूर्ध्वो अस्यादित्याहाग्रमेवैनः
 समानानां* करोति निर्जग्मिवां तमस इत्याह तम एव
 अस्मादप हन्ति ज्योतिषा आ-अगादित्याह ज्योतिरे-
 वास्मिन् दधाति चतसृभिः सादयति चत्वारि हन्दाःसि
 हन्दाभिरेव अतिहन्दसोत्तमया वर्षा वै एषा हन्दसां
 यदतिहन्दा वर्षैर्वैनः समानानां करोति सद्धती ॥ ५ ॥

* 'समानां' इति आदर्शपुस्तकपाठः । एवं परत्रापि ।

भवति सुखमेवैनं गमयति वात्सप्रेणोप तिष्ठते एतेन
 वै वत्सप्रीर्भीलन्दनोऽग्नेः प्रियं धाम अथ अरुन्ध अग्नेरे-
 वैतेन प्रियं धाम अथ रुन्धे एकादशं भवति एकधैव
 यजमाने वीर्यं दधाति स्तोमैर्न वै देवा अस्मिन् लोके
 आर्ध्वन् हन्तेऽभिरमुष्मिन्स्तोमस्येव खलु वै एतद्रूपं
 यद्वात्सप्रं यद्वात्सप्रेणोपतिष्ठते ॥ ६ ॥

इममेव तेन लोकमभि जयति यद्विष्णुक्रमान्
 क्रमतेऽमुमेव तैर्लोकमभि जयति पूर्वेषुः प्र क्रामति
 उत्तरेद्युरूपं तिष्ठते तस्माद्योगेऽन्यासां प्रजानां मनः
 क्षेमेऽन्यासां तस्माद्यायावरः क्षेम्यस्य ईशे तस्माद्याया-
 वरः क्षेम्यमध्यवस्यति मुष्टीकरोति वाचं यच्छति यज्ञस्य
 धृत्यै* ॥ ७ ॥

सृष्टः । अभि । एतया । भवति । सद्वती । उप-
 तिष्ठते । द्विचत्वारिंशच्च ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके
 प्रथमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

* अस्यानुवाकस्य आख्यानं चतुर्थकाण्डेयद्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमद्विती-
 यानुवाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निश्चितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
 निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥
 उल्थाग्निः प्रथमे प्रोक्तो द्वितीये चित्युपक्रमः ।
 द्वादशाक्षानुवाका स्युरासन्धां वक्त्रवस्थितिः ॥
 वात्सप्रेणाप्युपस्थानं प्रथमे समुदीरितं ।
 द्वितीये त्वख्यनयनं गार्हपत्यं चिनोति हि ॥
 तृतीये तु चतुर्थे तु उल्थाग्निं तत्र संवपेत् ।
 पञ्चमे कृषति क्षेत्रं षष्ठेऽत्र सिकतादिकं ॥
 वपेद्रुक्माद्युपादध्यात् सप्तमे चाष्टमे पुनः ।
 स्थापयेत् स्वयमाह्वानमुखादीन्नावमे तथा ॥
 अपस्याश्च प्राणमृतः तथोपानमृतश्चितौ ।
 प्रथमायामुपादध्याद् दशमे तत्समीरितम् ॥
 एकादशद्वादशौ तु विज्ञेयावाश्वमेधिकौ ।
 अश्वस्यासिपथाः कल्पा गायत्रीत्यादिमन्त्रकैः ॥
 कस्त्रेत्यसिपथेक्षित्वा त्वचमाकृत्यतो दयम् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥०॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो देहीत्याह अग्निरैव अन्नपतिः स
 एवास्मै अन्नं प्र यच्छति अन्नमीवस्य शुष्मिण इत्याह
 अयश्मस्येति वावैतदाह प्र प्रदातारं तारिषः ऊर्जं नो
 धेहि द्विपदे चतुष्पदे इत्याह आशिषमेवैतामा शास्ते
 उद उ त्वा विश्वे देवा इत्याह प्राणा वै विश्वे देवाः ॥ १ ॥

प्राणैरेवैनमुद्यच्छतेऽग्ने भरन्तु चित्तिभिरित्याह यस्मै
 एवैनं चित्ताय उद्यच्छते तेनैवैनं समर्द्धयति चत-
 स्तभिरा सादयति चत्वारि छन्दांसि छन्दाभिरैवाति-
 छन्दसा उत्तमया वर्ष्म वै एषा छन्दसां यदतिछन्दा,
 वर्ष्मैवैनं समानानां करोति सद्गती भवति सस्वमेवैनं
 गमयति प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् ॥ २ ॥

याहीत्याह ज्योतिरेवास्मिन् दधाति तनुवा वै एष
 हिनस्ति यं हिनस्ति मा हिंसीस्तनुवा प्रजा इत्याह
 प्रजाभ्य एवैनं शमयति रक्षांसि वै एतद्यज्ञं संचन्ते
 यदनः उत्सर्जति अक्रन्ददित्यन्वाह रक्षसामपहत्यै
 अन्नसा वहन्ति अपचितिमेवास्मिन् दधाति तस्माद्
 अन्नस्वी च रथी च अतिथीनामपचिततमौ ॥ ३ ॥

अपचितिमान् भवति य एवं वेद समिधाऽग्निं
 दुवस्यतेति घृतानुषिक्तामवसिते समिधम् आ दधाति
 यथाऽतिथये आगताय सर्पिषदातिथ्यं क्रियते तादृगेव

तज्जायचिया ब्राह्मणस्य गायत्रो हि ब्राह्मणस्त्रिष्टुभा
राजन्यस्य चैष्टुभो हि राजन्योऽसु भस्म प्रवेशयति
असुयोनिर्वा अग्निः स्वामेवैनं योनिं गमयति तिसृभिः
प्रवेशयति चिद्वद्वै ॥ ४ ॥

अग्निर्यावानेवामिस्तं प्रतिष्ठां गमयति परा वै
एषोऽग्निं वपति योऽसु भस्म प्रवेशयति ज्योतिष्मतीभ्या-
मव दधाति ज्योतिरेवास्मिन् दधाति द्वाभ्यां प्रतिष्ठित्यै
परा वा एष प्रजां पशून् वपति योऽसु भस्म प्रवेशयति
पुनरुर्जा सह रय्यति पुनरुदैति प्रजामेव पशूनात्मन्
धत्ते पुनस्त्वादित्याः ॥ ५ ॥

रुद्रा वसवः समिधतामित्याह एता वै एतं देवता
अग्ने समैधत ताभिरेवैनः समिधे बोधा सः बोधी-
त्युप तिष्ठते बोधयत्येवैनं तस्मात् सुखाः प्रजाः प्र-
बुध्यन्ते यथास्थानमुप तिष्ठते तस्माद्यथास्थानं पशवः
पुनरेत्योपतिष्ठन्ते* ॥ ६ ॥

वै विश्वे देवाः । ज्योतिष्मान् । अपचिततमौ ।
चिद्वद्वै । आदित्याः । द्विचत्वारिंशच्च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके
द्वितीयोऽनुवाकः ॥०॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठकस्य द्वितीयानुवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

यावती वै पृथिवी तस्यै यम आधिपत्यं परीयाय
 यो वै यमं देवयजनमस्याः अनिर्याच्याग्निं चिनुते
 यमार्यैः स चिनुते अप इत इत्यध्यवसाययति
 यममेव देवयजनमस्मै निर्याच्यात्मनेऽग्निं चिनुते इष्टग्रेण
 वै अस्याः अनामृतमिच्छन्तो नाविन्दन्ते देवा एतद्यजु-
 रपश्यन् अप इत इति यदेतेनाध्यवसाययति ॥ १ ॥

अनामृत एवाग्निं चिनुते उद्वन्ति यदेवास्याः अमेध्यं
 तदप हन्ति अपोऽवोक्षति शान्त्यैः सिकता नि वपत्ये-
 तद्वै अग्नेर्वैश्वानरस्य रूपः रूपेणैव वैश्वानरमव हन्ते
 जषान् नि वपति पुष्टिर्वै एषा प्रजननं यदूषाः पुष्ट्या-
 मेव प्रजननेऽग्निं चिनुते ऽथो संज्ञाने एव संज्ञानः
 ज्ञेतत् ॥ २ ॥

पशूनां यदूषाः द्यावापृथिवी सहास्तां ते वियती
 अज्रूतामस्त्वेव नौ सह यज्ञियमिति यदमुष्या यज्ञिय-
 मासीत्तदस्यामदधात् ते जषाः अभवन् यदस्या यज्ञिय-
 मासीत्तदमुष्यामदधात्तदश्चन्द्रमसि कृष्णामूषान्निवप-
 न्नुदो ध्यायेद् द्यावापृथिव्योरेव यज्ञियेऽग्निं चिनुते ऽयः
 सो अग्निरिति विश्वामिषस्य ॥ ३ ॥

सूक्तां भवत्येतेन वै विश्वामिषोऽग्नेः प्रियं धाम
 अव अरन्ध अग्नेरेवैतेन प्रियं धामाव हन्ते छन्दोभिर्वै

देवाः सुवर्गं लोकमायन् चतस्रः प्राचीरुप दधाति
 चत्वारि छन्दांसि छन्दाभिरिव तद्यजमानः सुवर्गं
 लोकमेति तेषां सुवर्गं लोकं यत्तां दिशः समवलीयन्त
 ते द्वे पुरस्तात् समीची उपोदधत् द्वे ॥ ४ ॥

पश्चात् समीची ताभिर्वै ते दिशीऽहः हन् यत् द्वे
 पुरस्तात् समीची उपदधाति द्वे पश्चात् समीची दिशां
 विधृत्य अथो पशवो वै छन्दांसि पशून्नेवास्मै समीची
 दधाति अष्टावुप दधाति अष्टाक्षरा गायत्री गायत्री-
 ऽग्निर्यावानेवाग्निस्तं चिनुतेऽष्टावुप दधाति अष्टाक्षरा
 गायत्री गायत्री सुवर्गं लोकमञ्जसां वेद सुवर्गस्य
 लोकस्य ॥ ५ ॥

प्रज्ञात्यै चयोदश लोकंपृणा उप दधाति एकविंश-
 तिः सम्पद्यन्ते प्रतिष्ठा वै एकविंशः प्रतिष्ठा गार्हपत्यः
 एकविंशस्यैव प्रतिष्ठां गार्हपत्यमनु प्रति तिष्ठति प्रत्यग्निं
 चिक्वानस्तिष्ठति य एवं वेद पञ्च चितीकं चिन्वीत प्रथमं
 चिन्वानः पांक्तो, यज्ञः । पांक्ताः पशवो यज्ञमेव पशूनव
 रुन्धे चिचितीकं चिन्वीत द्वितीयं चिन्वानस्त्रय इमे
 लोका एषेव लोकोषु ॥ ६ ॥

प्रति तिष्ठति एकचितोक्तं चिन्वीत तृतीयं चिन्वानः
 एकधा वै सुवर्गो लोक एकवृत्तैव सुवर्गं लोकमेति

पुरीषेणाभू॑ हति॒ तस्मा॑न्मा॒सेनास्थि॑ छन्नं न दुश्च॑र्मो
भवति॒ य एवं वेद॑ पञ्च॒ चित॑यो भवन्ति पञ्च॒भिः पुरीषै॑-
रभू॑ हति॒ दश॑ सम्पद्यन्ते दशा॒क्षरा॑ विराडन्नं॒ विराड्-
विराज्ये॑वान्नाद्ये॒ प्रति तिष्ठति* ॥ ७ ॥

अध्यवसाययति । ह्येतत् । विश्वामित्रस्य । आदधत
हे । लोकस्य । लोकेषु । सप्तचत्वारिंशच्च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकारण्डे द्वितीयप्रपाठके
तृतीयोऽनुवाकः ॥०॥

वि वै एतौ दि॒षाते॒ यश्च॑ पुरा॒ग्निर्यश्चो॒खायाः॑ स॒मि॒त-
मि॒ति च॑त॒सृभिः॑ सन्नि॒ वप॑ति च॒त्वारि॑ छन्दा॒सि
छन्दा॒सि खलु॑ वै अ॒ग्नेः प्रि॒या त॒नूः प्रि॒ययै॒वैनौ त॒नुवा॑
सः॒ शा॒स्ति स॒मि॒ति॒मित्या॑ह॒ तस्मा॑त् ब्रह्म॒णा क्ष॒चः
समे॑ति॒ यत् स॒न्मुप्य॑ वि॒हर॑ति॒ तस्मा॑त् ब्रह्म॒णा क्ष॒चं
व्ये॑ति ऋ॒तुभिः॑ ॥ १ ॥

वै एतं दीक्षयन्ति स ऋतुभिरेत विमुच्ये मातेव
पुत्रं पृथिवी पुरीषमित्याह ऋतुभिरेवैनं दीक्षयित्वा
ऋतुभिर्वि मुच्यति वैश्वानर्यां शिकमा दत्ते स्वदयत्ये-
वैनं नैर्ऋतीः कृष्णास्तिस्रस्तुषपका भवन्ति निर्ऋत्यै

* अस्यानुवाकस्य काव्यान् चतुर्थकारण्डे द्वितीयप्रपाठकस्य चतुर्थानुवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

वै एतद्भागधेयं यत्तुषाः निर्वृत्यै रूपं कृष्णं रूपेणैव
निर्वृतिं निरवदयते इमां दिशं यन्त्येषा ॥ २ ॥

वै निर्वृत्यै दिक् स्वायामेव दिशि निर्वृतिं निरव-
दयते स्वकृते इरिणे उप दधाति प्रदरे वैतद्वै निर्वृत्याः
आयतनं स्वे एवायतने निर्वृतिं निरवदयते शिष्य-
मभ्युप दधाति नैर्वृतो वै पाशः साक्षादेवैनं निर्वृति-
पाशात् मुञ्चति तिस्र उप दधाति त्रैधाविहितो वै
पुरुषो यावानेव पुरुषस्तस्मात् निर्वृतिमव यजते
पराचीरुप ॥ ३ ॥

दधाति पराचीमेवास्मात् निर्वृतिं प्रणदते
ऽप्रतीक्षम् आ यन्ति निर्वृत्याः अन्तर्हित्यै मार्जयित्वोप
तिष्ठन्ते मेध्यत्वाय गार्हपत्यमुप तिष्ठन्ते निर्वृतिर्लोक
एव चरित्वा पूता देवलोकमुपावर्तन्ते एकयोप तिष्ठन्ते
एकधैव यजमाने वीर्यं दधति निवेशनः सङ्गमनो
वह्नामित्याह प्रजा वै पशवो वसु प्रजयैवैनं पशुभिः
समर्धयन्ति* ॥ ४ ॥

चतुर्भिः । एषा । पराचीरुप । अष्टाचत्वारिंशच्च ॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके
चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयद्वितीयप्रपाठकस्य पञ्चमानवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

पुरुषमाचेण वि मिमीते यज्ञेन वै पुरुषः सम्मितो
यज्ञपुरुषैवेन वि मिमीते यावान् पुरुष ऊर्ध्वबाहु-
स्तावान् भवति एतावद्वै पुरुषे वीर्यं वीर्यैरेवेन
वि मिमीते पक्षी भवति न हि अपक्षः पतितमर्हति
अरत्निना पक्षौ द्राघीयांसौ भवतस्तस्मात्-पक्षप्र-
वयांसि वयांसि व्याममाचौ पक्षौ च पुच्छश्च भवति
एतावद्वै पुरुषे वीर्यं ॥ १ ॥

वीर्यैस्समितो वेणुना वि मिमीते आग्नेयो वै वेणुः
सयोनित्वाय यजुषा युनक्ति यजुषा कृषति व्यावृच्यै
षड्गवेन कृषति षड्वा ऋतवः ऋतुभिरेवेन कृषति
यद् द्वादशगवेन संवत्सरेणैव द्वयं वै अग्नेरतिदाहा-
द्विभेत् सा एतद्विगुणमपश्यत् कृष्टञ्चाकृष्टञ्च ततो वै
दुर्मां न अत्यदहत् यत्कृष्टञ्चाकृष्टञ्च ॥ २ ॥

भवत्यस्या अनतिदाहाय द्विगुणं त्वा* अग्निमुद्यन्तु-
मर्हतीत्याहुर्यत् कृष्टञ्चाकृष्टञ्च भवति अग्नेरुद्यत्यै एता-
वन्तो वै पशवो द्विपादश्च चतुष्पादश्च तान् यत् प्राच
उत्सृजेत् रुद्रायापि दध्याद् यद्वक्षिणा पितृभ्यो नि
धुवेत् यत् प्रतीचो रक्षांसि हन्युरुदीच उत्सृजति
एष वै देवमनुष्याणां शान्ता दिक् ॥ ३ ॥

*- 'तु वै' इति पदपाठपाठः ।

तामेवैनान् अनु उत्सृजति अथो खल्विमां दिशम्
 उत्सृजति असौ वै आदित्यः प्राणः प्राणमेवैनान्
 अनु उत्सृजति दक्षिणा पर्यावर्त्तन्ते स्वमेव वीर्यमनु
 पर्यावर्त्तन्ते तस्माद्दक्षिणोऽङ्ग आत्मनो वीर्यावत्तरोऽथो
 आदित्यस्यैवावृतमनु पर्यावर्त्तन्ते तस्मात् पराञ्चः
 पशवो वि तिष्ठन्ते प्रत्यञ्च आ वर्त्तन्ते तिस्रस्तिष्ठः
 सीताः ॥ ४ ॥

कृषति चिहृतमेव यज्ञमुखे वि यातयत्योषधीर्वपति
 ब्रह्मणा अन्नमव रुन्धेऽर्कोऽर्कश्चीयते चतुर्दशभिर्वपति
 सप्त ग्राम्या ओषधयः सप्तारण्या उभयीषामवरुध्यै
 अन्नस्यान्नस्य वपति अन्नस्यान्नस्यावरुध्यै कृष्टे वपति कृष्टे
 हि ओषधयः प्रतितिष्ठन्ति अनुसीतं वपति प्रजात्यै
 द्वादशसु सीतासु वपति द्वादश मासाः संवत्सरः
 संवत्सरेणैवास्मै अन्नं पचति यदग्निचित् ॥ ५ ॥

अनवरुद्धस्य अश्रीयादवरुद्धेन व्यूध्येत ये वनस्पतीनां
 फलग्रहयस्तान्धोऽपि प्रोक्षेदनवरुद्धस्य अवरुध्यै
 दिग्भ्यो लोभ्रान्त्समस्यति दिशामेव वीर्यमवरुध्य दिशां
 वीर्येऽग्निं चिनुते यं द्विष्याद् यच्च स स्यात् तस्यै दिशो
 लोभ्रमाहरेत् इषमूजमहमित आ ददे इति इषमेवोर्जं
 तस्यै दिशोऽव, रुन्धे शोधको भवति यस्तस्यां दिशि

भवति उत्तरवेदिमुप॑ वपति उत्तरवेद्या॑ हि अग्नि-
 स्त्रीयते अथो पशवो वै उत्तरवेदिः पशून्नेवाव॑ रुन्धे
 अथो यज्ञपुरुषोऽनन्तरित्यै* ॥ ६ ॥

च भवति एतावद्द्वै पुरुषे वीर्यं । यत् कृष्टञ्चाक्षष्टञ्च ।
 दिक् । सीताः । अग्निचित् । अव । पञ्चविंशतिश्चे ॥ ५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके
 पञ्चमोऽनुवाकः ॥०॥

अग्ने तव॑ अ॒वो व॒य इति॑ सिक्ता॒ नि व॑पति एतद्द्वै
 अ॒ग्नेवै॑श्वा॒न॒रस्य॑ सू॒क्तः॑ सू॒क्तेनै॒व वै॑श्वा॒न॒रम॑व रुन्धे
 षड्भिर्नि॑ वपति षड्वा कृतवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्नि-
 वैश्वा॒न॒रः साक्षा॑दे॒व वै॑श्वा॒न॒रम॑व रुन्धे समुद्रं॑ वै नाम
 एतच्छन्दः॑ समुद्रमनु॑ प्रजाः प्र जायन्ते यदेतेन॑ सिक्ता
 नि॒व॑पति प्र॒जानां॑ प्र॒जन॑नायेन्द्रः ॥ १ ॥

वृचाय॑ वज्रं॑ प्रा॒ह॒रत् स चे॒धा व्य॑भवत् स्फ्यस्तृतीयः॑
 रथस्तृतीयं॑ यूपस्तृतीयं॑ येऽन्तःश्रुः॑ अशीर्यन्त॑ ताः
 शर्करा॑ अभवन् तच्छर्कराणां॑ शर्करत्वं वज्रो॑ वै
 शर्कराः पशुर॑ग्निर्यच्छर्कराभिर्ग्निं परिमि॑नेति वज्रेणैव॑

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठकस्य पञ्चमवृद्ध-
 सप्तमानुवाक-भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

अस्मै पशून् परि गृह्णाति तस्माद् वज्रेण पशवः परि-
गृहीतास्तस्मात् स्थेयानस्थेयसो नोप हर ते चिसप्ताभिः
पशुकामस्य ॥ २ ॥

परि मिनुयात् सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः प्राणाः
पशवः प्राणैरेवास्मै पशूनव रुन्धे चिणवाभिर्भातव्यवत-
स्त्रिदृतमेव वज्रं सम्भृत्य भ्रातृव्याय प्र हरति स्तृत्यै
अपरिमिताभिः परि मिनुयादपरिमितस्यावरुध्यै यं
कामयेतापशुः स्यादित्यपरिमित्य तस्य शर्कराः सिकता
व्यूहेत् अपरिगृहीत एवास्य विषूचीनः रेतः परा
सिञ्चति अपशुरेव भवति ॥ ३ ॥

यं कामयेत पशुमान्त्यादिति परिमित्य तस्य शर्कराः
सिकता व्यूहेत् परिगृहीते एवास्मै समीचीनः रेतः
सिञ्चति पशुमानेव भवति सौम्या व्यूहति सोमो वै
रैतोधा रेत एव तदधाति गायत्रिया ब्राह्मणस्य गायत्रो
हि ब्राह्मणस्त्रिष्टुभा राजन्यस्य चैष्टुभो हि राजन्यः
शंयुं वार्हस्पत्यं मेधो नोपानमत् सोऽग्निं प्राविशत् ॥ ४ ॥

सोऽग्नेः कृष्णो रूपं कृत्वोदायत् सोऽश्वं प्राविशत्
सोऽश्वस्यावान्तरशफोऽभवत् यदश्वमाक्रमयति य एव
मेधोऽश्वं प्राविशत् तमेवाव रुन्धे प्रजापतिनाग्निश्चेतुष्य
इत्याहुः प्राजापत्योऽश्वो यदश्वमाक्रमयति प्रजापतिनैव

अग्निं चिनुते पुष्करपर्णमुप दधाति योनिवै अग्नेः
पुष्करपर्णः सयोनिस एवाग्निं चिनुतेऽपां पृष्ठमसोत्युप
दधाति अपां वै एतत् पृष्ठं यत् पुष्करपर्णः रूपेणैव
एन्दुप दधाति* ॥ ५ ॥

इन्द्रः । पशुकामस्य । भवति । अविशत् । सयोनिं ।
विशतिश्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके
षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

ब्रह्म जज्ञानमिति रुक्ममुप दधाति ब्रह्ममुखा वै
प्रजापतिः प्रजा असृजत् ब्रह्ममुखा एव तत् प्रजा
यजमानः सृजते ब्रह्म जज्ञानमित्याहु तस्माद् ब्राह्मणो
मुख्यो मुख्यो भवति य एवं वेद ब्रह्मवादिनो वदन्ति
न पृथिव्यां नान्तरिक्षे न दिव्यमिक्षेतव्य इति यत्
पृथिव्यां चिन्वीत पृथिवीः शुचाऽर्पयेत् नौषधयो न
वनस्पतयः ॥ १ ॥

प्र जायेरन् यदन्तरिक्षे चिन्वीत अन्तरिक्षः शुच
अर्पयेत् न वपांसि प्र जायेरन् यद्वि चिन्वीत दिवः

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयद्वितीयप्रपाठकस्य सप्तमाष्टमा
वाक्यभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

शुचा अर्पयेत् न पर्जन्यो वर्षेद् रुक्ममुप दधाति अमृतं
 वै हिरण्यममृते एवाग्निं चिनुते प्रजात्यै हिरण्यमुं
 पुष्पमुप दधाति यजमानलोकस्य विधृत्यै यदिष्टकाया
 आतृक्षमनूपदध्यात् पशूनाञ्च यजमानस्य च प्राणमपि
 दध्यादक्षिणतः ॥ २ ॥

प्राञ्चमुप दधाति दाधार यजमानलोकं न पशूनाञ्च
 यजमानस्य च प्राणमपि दधाति अथो खल्विष्टकाया
 आतृक्षमनूप दधाति प्राणानामुत्सृष्ट्यै द्रुषः चस्कन्दे-
 त्यभि मृशति होत्रासु एवैनं प्रति स्थापयति सुचावुप
 दधात्याज्यस्य पूर्णां कार्क्षर्यमयीं दध्नः पूर्णामौदुम्बरीम्
 इयं वै कार्क्षर्यमयी असावौदुम्बरी इमे एवोप धत्ते
 ॥ ३ ॥

तूष्णीमुप दधाति न हीमे यजुषामुमर्हति दक्षिणां
 कार्क्षर्यमयामुत्तरामौदुम्बरीं तस्मादस्या असावुत्तरा
 आज्यस्य पूर्णां कार्क्षर्यमयीं वज्रो वै आज्यं वज्रः कार्क्षर्यो
 वज्रेणैव यज्ञस्य दक्षिणतो रक्षाः स्यप हन्ति दध्नः पूर्णा-
 मौदुम्बरीं पशवो वै दधि ऊर्क् उदुम्बरः पशुष्टेवोजं
 दधाति पूर्णे उप दधाति पूर्णे एवैनं ॥ ४ ॥

अमुष्मिन्नलोक उप तिष्ठेते विराजि अग्निश्चेतव्य
 इत्याहुः स्रुग्वै विराट् यत् सुचावुपदधाति विराजि

एवामिं चिनुते यज्ञमुखे यज्ञमुखे वै क्रियमाणे यज्ञः
 रक्षाःसि जिघाःसन्ति यज्ञमुखः रुक्मो यद् रुक्मं
 व्याधारयति यज्ञमुखादेव रक्षाःस्यप हन्ति पञ्चभि-
 र्व्याधारयति पांक्तौ यज्ञो यावानेव यज्ञस्तस्माद्
 रक्षाःस्यप हन्ति अक्ष्णया व्याधारयति तस्मादक्ष्णया,
 पृश्नवोऽङ्गानि प्र हरन्ति प्रतिष्ठित्यै* ॥ ५ ॥

वनस्पतयः । दक्षिणतः । धत्ते । एवैनं । तस्माद-
 क्ष्णया । पञ्च च ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके
 सप्तमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

स्वयमातृष्णामुप दधाति इयं वै स्वयमातृष्णा इमामेव
 उप धत्तेऽश्वमुप प्रापयति प्राणमेवास्यां दधाति अथो
 प्राजापत्यो वै अश्वः प्रजापतिनैवामिं चिनुते प्रथमे-
 ष्टकोपधीयमाना पशूनाञ्च यजमानस्य च प्राणमपि
 दधाति स्वयमातृष्णा भवति प्राणानामुत्सृज्यै अथो
 सुवर्गस्य लोकस्यानुत्थात्यै अग्नावग्निश्चेतव्य इत्याहु-
 रेष वै ॥ १ ॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयद्वितीयप्रपाठकस्य अष्टम-
 नवमानुवाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

अग्निर्वैश्वानरो यद् ब्राह्मणस्तस्मै प्रथमामिष्टकां
यजुष्कृतां प्रयच्छेत् तां ब्राह्मणश्चापदध्यातामग्नावेव
तदग्निं चिनुत ईश्वरो वा एषं आर्तिमार्त्तोर्थोऽ
विद्वानिष्टकाम् उप दधाति चीन् वरान् दद्यात् चयो वै
प्राणाः प्राणानां स्मृत्यै दावेव देयौ द्वौ हि प्राणावेक
एव देय एको हि प्राणः पशुः ॥ २ ॥

वा एष यदग्निं न खलु वै पशव आर्यवसे रमन्ते
दूर्वेष्टकामुप दधाति पशूनां धृत्यै दाभ्यां प्रतिष्ठित्यै
काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्तीत्याह काण्डेन काण्डेन
ह्येषा प्रतितिष्ठति एवा नो दूर्वे प्र तनुं सहस्रेण शतेन
चेत्याह साहस्रः प्रजापतिः प्रजापतेरास्यै देवलक्ष्मं
वै व्यालिखिता तामुत्तरलक्ष्माणं देवा उप आ दधत
अधरलक्ष्माणमसुरा यं ॥ ३ ॥

कामयेत् वसीयान्त्स्यादित्युत्तरलक्ष्माणं तस्योप
दध्याद्वसीयानेव भवति यं कामयेत् पापीयान्त्स्यादि-
त्यधरलक्ष्माणं तस्योप दध्यादसुरयोनिमेवैनमनु परा
भावयति पापीयान् भवति व्यालिखिता भवति इमे वै
ल्लोकास्त्र्यालिखितैभ्य एव ल्लोकेभ्यो भ्रातृव्यमन्तरेति
प्रजिरसः सुवर्गं लोकं यतः पुरोडाशः कूर्मो भूत्वाऽनु
१ असर्पत् ॥ ४ ॥

यत् कूर्ममुप दधाति यथा स्त्रेचविदञ्जसा नयत्येव-
मेवैनं कूर्मः सुवर्गं लोकमञ्जसा नयति मेधो वा एष
पशूनां यत् कूर्मो यत् कूर्ममुपदधाति स्वमेव मेधं
पश्यन्तः पशव उप तिष्ठन्ते श्मशानं वा एतत् क्रियते
यन्मृतानां पशूनां शीर्षाण्युपधीयन्ते यज्जीवन्तं कूर्म-
मुपदधाति तेनाश्मशानचिद्वास्तव्यो वा एष यत् ॥ ५ ॥

कूर्मो मधु वाता ऋतायत इति दध्ना मधुमिश्रेणाभ्य-
नक्ति स्वदयत्येवैनं ग्राम्यं वा एतदन्नं यद्दधारण्यं मधु
यद्दध्ना मधुमिश्रेणाभ्यनक्ति उभयस्यावरुध्यै मही द्यौः
पृथिवी च न इत्याह आभ्यामेवैनमुभयतः परि गृह्णाति
प्राञ्चमुप दधाति सुवर्गस्य लोकस्य समर्थ्यै पुरस्तात्
प्रत्यञ्चमुप दधाति तस्मात् ॥ ६ ॥

पुरस्तात् प्रत्यञ्चः पशवो मेधमुप तिष्ठन्ते यो वा अप-
नाभिमग्निं चिनुते यजमानस्य नाभिमनु प्र विंशति स
एनमीश्वरो हिंसितोरुलूखलमुप दधात्येषा वा अग्ने-
र्नाभिः सनाभिमग्निं चिनुतेऽहिंसायै औदुम्बरं
भवत्युर्वा उदुम्बर ऊर्जमेवावरुन्धे मध्यत उप दधाति
मध्यत एवास्मै ऊर्ज दधाति तस्मात् मध्यत ऊर्जा
मुञ्जते इयङ्गवति प्रजापतिना यज्ञमुखेन समितुमव
हन्त्यन्नमेवाकर्वैष्णव्या ऋचा उप दधाति विष्णुर्वै यज्ञो

वैष्णवा वनस्पतयो यज्ञ एव यज्ञं प्रति स्थापयति* ॥ ७ ॥

एष वै । पशुः । अयं । सर्पत् । एष यत् । तस्मात् ।
सप्तविंतिश्च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके
अष्टमोऽनुवाकः ॥०॥

एषां वा एतल्लोकानां ज्योतिः सम्भृतं यदुखा
यदुखामुपदधात्येभ्य एव लोकेभ्यो ज्योतिरव रुन्धे मध्यत
उप दधाति मध्यत एवास्मै ज्योतिर्दधाति तस्मात्
मध्यतो ज्योतिरुपास्महे सिकताभिः पूरयत्येतद्वा अग्ने-
वैश्वानरस्य रूपः रूपेणैव वैश्वानरमव रुन्धे यं कामयेत्
क्षोधुकः स्यादित्यूनां तस्योप ॥ १ ॥

दध्यात् क्षोधुक एव भवति यं कामयेतानुपदस्यत्
अन्नमद्यादिति पूर्णां तस्योप दध्यादनुपदस्यदेवान्नमत्ति
सहस्रं वै प्रति पुरुषः पशूनां यच्छति सहस्रमन्ये पशवो
मध्ये पुरुषशीर्षमुप दधाति सवीर्यत्नायोखायामपि
दधाति प्रतिष्ठामेवैनन्नमयति व्यृङ् वा एतत्प्राणैरमेध्यं
यत् पुरुषशीर्षममृतं खलु वै प्राणाः ॥ २ ॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डोद्दितीयप्रपाठकस्य नवमानुवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

प्राचीरुपं दधाति पश्चाद्वै प्राचीनः५ रेतो धीयते पश्चा-
देवास्मै प्राचीनः५ रेतो दधाति पञ्च पुरस्तात् प्रतीची-
रुपं दधाति पञ्च पश्चात् प्राचीस्तस्मात् प्राचीनः५ रेतो
धीयते प्रतीचीः प्रजा जायन्ते पञ्चोत्तरतश्छन्दस्याः
पशवो वै छन्दस्याः पशून्नेव प्रजातान्स्वमायतनमभि
पर्यूहते इयं वा अग्नेरतिदाहादबिभेत् सैताः ॥ २ ॥

अपस्या अपश्यत् ता उपधात् ततो वा इमान्नात्य-
दहद् यदपस्या उपदधात्यस्या अनतिदाहायोवाचं
हेयमदद् इत् स ब्रह्मणाऽन्नं यस्यैता उपधीयान्तै य उ
चैना एवं वेददिति प्राणमृत उप दधाति रेतस्येव प्राणान्
दधाति तस्माददन् प्राणन् पश्यन् शृण्वन् पशुर्जायते-
ऽयं पुरः ॥ ३ ॥

भुव इति पुरस्तादुप दधाति प्राणमेवैताभिर्दाधा-
रायं दक्षिणा विश्वकर्मेति दक्षिणतो मन एवैताभि-
र्दाधारायं पश्चाद्विश्वव्यचा इति पश्चाच्चक्षुरेवैताभि-
र्दाधारेदमुत्तरात् सुवरित्युत्तरतः ओचमेवैताभिर्दा-
धारेयमुपरि मतिरित्युपरिष्ठाद्वाचमेवैताभिर्दाधार दश
दशोप दधाति स वीर्यत्वायाक्षण्या ॥ ४ ॥

उप दधाति तस्मादक्षण्या पशवोऽङ्गानि प्र हरन्ति
प्रतिष्ठित्यै याः प्राचीस्ताभिर्बसिष्ठ आर्धोत् या दक्षिणा

ताभिर्भरद्वाजो याः प्रतीचिस्ताभिर्विश्वामित्रो या
उदीचीस्ताभिर्जमदग्निर्या ऊर्ध्वास्ताभिर्विश्वकर्मा य
एवमेतासामृद्धिं वेदध्नीत्येव य आसामेवं बन्धुतां वेद
बन्धुमान् भवति य आसामेवं क्लृप्तिं वेद कल्पते ॥ ५ ॥

अस्मै य आसामेवमायतनं वेदायतनवान् भवति
य आसामेवं प्रतिष्ठां वेद प्रत्येव तिष्ठति प्राणधृत उप-
धाय संयत उप दधाति प्राणानेवास्मिन्धित्वा संयद्धिः
सं यच्छति तत् संयताः संयत्त्वमथो प्राण एवापानं
दधाति तस्मात् प्राणापानौ सं चरतो विषूचीरुप दधाति
तस्माद्विष्टं चो प्राणापानौ यद्वै अग्नेरसंयतम् ॥ ६ ॥

असुवर्ग्यमस्य तत् सुवर्ग्योऽग्निर्यत् संयत उप दधाति
समेवेनं यच्छति सुवर्ग्यमेवाकस्त्यविर्वयः कृतमयाना-
मित्याह वयोभिर्वायानव रुन्धे अयैर्वयाःसि सर्वतो
वायुमतीर्भवन्ति तस्मादयः सर्वतः पवते* ॥ ७ ॥

पुश्चात् । एताः । पुरः । अक्षण्या । कल्पते । संयतम् ।
पञ्चविंशच्च ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके
दशमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमद्वितीय-
द्वितीयानुवाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

गायत्री चिष्टुप् जगत्यनुष्टुप् पंक्त्या सह । बृहत्यु-
 ष्णिहा ककुत् सूचीभिः शिम्यन्तु त्वा^(१) । द्विपदा या
 चतुष्पदा चिपदा या च षट्पदा । सच्छन्दा या च
 विच्छन्दाः सूचीभिः शिम्यन्तु त्वा^(२) । महानाम्नी रेव-
 तयो विश्वा आशाः प्रसूवरीः । मेध्या विद्युतो वाचः
 सूचीभिः शिम्यन्तु त्वा^(३) । रजता हरीणोः सीसा
 युजो युज्यन्ते कर्मभिः । अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सूचीभिः
 शिम्यन्तु त्वा^(४) । नारीः ॥ १ ॥

ते पत्नयो लोम वि चिन्वन्तु मनीषया । देवानां
 पत्नीर्दिशः सूचिभिः शिम्यन्तु त्वा^(५) । कुविद्भू यवमन्तो
 यवंचिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय । इहेहैषां कृणुत
 भोजनानि ये बर्हिषो नमो वृक्तिं न जग्मुः^(६) ॥ २ ॥

नारीः । चि०शच्च ॥ ११ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके
 एकादशोऽनुवाकः ॥०॥

यस्य निश्चितं वेदा यो वेदेभ्योऽस्मिन् जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

उत्थाग्निः प्रथमे प्रोक्तो द्वितीये चित्युपक्रमः ।

द्वादशाक्षानुवाका खुरासन्धां वज्रवस्थितिः ॥

वात्सप्रेणायुपस्थानं प्रथमे समुदीरितम् ।

द्वितीये त्वख्यनयनं गार्हपत्यं चिनोति हि ॥

दत्तमीये तु चतुर्थे तु उख्यामिं तच्च संवयेत् ॥
 यश्चमे छवति लेचं षष्ठेऽच सिकतादिकम् ॥
 चपेद्, इक्ष्माद्युपादध्यात् सप्तमे, षाष्टमे पुनः ॥
 स्थापयेत् स्वयमादण्यसुखादीन्वमे तथा ॥
 .अपस्याश्च प्राणभृतः तथोपानभृतश्चितौ ।
 प्रथमायासुपादध्यात् दशमे तत्समीरितम् ॥
 एकादशदादशौ तु विज्ञेयावाश्वमेधिकौ ।
 अश्वस्यासिपथाः कल्या गायत्रीत्यादिमन्त्रकैः ॥
 कल्हेत्यसिपथे क्लिप्ता त्वरमाकृत्यतो द्वयम्* ॥

कल्पः,—‘गायत्री त्रिष्टुबिति द्वाभ्यां सौवर्ण्यीभिः सूचीभिः[†]
 महिषी अश्वस्यासिपथान् कल्पयति प्राक् क्रोडात्’ इति । राज्ञः पत्न्यः
 त्रिविधाः,—उत्तमा मध्यमा अधमा चेति, ताश्च, महिषी वावाता
 परिवृत्तीत्येतन्नामधेयाः, ताश्च मृतस्याश्वस्यासिना क्केदनाय तत्तत्-
 स्थानेषु रेखाः सूचीभिः कुर्युः ।

तच्च महिष्याः प्रथमामृचमाह,—“गायत्री त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप्
 पङ्क्त्या सह । वृहती उष्णिहा ककुत् सूचीभिः श्रिम्यन्तु त्वा^(१)” इति ।
 गायत्र्यादिककुदन्तैः शब्दैः अभिधेयाः कन्दोदेवताः, हे अश्व, त्वां
 सौवर्ण्यसूचीभिः ‘श्रिम्यन्तु’ लिखन्तु ।

अथ द्वितीयामृचमाह,—“द्विपदा या चतुष्पदा त्रिपदा या च

* “कल्हेत्यसिपथेऽश्वस्याच्चेत्त्वचं कृत्यतो द्वयम्” (१) इति आदर्शपुस्तक-
 पाठः ।

† “सूचितसूचीभिः” इति आदर्शपुस्तके पाठः ।

षट्पदा । सख्ण्दा या च विख्ण्दाः सूचीभिः शिम्यन्तु त्वा^(१)” इति ।
द्विपदादिरूपाणां मन्त्राणामभिमानिन्यः तन्नामिका देवताः त्वां
सूचीभिः ‘शिम्यन्तु’ लिखन्तु ।

कल्पः,—‘एवमुत्तराभ्यां राजतीभिर्वावाता प्रत्यक् क्रोडात् प्राङ्
नाभेः’ इति । यथा महिषी क्रोडात् प्राचीने मुखभागे लिखति,
एवं वावाता क्रोड़नाभ्योर्मध्ये अनन्तरभाविना मन्त्रद्वयेन लिखेत् ।

तत्र प्रथमानुष्ठुपमाह,—“महानाक्षी रेवतयो विश्वा आशाः प्रसूवरीः ।
मेघा विद्युतो वाचः सूचीभिः शिम्यन्तु त्वा^(१)” इति । महत्
प्रोङ्,—देवेषु अत्यन्तं प्रसिद्धं, नाम यासां देवतानां ता महानाक्षः,
एतन्नामधेयाः कास्त्रिदेवताः, तथा, ‘रेवतयः’ धनवत्यः एतन्नामिका
देवताः, तथा, ‘प्रसूवरीः’ सर्वप्रसवहेतुभूताः, ‘विश्वा आशाः’ सर्वा
दिग्गः दिग्देवताः, तथा, मेघेषु भवा ‘मेघाः’ विद्युदभिमानिन्यो
देवताः, तथा, ‘वाचः’ गर्जनाभिमानिन्यो देवताः, हे अश्व, त्वां
राजतीभिः ‘सूचीभिः शिम्यन्तु’ ।

अथ द्वितीयानुष्ठुपमाह,—“रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते
कर्मभिः । अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सूचीभिः शिम्यन्तु त्वा^(१)” इति ।
‘रजताः’ रौप्याः, ‘हरिणीः’ हिरण्मयाः, ‘सीसाः’ लोहमयः, ‘युजः’
लेखनकर्मयोग्याः सूच्यः, अत एव ‘वाजिनः’ अश्वहेतोः ‘अश्वस्य’
‘त्वचि’, कर्मभिः लेखनादिव्यापारैः ‘युज्यन्ते’, तादृशीभिः सूचीभिः,
हे अश्व, त्वां लेखनकुशला देवताः ‘शिम्यन्तु’ ।

कल्पः,—‘एवमुत्तराभ्यां सौहीभिः सीसाभिर्वा परिरुक्तीति
शेषम्’ इति ।

तच्च प्रथमामृतचमाह,—“नारीस्तो पत्नयो लोम वि चिह्नन्तु मनीषया । देवानां पत्नीर्दिशः स्रुचीभिः शिष्यन्तु त्वा^(१)” इति । हे अश्व, ‘नारीः’ महिष्यादयो नार्यः, ‘पत्नयः’ राजपत्न्यः ताः, ‘मनीषया’ खलुद्ध्या, लोमानि ‘वि’-‘चिह्नन्तु’ अक्षिपथसिद्धये त्वदीयं लोमजातम् अपनयन्तु पृथक् कुर्वन्तु । तथा ‘देवानां पत्नीः’ “सेनेन्द्रस्य (आ० ३ प्र० ८ अ०)” इत्याद्यनुवाकोक्ता देवपत्न्यः, तथा, ‘दिशः’ दिग्देवताः, ‘स्रुचीभिः’ स्रौचीभिः एताभिः त्वां ‘शिष्यन्तु’ ।

अथ द्वितीयामृतचमाह,—“कुविदङ्ग यवमन्नो यवस्त्रिषथा दान्यमुपूर्वं वि-यूथ । इहेहैषां कृणुत भोजनानि ये वर्हिषो नमोवृत्तिं न जग्मुः^(२)” इति । अङ्गशब्दः प्रियसम्बोधनवाची,* हे प्रियाः, अश्वमेधहविर्भाजो देवाः, ये यज्वानः, ‘वर्हिषः’ यागस्य ‘नमोवृत्तिं’ नमस्कारविनाशनं ‘न जग्मुः’ न प्रापुः, किन्तु अत्यन्तश्रद्धालवोऽनु-तिष्ठन्ति, तेषाम् ‘एषां’ यज्वनां हविर्विषयाणि ‘भोजनानि’ ‘इहेह’ ‘कृणुत’, यज्ञानामेकैकत्वे† वीप्सा । तत्रोपमानमुच्यते,—कुविच्छब्दो बह्वर्थवाची, चिच्छब्दः समुच्चये, यथा लोके ‘यवमन्नः’ यवादिधान्योपेताः कृषिकाः ‘कुवित्’ ‘चित्’ ‘यवं’ बहुलं यवं अन्यानि च गोधूमप्रियङ्ग्वद्विधान्यानि, ‘अनुपूर्वं’ तत्तत्परिपाकानुक्रमेण ‘वि-यूथ’ इदं पक्वमिदमपक्वमिति विशेषेण पृथक्कृत्य, ‘दान्ति’ लुनन्ति, तथा यूथमपि, नमस्कारादिरहितः नास्तिकोऽयं यज्वा, श्रद्धालुरयं यज्वेति विविच्य श्रद्धालोर्हवींषि भुङ्ध्वम् ॥

* ‘प्रियासम्बोधनवाची’ इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

† ‘एकैकत्वं वीप्सा’ इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

अथ विनियोगसंग्रहः,—

गाय,—द्वाभ्यान् मद्दिषी, वावाता तु महा,—दद्यात् ।

परिदृष्टी तु ना,—द्वाभ्यां कल्पयेद्युरसेः पथः ॥

इति श्रीसायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥०॥

कस्त्वा इति कस्त्वा वि शास्ति कस्ते गात्राणि
शिम्यति । क उ ते शमिता कविः^(१) । कृतवस्ते कृतुधा
परुः शमितारो वि शासतु । संवत्सरस्य धार्यसा
शिमीभिः शिम्यन्तु त्वा^(२) । दैव्या अर्धवस्त्वा इन्तु
वि च शासतु । गात्राणि पर्वशस्ते शिमाः कृण्वन्तु
शिम्यन्तः^(३) । अर्धमासाः परुःसि ते मासाश्चरन्तु
शिम्यन्तः । अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं ॥ १ ॥

सुदयन्तु ते^(४) । पृथिवी तेऽन्तरिक्षेण वायुश्चिद्रं
भिषज्यतु । द्यौस्ते नक्षत्रैः सह रूपं कृणोतु साधुया^(५) ।
शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः । शमस्त्वभ्यो
मृज्जभ्यः शमु ते तनुवे भुवत्^(६) ॥ २ ॥

विलिष्टं । चिःशच्च ॥ १२ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके
द्वादशोऽनुवाकः ॥०॥

विष्णुमुखा । अन्नपते । यावती । वि वै । पुरुषमा-
 चेण । अग्ने तव अवी वायो । ब्रह्म ज्ञानः । स्वयमातृ-
 क्षाम् । एषां वै । पशुः । गायत्री । कत्वा । द्वादश ॥
 ॥ १२ ॥

विष्णुमुखा (१।१) । अपचितिमान् (२।४) । वि वा
 एतौ (४।१) । अग्ने तव (६।१) । स्वयमातृक्षां (८।१) ।
 विष्णुचीनानि (९।४) । गायत्री (११।१) । चतुःषष्टिः ॥
 ॥ ६४ ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमाष्टके द्वितीयः प्रश्नः ॥

॥०॥ हरिः ओम् ॥०॥

एकादशानुवाके सूचीभिरसिपथा कृत्तिरभिहिता* । अथ द्वादशे
 विशसनमुच्यते ।

कल्पः,—‘कत्वा छति कत्वा विशास्तीत्यश्वस्य त्वचमाच्छति’ इति ।
 तस्मिन्ननुवाके प्रथमाष्टकमाह,—“कत्वा छति कत्वा वि शास्ति
 कस्ते गात्राणि श्रिम्यति । क उ ते श्रमिता कविः^(१)” इति । हे अश्व,
 त्वां ‘कः’ प्रजापतिः “छति” क्षिनत्ति, क्षित्वा च अनन्तरं ‘कः’
 प्रजापतिरेव त्वां ‘वि शास्ति’ त्वदवयवान् विभज्य स्थापयतिः, ततः
 ‘कः’ प्रजापतिरेव ‘ते गात्राणि’ अवयवान् ‘श्रिम्यति’ श्रमयति,
 सुरक्षितानि करोतीत्यर्थः । ‘कविः’ विद्वान् अनर्थज्ञः क्लेशनाभिज्ञः

* ‘असिपथकृत्तिरभिहिता’ इतिः का० श्री० पाठः ।

‘क’ ‘उ’ प्रजापतिरेव ‘ते’ तव ‘शमिता’ न तु इतरपशुवदन्यः
कश्चिन्मनुष्यः ।

द्वितीयामृचमाह,—“ऋतवस्ते ऋतुधा परः शमितारो वि शासतु ।
संवत्सरस्य धायसा शिमीभिः शिन्त्यन्तु त्वा^(१)” इति । ‘ऋतवो’ वसन्ता-
दयो देवाः, ‘शमितारो’ भूत्वा, ‘ऋतुधा’ तत्तद्दृतुकाले ‘ते’ ‘परः’
त्वदीयं पर्व ‘वि शासतु’ विविधं स्थापयन्तु । ‘संवत्सरस्य धायसा’
धारणेन ‘शिमीभिः’ शमनहेतुभिः क्रियाभिः ‘त्वा’ त्वां ‘शिन्त्यन्तु’
शमयन्तु, ऋतुदेवा एव संवत्सरधारकाः सन्तः तत्तत्कालोचितव्यापारैः
त्वां देवयोग्यं कुर्वन्वित्यर्थः ॥

तृतीयामृचमाह,—“दैव्या अर्ध्वयवस्त्वा कन्तु वि शासतु ।
गात्राणि पर्वशस्ते शिमाः कृण्वन्तु शिन्त्यन्तः^(१)” इति । देवेषु भवाः
‘दैव्याः’ ‘अर्ध्वयवो’ द्युप्रभृतयः, ‘द्यौरर्ध्वयुः’ अग्निनावर्ध्वयुं सत्यहवि-
रर्ध्वयुः इति श्रुतेः । तादृशाः सर्वे त्वां ‘कन्तु’ शस्तेण हिन्दन्तु,
किञ्च, ‘वि शासतु’ विविधं स्थापयन्तु । ‘शिमाः’ शमनहेतवः सन्तः
‘ते’ ‘गात्राणि’ त्वदीयान् अवयवान् ‘पर्वशः’ तत्तत्पर्वानुसारेण
‘शिन्त्यन्तः’ शमयन्तः रक्षन्तः ‘कृण्वन्तु’ तत्र-तत्रोचितं व्यापारं कुर्वन्तु ।

चतुर्थीमृचमाह,—“अर्धमासाः परूषि ते मासाश्चरन्तु
शिन्त्यन्तः । अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं सृदयन्तु ते^(४)” इति ।
‘अर्धमासाः’ ‘मासाः’ च देवाः ‘ते’ ‘परूषि’ ‘शिन्त्यन्तः’ शमयन्तो रक्षन्तः
‘कन्तु’ हिन्दन्तु । तथा, ‘अहोरात्राणि’ तदभिमानिनी देवता ‘मरुतः’
च ‘ते’ सर्वेऽपि ‘विलिष्टं’ विनाशितमङ्गं ‘सृदयन्तु’ स्वादु कुर्वन्तु ॥

पञ्चमीमृचमाह,—“पृथिवी अन्तरिक्षेण वायुम्बिह्नं भिषज्यतु ।

द्यौश्चे मन्त्रैः सह रूपं कृणोतु साधुया”^(५) इति । हे अश्व, ‘ते’ ‘क्षिद्रं’ त्वदीयं विगृह्य अङ्गम्, ‘अन्तरिक्षेण’ सहिता ‘पृथिवी’ ‘भिषज्यतु’ समादधातु, ‘वायुः’ च ‘भिषज्यतु’ । इयं ‘द्यौः’ ‘मन्त्रैः’ सहिता ‘ते’ ‘रूपं’ त्वदीयं स्वरूपभूतमिदं हविः ‘साधुया’ साधु समीचीनं यथा भवति, तस्या ‘कृणोतु’ करोतु ।

षष्ठीवृत्तमाह,—“शन्ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्वरेभ्यः । शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शसु ते तनुवे भुवत्^(१)” इति । हे अश्व, ते ‘तव’ ‘परेभ्यः’ ‘गात्रेभ्यः’ उत्कृष्टेभ्योऽवयवेभ्यः, ‘शं’ सुखं अस्तु ; तथा ‘अवरेभ्यः’ निकृष्टेभ्यः अवयवेभ्यः ‘शमस्तु’ । तथा ‘अस्थभ्यः’ त्वदीयेभ्योऽस्त्रिभ्यः, ‘मज्जभ्यः’ च ‘शम्’ अस्तु । तथा ‘ते’ ‘तनुवे’ शरीराय ‘शसु’ ‘भुवत्’ सुखमेव भवतु ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः—

कस्त्रेति मन्त्रषट्केन ह्यश्वस्य त्वत्तमाच्छ्रति ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो ह्यार्दे विनाशयन् ।

पुमर्थाच्चतुरो देयादिद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे द्वितीयप्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः ॥०॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्क-
भूपाक्षसाध्वज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थ-
प्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे द्वितीयः प्रपाठकः
सम्पूर्णः ॥०॥

॥ ॐ तत्सत् ॥०॥

॥०॥ श्रीगणेशायः नमः ॥०॥

अथ तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये

पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।

उत्सन्नयज्ञो वा एष यदग्निः किं वा अर्हैतस्य क्रियते
किं वा न यद्वै यज्ञस्य क्रियमाणस्यान्तर्यन्ति पूयति वै
अस्य तदाश्विनिरूपं दधात्यश्विनौ वै देवानां भिषजौ
ताभ्यामेवासौ भेषजं करोति पञ्चोपं दधाति पाङ्क्तौ
यज्ञो यावानेव यज्ञस्तस्मै भेषजं करोत्यृतव्या उप दधा-
त्यृतूनां कृत्यै ॥ १ ॥

पञ्चोपं दधाति पञ्च वै कृतवो यावन्त एव कृतव-
स्तान् कल्पयति समानप्रभृतयो भवन्ति समानोदर्का-
स्तस्मात् समाना कृतव एकेन पदेन व्यावर्तन्ते तस्मादृ-
तवो व्यावर्तन्ते प्राणभृत उपदधात्यृतुष्वेव प्राणान्
दधाति तस्मात् समानाः सन्त कृतवो न जीर्यन्त्यथो
प्र जनयत्येवैनानेष वै वायुर्यत् प्राणो यदृतव्या उप-
धाय प्राणभृतः ॥ २ ॥

उप॒दधा॑ति॒ तस्मा॑त् स॒र्वी॒मृ॒तून् न॑ वा॒युरा व॑रीव॒र्ति
 वृ॒ष्टि॒सनी॑रुप॒ दधा॑ति॒ वृ॒ष्टि॒मे॒वाव॑ क॒न्धे यदे॑क॒धोप॑द॒ध्या-
 दै॒क॒मृ॒तुं व॑र्षे॒दनु॑परि॒हार॑ः सा॒दय॑ति॒ तस्मा॑त् स॒र्वी॒मृ॒तून्
 व॑र्षति॒ यत् प्रा॑ण॒मृत॑ उप॒धाय॑ वृ॒ष्टि॒सनी॑रुप॒दधा॑ति॒
 तस्मा॑द् वा॒युप्र॑च्युता दि॒वो वृ॒ष्टि॒री॒र्त्ते प॑श॒वो वै व॑य॒स्या
 ना॒ना॒मन॑सः॒ खलु॑ वै प॒श॒वो ना॒ना॒व्रता॑स्तेऽप॒ ए॒वाभि॑
 सम॑नसः ॥ ३ ॥

य॒ज्ञा॒मये॑ताप॒शुः स्या॑दिति॒ वय॑स्या॒स्तस्यो॑प॒धाय॑
 अप॒श्या॑ उप॒ दध्या॑दसं॒ज्ञान॑मे॒वास्मै॑ प॒शुभिः॑ क॒रोत्य॑प॒शु-
 रे॒व भ॑वति॒ य॒ज्ञा॒मये॑त प॒शुमा॑न्त्या॒दित्य॑प॒स्यास्तस्यो॑प॒-
 धाय॑ वय॒स्या उप॒ दध्या॑त् सं॒ज्ञान॑मे॒वास्मै॑ प॒शुभिः॑
 क॒रोति॑ प॒शुमा॑ने॒व भ॑वति॒ चत॑स्रः पुर॒स्तादु॑प॒ दधा॑ति॒
 तस्मा॑च्च॒त्वारि॒ चक्षु॑षो रू॒पाणि॑ दे॒ श॒क्ते दे॒ कृ॒ष्णे ॥ ४ ॥

मू॒र्ध॒न्वती॑र्भवन्ति॒ तस्मा॑त् पुर॒स्तान् मू॒र्धा प॑ञ्च दक्षि॒णा-
 याः॑ ओ॒ग्यामु॑प॒ दधा॑ति॒ पञ्चो॑त्तर॒स्यां त॑स्मा॒त् प॑ञ्चाद्
 व॒र्यी॑षान् पुर॒स्तात् प्र॑वणः प॒शुर्व॑स्तो वय॒ इति॑ दक्षि॒णे-
 ऽ॒सेऽ॒प॒ दधा॑ति॒ वृ॒ष्णिर्व॑य॒ इत्यु॑त्त॒रेऽ॒सावे॑व प्र॒ति दधा॑ति॒
 व्या॒घ्रो वय॒ इति॑ दक्षि॒णे प॑क्ष॒ उप॒ दधा॑ति॒ सि॒ंहे वय॒

इत्युत्तरे प॒क्षयोरे॒व वी॒र्यं॑ दधा॒ति पु॒रुषो॑ वय॒ इति॑,
मध्ये॒ तस्मात् पु॒रुषः॑ प॒शूना॑मधि॒पतिः॑ ॥ ५ ॥*

ऋ॒त्यै । उ॒प॒धा॒य प्रा॒णभृ॒तः । स॒म॒न॒सः । कृ॒ष्णे । पु॒रुषो॑
वय॒ इति॑ । प॒ञ्च च॑ ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
प्रथमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

इन्द्रा॒ग्नी अ॒व्य॒य॒मा॒ना॒मि॒ति॑ स्व॒य॒मा॒तृ॒ष्णामु॑प॒ दधा॒ती-
न्द्रा॒ग्नि॒भ्यां वा इ॒मौ लो॒कौ वि॒धृ॒ता व॒न॒योर्लो॒कयोर्वि॒धृत्यै॑
अ॒धृ॒ते॒व वा ए॒षा य॒न्म॒ध्य॒मा चि॒तिर॒न्तरि॑क्षमि॒व वा
ए॒षेन्द्रा॒ग्नी इ॒त्याहेन्द्रा॒ग्नी वै दे॒वाना॑मे॒जोभृ॒ता वो॒जसै॒व
ए॒नाम॑न्तरि॒क्षे चि॒नुते॑ धृ॒त्यै स्व॒य॒मा॒तृ॒ष्णामु॑प॒ दधा॒त्यन्त॑-
रि॒क्षं वै स्व॒य॒मा॒तृ॒ष्णाऽन्तरि॑क्षमे॒वोप॑ ध॒त्तेऽश्व॑मु॒प ॥ १ ॥

प्रा॒प॒य॒ति प्रा॒णमे॒वा॒स्थां दधा॒त्यथो॑ प्रा॒जाप॒त्यो वा
अ॒श्वः प्र॒जाप॑ति॒नैवा॒ग्निं चि॒नुते॑ स्व॒य॒मा॒तृ॒ष्णा भ॑वति
प्रा॒णाना॑मु॒त्सृ॒ज्यै अथो॑ सु॒वर्ग॑स्य॒ लोक॑स्यानु॒स्यात्यै॑
दे॒वानां॑ सु॒वर्गं॑ लो॒कं य॒तां दि॒शः स॒म॒ीय॑न्त॒ त ए॒ता

* अस्यानुवाकस्य आख्यानं चतुर्थपञ्चाद्वीयतृतीयप्रपाठकस्य चतुर्थपञ्चमा-
नुवाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

दिश्या अपश्यन् ता उपादधत् ताभिर्वैते दिशोऽहः५ हन्
यदिश्या उपदधाति दिशां विधृत्यै दश प्राणधृतः
पुरस्तादुप ॥ २ ॥

दधाति नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी प्राणा-
नेव पुरस्ताद् धत्ते तस्मात् पुरस्तात् प्राणा ज्योतिष्मती-
मुत्तमामुप दधाति तस्मात् प्राणानां वाग्ज्योतिरुत्तमा
दशोप दधाति दशाक्षरा विराड्विराट् छन्दसां ज्योति-
ज्योतिरेव पुरस्ताद् धत्ते तस्मात् पुरस्ताद् ज्योतिरुपास्महे
छन्दांसि पशुषाजिमयुस्तान् बृहत्युदजयत् तस्माद्
वाहताः ॥ ३ ॥

पशव उच्यन्ते मा छन्द इति दक्षिणत उप दधाति
तस्माद्दक्षिणाहृतो मासाः षष्ठिवी छन्द इति पश्चात्
प्रतिष्ठित्यै अग्निर्देवतेत्युत्तरत ओजो वा अग्निरोज
एवोत्तरतो धत्ते तस्मादुत्तरतोऽभिप्रयायो जयति षट्-
चिः५ शत् सम्पद्यन्ते षट्चिः५ शदक्षरा बृहती वाहताः
पशवो बृहत्यैवासौ पशूनव रन्ध्रे बृहती छन्दसाः
स्वाराज्यं परीयाय यस्यैताः ॥ ४ ॥

उपधीयन्ते गच्छन्ति स्वाराज्यं सप्त वालखिल्याः
पुरस्तादुप दधाति सप्त पश्चात् सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा
बाववाञ्चौ प्राणानां सवीर्यत्वाय मूर्ध्नासि राडिति

पुरस्तादुप दधाति यन्त्री राडिति पश्चात् प्राणान्मेव
अस्मै समीचीं दधाति ॥ ५ ॥*

अश्वमुप । पुरस्तादुप । बाह्वताः । एता । चतु-
स्त्रिंशच्च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

देवा वै यद्यज्ञे अकुर्वन् तदसुरा अकुर्वन् ते देवा एता
अक्ष्णयास्तोमीया अपश्यन् ता अन्यथाऽनूच्यान्यथोपा-
दधत् तदसुरा नान्ववायन् ततो देवा अभवन् परा-
ऽसुरा यदक्ष्णयास्तोमीया अन्यथाऽनूच्यान्द्योपदधाति
भ्रातृव्याभिभूत्यै भवत्यात्मना पराऽस्य भ्रातृव्यो भव-
त्याशुस्त्रिददिति पुरस्तादुप दधाति यज्ञमुखं वै चिद्वत्
॥ १ ॥

यज्ञमुखमेव पुरस्ताद्वि यातयति व्यौम सप्तदश इति
दक्षिणतोऽन्नं वै व्यौम अन्नं सप्तदशोऽन्नमेव दक्षिणतो
धत्ते तस्माद्दक्षिणेनान्नमद्यते धरुण एकविंश इति
पश्चात् प्रतिष्ठा वा एकविंशः प्रतिष्ठित्यै भान्तः पञ्च-
दश इत्युत्तरत ओजो वै भान्तः ओजः पञ्चदश ओज

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठकस्य षष्ठसप्तमादु-
वाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

दुक्तेनरतो धत्ते तस्मादुत्तरतोऽभिप्रयायी जयति
प्रतूर्तिरष्टादश इति पुरस्तात् ॥ २ ॥

उप दधाति द्वौ चिष्टतावभिपूर्वं यज्ञमुखे वि यातयति
अभिवर्तः सविःश इति दक्षिणतोऽन्नं वा अभिवर्तोऽन्नं
सविःशोऽन्नमेव दक्षिणतो धत्ते तस्मादक्षिणेनान्नमद्यते
वर्चो द्वाविःश इति पश्चाद्यदिःशतिर्दे तेन विराजौ
यद्वे प्रतिष्ठा तेन विराजौरेवाभिपूर्वमन्नाद्ये प्रलि
तिष्ठति तपो नवदश इत्युत्तरतस्तस्मात् सव्यः ॥ ३ ॥

हस्तयोस्तपस्वितरो योनिश्चतुर्विःश इति पुरस्ता-
दुप दधाति चतुर्विःशत्यक्षरा गायत्री गायत्री यज्ञमुखं
यज्ञमुखमेव पुरस्ताद् वि यातयति गर्भाः पञ्चविःश इति
दक्षिणतोऽन्नं वै गर्भा अन्नं पञ्चविःशोऽन्नमेव दक्षिणतो
धत्ते तस्मादक्षिणेनान्नमद्यते ओजस्त्रिणव इति पश्चादिमे
वै लोकास्त्रिणव एष्टेव लोकेषु प्रति तिष्ठति सम्भरण-
स्त्रयोविःश इति ॥ ४ ॥

उत्तरतस्तस्मात् सव्यो हस्तयोः सम्भार्थतरः क्रतुरेक-
चिःश इति पुरस्तादुप दधाति वाग्वै क्रतुर्यज्ञमुखं
वाग्यज्ञमुखमेव पुरस्ताद् वि यातयति ब्रध्नस्य विष्टपं चतु-
स्त्रिःश इति दक्षिणतोऽसौ वा आदित्यो ब्रध्नस्य विष्टपं
ब्रह्मवर्चसमेव दक्षिणतो धत्ते तस्मादक्षिणोऽर्चो ब्रह्म-

वचसितरः प्रतिष्ठा चयस्त्रिंश इति पञ्चात् प्रतिष्ठितौ
नाकः षट्स्त्रिंश इत्युत्तरतः सुवर्गो वै, लोको नाकः
सुवर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै ॥ ५ ॥*

वै चिद्वत् । इति पुरस्तात् । सव्यः । चयोविंश
इति । सुवर्गो वै । पञ्च च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
तृतीयोऽनुवाकः ॥०॥

अग्नेर्भागोऽसीति पुरस्तादुप दधाति यज्ञमुखं वा
अग्निर्यज्ञमुखं दीक्षा यज्ञमुखं ब्रह्म यज्ञमुखं चिद्वद्यज्ञ-
मुखमेव पुरस्तादि यातयति नृचक्षसां भागोऽसीति
दक्षिणतः अश्रुवांसो वै नृचक्षसेऽन्नं धाता जातायैव
अस्मै अन्नमपि दधाति तस्माज्जातोऽन्नमस्ति जनिच-
स्पृतः सप्तदशस्तोम इत्याहान्नं वै जनिचः ॥ १ ॥

अन्नः सप्तदशोऽन्नमेव दक्षिणतो धत्ते तस्मादक्षिणेन
अन्नमद्यते मिचस्य भागोऽसीति पञ्चात् प्राणो वै मिचो-
ऽपानो वह्णः प्राणापानावेवास्मिन् दधाति दिवो
वृष्टिर्वाताः स्पृता एकविंशस्तोम इत्याह प्रतिष्ठा वा

* अथानुवाकस्य आख्यानं चतुर्थकाण्डेयतृतीयप्रपाठकस्य अष्टमानुवाक-
भाष्ये प्रकृतम् ।

एकविंशः प्रतिष्ठित्यै इन्द्रस्य भागोऽसीत्युत्तरतो योजो
वा इन्द्र योजो विष्णुरोजः क्षुधंमोजः पञ्चदशः ॥

॥ २ ॥

योज एवोत्तरतो धत्ते तस्मादुत्तरतोऽभिप्रयायी
जयति बहूनां भागोऽसीति पुरस्तादुप दधाति यज्ञमुखं
वै वसवो यज्ञमुखं रुद्रा यज्ञमुखं चतुर्विंशो यज्ञमुखमेव
पुरस्तादि यातयति आदित्यानां भागोऽसीति दक्षिण-
तोऽन्नं वा आदित्या अन्नं मरुतोऽन्नं गर्भा अन्नं पञ्च-
विंशोऽन्नमेव दक्षिणतो धत्ते तस्मादक्षिणेनाऽन्नमद्यते
अदित्यै भागः ॥ ३ ॥

असीति पश्चात् प्रतिष्ठा वा अदितिः प्रतिष्ठा पूषा
प्रतिष्ठा चिण्वः प्रतिष्ठित्यै देवस्य सवितुर्भागोऽसीत्युत्तर-
तो ब्रह्म वै देवः सविता ब्रह्म बृहस्पतिर्ब्रह्म चतुष्टोमो
ब्रह्मवर्चसमेवोत्तरतो धत्ते तस्मादुत्तरोऽर्द्धो ब्रह्मवर्चसि-
तरः साविचर्वतो भवति प्रहृत्यै तस्माद्ब्राह्मणाना-
मुदीची सनिः प्रहृता धर्चश्चतुष्टोम इति पुरस्तादुप
दधाति यज्ञमुखं वै धर्चः ॥ ४ ॥

यज्ञमुखं चतुष्टोमो यज्ञमुखमेव पुरस्तादि यातयति
यावानां भागोऽसीति दक्षिणतो मासा वै यावा अर्ध-
मासा अयावास्तस्मादक्षिणावृत्तो मासा अन्नं वै यावा

अन्नं प्रजा अन्नमेव दक्षिणतो धत्ते तस्मादक्षिणेनाङ्ग-
मद्यते कृभूणां भार्गोऽसीति पश्चात् प्रतिष्ठित्यै विवर्त्तो-
ऽष्टाचत्वारिंश इत्युत्तरतोऽनयोर्लोकयोः सवीर्यत्वाय
तस्मादिमौ लोकौ सुमावद्दीर्यौ ॥ ५ ॥

यस्य मुखवतीः पुरस्तादुपदधीयन्ते मुखं एवं भवति
आ अस्य मुखो जायते यस्याऽन्नवतीर्दक्षिणतोऽन्यन्नम्
आ अस्यान्नादो जायते यस्य प्रतिष्ठावतोः पश्चात्
प्रेत्येव तिष्ठति यस्यैजस्वतीरुत्तरत औजस्वेव भवति आ
अस्यैजस्वी जायतेऽर्को वा एष यदग्निस्तस्यैतदेव
स्तोत्रमेतत् शस्त्रं यदेषा विधा ॥ ६ ॥

विधीयतेऽर्को एव तदुर्कमनु विधीयतेऽन्यन्नम् आ
अस्यान्नादो जायते यस्यैषा विधा विधीयते य उ
चैनामेवं वेदुः सृष्टीरुपं दधाति यथासृष्टमेव अव रुन्धे
न वा इदं दिवा न नक्तमासीदव्यावृत्तं ते देवा एता
व्युष्टीरपश्यन् ता उपादधत् ततो वा इदं व्यौच्छत्
यस्यैता उपधीयन्ते वि एवास्मै उच्छत्यथो तम एवाप
दते ॥ ७* ॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डीयतृतीयप्रपाठकस्य नवमदशमैका-
दशानुवाकभाष्ये प्रकृतम् ।

वै जनिषः । पञ्चदशः । अदित्यै भागः । वै धर्षः ।
समावहीर्यौ । विधा । ततो वा इदं । चतुर्दश च ॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

अग्ने जातान् प्र शुदा नः सपत्नानिति पुरस्तादुप
दधाति जातानेव आतृव्यान् प्र शुदते सहसा जाता-
निति पश्चात् जनिष्यमाणानेव प्रति नुदते चतुश्चत्वा-
रिः शस्तोम इति दक्षिणतो ब्रह्मवर्चसं वै चतुश्चत्वा-
रिः शो ब्रह्मवर्चसमेव दक्षिणतो धत्ते तस्मादक्षिणोऽर्धो
ब्रह्मवर्चसितरः षोडशस्तोम इत्युत्तरत ओजो वै षोडश
ओज एवोत्तरतो धत्ते तस्मात् ॥ १ ॥

उत्तरतोऽभिप्रयायी जयति वज्रो वै चतुश्चत्वारिः शो
वज्रः षोडशो यदेते इष्टके उपदधाति जाताश्चैव
जनिष्यमाणाश्च आतृव्यान् प्र शुद्य वज्रमनु प्र हरति
स्तृत्यै पुरीषवर्ती मंध्य उप दधाति पुरीषं वै मध्य-
मात्मनः सात्मानमेवाग्निं चिनुते सात्माभुषिन् लोके
भवति य एवं वेदैता वा असपत्ना नामेष्टका यस्यैता
उपधीयन्ते ॥ २ ॥

नास्य सपत्नौ भवति पश्वा एष यदग्निर्विराज उत्तमायां

चित्यामुप दधाति विराजमेवोत्तमां पशुषु दधाति
तस्मात् पशुमानुत्तमां वाचं वदति दश-दशोप दधाति
सवीर्यत्वायाश्चोप दधाति तस्मादक्ष्णया पशवोऽङ्गानि
प्र हरन्ति प्रतिष्ठित्यै यानि वै छन्दांसि सुवर्ग्याणि
आसन् तैर्देवाः सुवर्गं लोकमायन् तेनर्षयः ॥ ३ ॥

अस्त्राम्यन् ते तपोऽतप्यन्त तानि तपसा अपश्यन्
तेभ्य एता इष्टका निरमिमते एवम्छन्दो वरिवम्छन्द
इति ता उपा दधत् ताभिर्वै ते सुवर्गं लोकमायन्
यदेता इष्टका उपदधाति यान्येव छन्दांसि सुवर्ग्याणि
तैरेव यजमानः सुवर्गं लोकमेति यजेन् वै प्रजापतिः
प्रजा अस्तृजत् ताः स्तोमभागैरेवास्तृजत् यत् ॥ ४ ॥

स्तोमभागा उपदधाति प्रजा एव तद् यजमानः
स्तृजते बृहस्पतिर्वा एतद् यज्ञस्य तेजः समभरद् यत्
स्तोमभागा यत् स्तोमभागा उपदधाति सतेजसमेवाग्निं
चिनुते बृहस्पतिर्वा एतां यज्ञस्य प्रतिष्ठामपश्यत् यत्
स्तोमभागाः यत् स्तोमभागा उपदधाति यज्ञस्य
प्रतिष्ठित्यै सप्त-सप्तोप दधाति सवीर्यत्वाय तिस्रो मध्ये
प्रतिष्ठित्यै ॥ ५ *

* अस्यानुवाकस्य आख्यानं चतुर्थकाण्डस्य तृतीयप्रपाठकद्वादशानुवाक-
भाष्ये चतुर्थप्रपाठकप्रथमानुवाकभाष्ये च ब्रह्मयम् ।

उत्तरतो धर्मे तस्मात् । उपधीयन्ते । ऋषयः । सृजन्-
यन्त । विचत्वारिंशच्च ॥ ५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

रश्मिरित्येवादित्यमसृजत् प्रेतिरिति धर्ममन्विति-
रिति दिवः सन्धिरित्यन्तरिक्षं प्रतिधिरिति पृथिवीं
विष्टम्भ इति वृष्टिं प्रवेत्यहरनुवेति रात्रिमुशिति
वस्त्रं प्रकोत इति रुद्रान् सुदीतिरित्यादित्यानेज इति
पितृस्तनुरिति प्रजाः पृतनाषाडिति पशून् रेवदि-
त्योषधीरभिजिदसि युक्तग्रावा ॥ १ ॥

इन्द्राय त्वा इन्द्रं जिन्वेत्येव दक्षिणतो वज्रं पर्यौहद्
अभिजित्यै ताः प्रजा अप्राणा असृजत् तास्वधिपति-
रसीत्येव प्राणमदधात् यन्तेत्यपानः सः सर्प इति
चक्षुर्वयोधा इति ओजं ताः प्रजाः प्राणतीरपानतीः
पश्यन्तोः शृण्वतीर्न मीथुनी अभवन् तासु विष्टदसीत्येव
मिथुनमदधात् ताः प्रजा मिथुनी ॥ २ ॥

भवतीर्न प्राजायन्त ताः सः रोहोऽसि नीरोहोऽसी-
त्येव प्राजनयत् ताः प्रजाः प्रजाता न प्रत्यतिष्ठन् ता

वसु॑कोऽसि॒ वेष॑श्चिरसि॒ वस्य॑ष्टि॒ रसीत्ये॑वैषु॒ लोकेषु॑ प्रत्य-
स्थापय॑द् यदा॒ह वसु॑कोऽसि॒ वेष॑श्चिरसि॒ वस्य॑ष्टि॒ रसीति॑
प्र॒जा ए॒व प्रजा॑ता एषु॒ लोकेषु॑ प्रति॒ष्ठाय॑यति॒ सात्मा-
न्तरि॑क्षः, रो॒हति॑ स॒ग्रासोऽमु॑ष्मिन् लो॒के प्रति॑ तिष्ठति
अ॒व्यर्धु॑कः प्रा॒णापा॑नाभ्यां भवति॒ य एवं वेद॑ ॥ ३ ॥*

यु॒क्तग्रा॑वा । प्र॒जा मि॑थुनी । अ॒न्तरि॑क्षं । द्वा॒दश॑ च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

ना॒क॒स॒द्भिर्वै॑ दे॒वाः सु॒व॒र्गं लो॒कमा॑यन् तत् ना॒क-
स॒दाम् ना॒क॒स॒त्त्वं यन्ना॑क॒सद॑ उप॒दधा॑ति ना॒क॒स॒द्भि-
रे॒व तत् यज॑मानः सु॒व॒र्गं लो॒कमे॑ति सु॒व॒र्गो वै लो॒को
ना॒को य॒स्यैता॑ उप॒धी॑यन्ते ना॒स्मा अ॒कं भ॑वति यज॑माना-
य॒त॒नं वै ना॑क॒सदो॑ यन्ना॑क॒सद॑ उप॒दधा॑त्याय॒त॒नमे॒व
तद् यज॑मानः कुरु॒ते पृ॒ष्ठानां॑ वा ए॒तत् तेजः॑ सं॒भृ॒तं
यन्ना॑क॒सदो॑ यन्ना॑क॒सदः॑ ॥ १ ॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयचतुर्थप्रपाठकस्य प्रथमानुवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

उप॒दधा॑ति पृ॒ष्ठाना॑मेव तेजोऽव॑ हन्ते पञ्च॒बो॒द्धा उप॑
 दधा॑त्यप्सुर॑स ए॒वैन॑मे॒ता भू॒ता अ॑मु॒स्मिन् लो॒क उप॑
 शेरे॑ऽथो॒ तनू॑पानी॒रेवै॑ता यज॑मानस्य यं दि॒ष्यात् तमु॑प॒-
 दध॑त् ध्या॒येदे॒ताभ्य॑ ए॒वैनं॑ दे॒वता॑भ्य॒ आ वृ॑क्षति ताज॒-
 गा॒र्तिमा॑र्च्य॒त्युत्तरा॑ नाक॒सङ्गा उप॑ दधाति यथा जा॒या-
 म॒नीय॑ गृ॒हेषु॑ निषा॒दय॑ति ता॒दृगे॒व तत् ॥ २ ॥

पृ॒श्चात् प्रा॒चीमु॒त्त॒मामु॑प॒ दधा॑ति तस्मा॑त् पृ॒श्चात्
 प्रा॒ची प॒त्नी अ॒न्वास्ते॑ स्वयमा॒तृ॒क्षाश्च॑ वि॒क॒र्णीश्च॑ उ॒त्त॒मे
 उप॑ दधाति प्र॒णो वै स्व॑यमा॒तृ॒क्षायु॑र्वि॒क॒र्णी प्रा॒णश्चै॒व
 आ॒युश्च॑ प्रा॒णाना॑मु॒त्त॒मौ ध॑त्ते तस्मा॑त् प्रा॒णश्चा॒युश्च॑ प्रा॒-
 णा॑नामु॒त्त॒मौ ना॒न्यामु॒त्तरा॑मिष्ट॒कामु॑प॒ दध्या॑द् यद॒न्या-
 मु॒त्तरा॑मिष्ट॒कामु॑प॒दध्या॑त् प॒शूना॑म् ॥ ३ ॥

च॒ यज॑मानस्य च प्रा॒णं चा॒युश्चापि॑ दध्यात् तस्मा॑त्
 ना॒न्यो॒त्त॒रेष्ट॑कोप॒धेया॑ स्वयमा॒तृ॒क्षामु॑प॒ दधा॑त्यसौ वै
 स्व॑यमा॒तृ॒क्षाम॑मू॒मे॒वोप॑ ध॒त्ते ऽश्व॑मु॒प॒ग्राप॑यति प्रा॒णमे॒वा-
 स्यां॑ दधा॒त्यथो॑ प्राजाप॒त्यो वा अ॒श्वः प्र॒जाप॑तिनै॒वाग्निं॑
 चि॒नुते॑ स्वयमा॒तृ॒क्षा भ॑वति प्रा॒णाना॑मु॒त्सृ॑ज्यै अथो॑
 सु॒व॒र्गस्य॑ लो॒कस्या॑नु॒ख्यात्यै॑ ए॒षा वै, दे॒वानां॑ वि॒क्रान्ति॑-
 र्यद्वि॒क॒र्णी यद्वि॒क॒र्णीमु॑प॒दधा॑ति दे॒वाना॑मे॒व वि॒क्रान्ति॑

मनु वि क्रमते उत्तरत उप दधाति तस्मादुत्तरत-उप-
चारोऽग्निर्वायुमती भवति समिधौ ॥ ४ ॥*

संमृतं यन्नाकसदो यन्नाकसदः । तत् । पशूनाम् ।
शृषा वै । इति श्रुतिश्च ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
सप्तमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

छन्दाःस्युप दधाति पशवो वै छन्दाःसि पशून्नेवाव
रुन्धे छन्दाःसि वै देवानां वामं पशवो वाममेव पशूनव
रुन्धे एताः ह वै यज्ञसेनश्चैत्रियायुणश्चितिं विदां
चकार तथा वै स पशूनवारुन्धे यदेतामुप दधाति पशू-
न्नेवाव रुन्धे गायत्रीः पुरस्तादुप दधाति तेजो वै
गायत्री तेज एव ॥ १ ॥

मुखतो धत्ते मूर्ध्निर्वतीर्भवन्ति मूर्ध्निर्मेवैनः समाना-
नां करोति चिष्टुभ उप दधाति इन्द्रियं वै चिष्टुगिन्द्रिय-
मेव मध्यतो धत्ते जगतीरुप दधाति जागता वै पशवः
पशून्नेवाव रुन्धेऽनुष्टुभ उप दधाति प्राणा वा अनुष्टुप्
प्राणानामुत्सृज्यै ब्रह्मतीरुष्णिहाः पङ्क्तीरक्षरपङ्क्ति-

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं पञ्चमकाण्डेयचतुर्थप्रपाठकस्य द्वितीयतृतीय-
अनुवाक-भाष्ये प्रकृतम् ।

रिति विषरूपाणि छन्दाःस्युप दधाति विषरूपा वै
पशवः पशवः ॥ २ ॥

छन्दाःसि विषरूपानेव पशूनव रन्ध्रे विषरूपमस्य
गृहे दृश्यते यस्यैता उपधीयन्ते य उ च एनाम् एवं
वेदातिछन्दसमुप* दधात्यतिछन्दा वै सर्वाणि छन्दाःसि
सर्वेभिरेवैनं छन्दोभिश्चिनुते वर्षवा एषा छन्दसां
यदतिछन्दा यदतिछन्दसमुपदधाति वर्षैर्वैनः समा-
नानां करोति, द्विपदा उप दधाति द्विपाद् यजमानः,
प्रतिष्ठित्यै ॥ ३ ॥†

तेज एव । पशवः पशवः । यजमानः । एकञ्च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
अष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

सर्वाभ्यो वै देवताभ्योऽग्निश्चीयते यत् सयुजो ना-
पदध्याद् देवता अस्याग्निं वृञ्जीरन् यत् सयुज उपदधा-
त्यात्मनैवैनः सयुजं चिनुते नामिना व्यृध्यतेऽथो यथा
पुरुषः स्त्रावभिः सन्तत एवमेवैताभिरग्निः सन्ततो-

* 'अतिछन्दसम्' इति B. एवं कीतपुस्तके पाठः । परन्तु वेदे ककारस्य
कुचाणि हित्वादर्शनात् एव पाठः उपेक्षितः ।

† अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयचतुर्थप्रपाठकस्य चतुर्थानु-
वाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

ऽग्निना वै देवाः सुवर्गं लोकमायन् ता अमूः क्षतिका
अभवन् यस्यैता उपधीयन्ते सुवर्गमेव ॥ १ ॥

लोकमेति गच्छति प्रकाशं चिचमेव भवति मण्डले-
ष्टका उप दधाति इमे वै लोका मण्डलेष्टका इमे खलु
वै लोका देवपुरा देवपुरा एव प्र विशति नार्तिमा-
च्छत्यग्निं चिक्यानेो विश्वज्योतिष उप दधाति इमानेव
एताभिर्लोकान् ज्योतिष्मतः कुरुतेऽथो प्राणानेवैता
यजमानस्य दाधत्येता वै देवताः सुवर्ग्यास्ता एव, अन्वा-
रभ्य सुवर्गं लोकमेति ॥ २ ॥*

सुवर्गमेव । ता एव । चत्वारि च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
नवमोऽनुवाकः ॥०॥

वृष्टिसनीरुप दधाति वृष्टिमेवाव रुन्धे यदेकधोपदध्याद्
एकमृतुं वर्षेदनुपरिहारः सादयति तस्मात् सर्वा-
नृतून् वर्षति पुरोवातसनिर्सीत्याहैतद्वै वृष्ट्यै रूपं
रूपेणैव वृष्टिमव रुन्धे संयानीभिर्वै देवा इमान् लोकान्
समयुस्तत् संयानीनां संयानित्वं यत् संयानीरुप-
दधाति यथाप्सु नावा संयात्येवं ॥ १ ॥

* अस्यानुवाकस्य आख्यानं चतुर्थकाण्डेयचतुर्थप्रपाठकस्य पञ्चमवखान-
वाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

एवैताभिर्यजमान इमान् लोकान्तं याति स्रुवो
 वै एषोऽग्नेर्यत् संयानीर्यत् संयानीरुपदधाति स्रुवमे-
 वैतमग्ने उप दधात्युत यस्यैतास्त्रुपद्वितास्त्रापोऽग्निः
 हरत्यहंत एवास्यामिरोदित्येष्टका उप दधात्यादित्या
 वै एतं ब्रूयै प्रति नुदन्ते योऽब्रूभ्रूयै सन् भूतिं न
 प्राप्नोत्यादित्याः ॥ २ ॥

एवैनं भूतिं गमयन्त्यसौ वै एतस्यादित्यो रुचमा
 दत्ते योऽग्निं चित्वा न रोचते यदादित्येष्टका उप
 दधात्यसावेवास्मिन्नादित्यो रुचं दधाति यथासौ
 देवानां रोचते स्रुवमेवैष मनुष्याणां रोचते एतेष्टका
 उप दधात्येतद्वै अग्नेः प्रियं धाम यद् दत्तं प्रियेणैवैनं
 धाम्ना समर्द्धयतिः ॥ ३ ॥

अथो तेजसानुपरिहारः सादयत्यपरिवर्गमेवास्मिन्
 तेजो दधाति प्रजापतिरग्निमचिनुत स यशसा व्यार्धत
 स एता यशोदा अपश्यत् ता उपाधत्ताभिर्वै स यश
 आत्मन्धत्त यत् यशोदा उपदधाति यश एव ताभि-
 र्यजमान आत्मन् धत्ते पञ्चोप दधाति पाङ्क्तः पुरुषो
 यावानेव पुरुषस्तस्मिन् यशो दधाति ॥ ४ ॥*

* केत्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डस्य चतुर्थप्रपाठकवृत्तानुवाक-
 माय्ये द्रष्टव्यम् ।

एवं । प्रामोत्यादित्याः । अर्हयति । एकान्नपञ्चा-
शच्च ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
दशमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

देवासुराः संयत्ता आसन् कनीयाः सो देवा आसन्
भूयाः सोऽसुरास्ते देवा एता इष्टका अपश्यन् ता उपा-
दधत् भूयस्कृदसीत्येव भूयाः सोऽभवन् वनस्पतिभि-
रोषधीभिः परिवस्कृदसीतीमामजयन् प्राच्यसीति प्रा-
चीन्दिशमजयन् नूर्धासीत्यमूमजयन्तरिक्षसदस्यन्तरिक्षे
सीदेत्यन्तरिक्षमजयन्ततो देवा अभवन् ॥ १ ॥

पराऽसुरा यस्यैता उपधीयन्ते भूयानेव भवत्यभी-
मान् लोकान् जयति भवत्यात्मना पराऽस्य भ्रातृव्यो
भवत्यसुषदसि श्येनसदसीत्याहैतद्वै अग्नेरूपः रूपेणै-
वाग्निमव रुन्धे पृथिव्यास्त्वा द्रविणे सादयामीत्याहे-
मानेवैताभिर्लोकान् द्रविणावतः कुरुते आयुष्या उप-
दधात्यायुरेव ॥ २ ॥

अस्मिन् दधात्यग्ने यत् ते परः हन्नामेत्याहैतद्वै अग्नेः
प्रियं धाम प्रियमेवास्य धामोपाप्नोति तावेहि सः रभा-
वहै इत्याह विरवैनेन परि धन्ते पाञ्चजन्येष्वप्येधि अग्ने

इत्याहैष वै अग्निः पाञ्चजन्तो यः पञ्चचितीकस्तस्मा-
देवमाह ऋतव्याः उप, दधात्येतद्वै क्रतूनां प्रियं धाम
यद्वतव्या क्रतूनामेव प्रियं धामावै रुन्धे सुमेक इत्याह
संवत्सरो वै सुमेकः संवत्सरस्यैव प्रियं धामोपाप्नोति॥३॥*

अभबन् । आयुरेव । ऋतव्या उप । षड्विंशतिश्च
॥ ११ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
एकादशोऽनुवाकः ॥०॥

प्रजापतेरक्षि अश्वयत् तत्परापत्तदश्वोऽभवद् यद-
श्वयत् तदश्वस्याश्वत्वं तद्देवा अश्वमेधेनैव प्रत्यदधुरेष
वै प्रजापतिः सर्वं करोति योऽश्वमेधेन यजते सर्व एव
भवति^(१) सर्वस्य वै एषा प्रायश्चित्तिः सर्वस्य भेषजः सर्वं
वै एतेन पाप्मानं देवा अतरन्नापि वै एतेन ब्रह्म-
हृत्यामतरन् सर्वं पाप्मानम् ॥ १ ॥

तरति तरति ब्रह्महृत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैन-
मेवं वेद^(१) उत्तरं वै तत् प्रजापतेरक्षि अश्वयत् तस्मा-
दश्वस्योत्तरतोऽव दक्षिणतोऽन्येषां पशूनां^(२) वैतसः
कटो भवत्यप्सु योनिर्वै अश्वोऽप्सु जा वैतसः स्वे एवैनं

* अस्मानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयचतुर्थप्रपाठकस्य सप्तमानुवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

योनौ प्रति स्थापयति^(१) चतुष्टोमः स्तोमो भवति स्रष्टु
ह वै अश्वस्य सविथ आ अष्टहत्, तद्देवाश्चतुष्टोमेनैव
प्रत्यदधुर्यत् चतुष्टोमः स्तोमो भवत्यश्वस्य सर्वत्वाय^(२) ॥२॥

सर्वं पाप्मानम् । आ अष्टहत् । द्वादश च ॥ १२ ॥

उत्सृज्यज्ञः । इन्द्राग्नी । देवा वै अक्ष्णयास्तोमीयाः ।
अग्नेर्भगोऽसि । अग्ने जातान् । रश्मिरिति । नाकसङ्घिः ।
छन्दांसि सर्वाभ्यो । वृष्टिसनीः । देवासुराः, कनीयांसः ।
प्रजापतेरसि । द्वादश च ॥ १२ ॥

उत्सृज्यज्ञः (१।१) । देवा वै (३।१) । यस्य मुख्यवतीः
(४।६) । नाकसङ्घिः (७।१) । एवैताभिः (१०।२) । अष्टा-
चत्वारिंशत् ॥ ४८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके
द्वादशोऽनुवाकः ॥०॥

इति संहितापञ्चमाष्टके तृतीयः प्रश्नः ॥*

॥०॥ हरिः ओम् ॥०॥

यस्य निश्चितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

चितिराद्या द्वितीये स्यात् तृतीये तु चतुर्थ्यम् ।

* इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे तृतीयः प्रपाठकः इत्यपि
अचित् पाठः ।

दादन्नाभानुवाका स्युः प्रथमे त्रिवृत्का इमाः ॥
 आश्विन्यस्य तद्यर्त्तथाः प्राणभृतसंज्ञकास्तथा ।
 अपस्यास्य वयस्यास्य द्वितीयस्यां चितौ श्रुताः ॥
 द्वितीये स्वयमादृशा दिव्याः प्राणभृतस्तथा ।
 बृहत्यो बालखिल्यास्य तृतीयस्यां चिताविमाः ॥
 तृतीयतुर्ययोरङ्गणयास्तोमीयास्य सृष्टयः ।
 व्युष्टयस्येष्टकाः प्रोक्तास्तुर्थास्य चिताविमाः ॥
 पञ्चमे त्वसपद्माख्या विराडाख्यास्य वर्णिताः ।
 षष्ठे तु क्षीमभागाख्या नाकसत्संज्ञकास्तु याः ॥
 षोडाख्या स्वयमादृशा विकर्णीतास्य सप्तमे ।
 कन्दोभिधी अष्टमे स्युः पञ्चम्यां तु चिताविमाः ॥
 अथावशिष्टाः कथ्यन्ते ता विज्ञेया यथाचिति ।
 सयुजो मण्डलाख्यास्य विश्वज्योतिष इत्यमूः ॥
 नवमे दशमे वृष्टिसर्गि-संयानिकाभिधाः ।
 आदित्याख्या घृताख्यास्य यज्ञोदास्येति वर्णिताः ॥
 एकादशे तु भूयत्तदग्निरूपाभिधा अपि ।
 त्रिणिषोदास्तथायुज्या स्यादग्निहृदयाभिधा ॥
 ऋतव्यास्येत्येवमेताः क्रमादिह समीरिताः ।
 द्वादशे तन्ममेधस्य विधिरित्येव निर्णयः ॥

तमिममश्वमेधं विधत्ते,—“प्रजापतेरसि अश्वयज्ञत्परापतत्तद
 श्वोऽभेदस्यदशयज्ञदशस्याश्वत्वं तद्देवा अश्वमेधेनैव प्रत्यदधुरेष वै प्रजा-

* “विधिरित्यत्र” इति का० श्री० पु० पाठः ।

पतिः सर्वं करोति योऽश्वमेधेन यजते सर्व एव भवति”^(१) इति ।

‘प्रजापतेः’ चतुर्मुखस्य अग्निगोसकं केनापि व्याधिना उच्छून-
मभूत्, तच्च भूमौ पतितं सत् अश्वरूपेण आविर्बभौ, यस्मात् कारणात्
अश्वयत्, तस्मात् कारणात्, तत् उत्पन्नस्य प्राणिनोऽश्वनाम सग्नम् ।
ततो देवाः प्रतीकारं विचार्य अश्वमेधमनुष्ठाय तेन अश्वमेधसामर्थ्येन
‘तत्’ प्रजापतेरचि समादधुः, तस्मादेवं* प्रशस्तत्वात् अश्वमेधेन
यजेत, स च यथा प्रजापतिं संपूर्णं करोति, स्वयञ्च प्रजापतिप्राप्त्या
सर्वात्मको भवति ।

तदेवं सर्वभावप्राप्त्यर्थं अश्वमेधं विधाय • पुनः पापक्षयार्थ-
मश्वमेधकृतं तदुपासनं च विधत्ते,—“सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः
सर्वस्य भेषजः सर्वं वा एतेन पाप्मानं देवा अतरन्ति वा एतेन ब्रह्म-
हत्यामतरन् सर्वस्य पाप्मानमतरन्ति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते
य उ सैनमेवं वेद^(१)” इति । येन मश्वमेधानुष्ठितिः, सैषा ‘सर्वस्य’ पाप्मानः
उपपातकरूपस्य महापातकरूपस्य च ‘प्रायश्चित्तिः’ भवति । किञ्च,
‘सर्वस्य’ व्याधिजातस्य तद्वेतुपापक्षयद्वारेण अश्वमेधानुष्ठानं ‘भेषजम्’,
अतएव इदानीन्तना ‘देवाः’ पूर्वस्मिन् मनुष्ये जन्मनि ‘एतेन’ अश्वमेधेन
गोवधादिरूपमुपपातकं ब्रह्महत्यादिरूपं महापातकं च परिहृतवन्तः;
तस्मादिदानीमपि ‘यः’ अश्वमेधकृतना ‘यजते’ सोऽयमुपपातकमहा-
पातके ‘तरति’ । योऽपि च पुरुषः एतमश्वमेधं शास्त्रोक्तप्रकारेण
जानाति । ज्ञानञ्च दिविधम्,—अर्थनिर्णयः, उपासनञ्च; तच्च अर्थनिर्णयः,
पदवाक्यप्रमाणपर्यालोचनया सम्पद्यते ; उपासनाप्रकारस्तु सप्तमका-

* तस्मादेवं इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

ख्यस्मान्निमानुवाके “यो वा अश्वस्य मेधस्य शिरो वेद” (७।५।१५)
इत्यस्मिन्नभिधास्यते । सोदकप्राप्तं दक्षिणविदानं वाधितुं विधत्ते,—
“उत्तरं वै तत् प्रजापतेरक्षि अश्वयत् तस्मादश्वस्योत्तरतोऽवक्षन्ति
दक्षिणतोऽन्येषां पशूनाम्^(१)” इति । यस्मात् प्रजापतेः उत्तरभागवर्ति
वामाक्षि उच्छ्रूयमानमभवत्, तस्मादश्वसम्बन्धिना हविषः अवदानमपि
उत्तरस्यां दिशि कर्तव्यम् । ‘अन्येषाम्’ अश्वव्यतिरिक्तानां पशूनां
दक्षिणां दिशि अवदानम् ।

अतएव सूत्रकार आह,—‘पशुकाल उत्तरत उपरिष्ठादग्नेर्वेतसे
कटे अश्वं प्राञ्चं यथाङ्गं चिनोति एवं पुरस्तात् प्रत्यञ्चं त्वपरं पश्चात्
प्राचीनं गोमृगं दक्षिणतः स्रजशाखास्वितरान् पशूनामादयति’ इति ।
हविःसादनाधारं विधत्ते,—‘वैतसः कटो भवत्यप्सुयोनिर्वा अश्वोऽप्सुजो
वैतसः स्व एवैनं योनौ प्रति स्थापयति^(२)’ इति । अप्सु जलेषु योनिः
निवासस्थानं यस्यासौ ‘अप्सुयोनिः’, वड्वा हि समुद्रजलेषु अवतिष्ठते,
वैतसस्योदकजन्यत्वं प्रसिद्धम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण, ‘श्रोभृते प्रजापते गोतमचतुष्टोमयोः पूर्व्या
रथन्तरसामा’ इति । गोतमेन दृष्टौ यौ चतुष्टोमाख्यौ एकाह-
क्रतुः, तयोर्मध्ये यः पूर्व्यचतुष्टोमः सोऽत्र कर्तव्यः इति सूत्रार्थः ।
तमिमं विधत्ते,—“चतुष्टोमस्तोमो भवति सरट् इ वा अश्वस्य सक्थि
आ अष्टहत् तद्देवाश्चतुष्टोमेनैव प्रत्यदधुर्यचतुष्टोमः स्तोमो भवत्यश्वस्य
सर्व्वत्वाय^(३)” इति । सत्वारस्तोमाः,—चिष्टत्, पञ्चदश, सप्तदश, एक-
विंशत्, यस्मिन्नग्निष्टोमे विद्यन्ते सोऽयं ‘चतुष्टोमः’, द्वितीयेन स्तोम-
ब्रह्मेण विश्वेभ्यभृतोऽग्निष्टोमो लक्ष्यते, भीमर्षेणो भीमः, सत्यभामा

भामेतिवत्, 'चिष्टदग्निष्टोमः' इत्यत्र विधानात् । एकसोमकीऽपि कश्चिदग्निष्टोमो विद्यते, 'तद्वावृत्तये 'चतुष्टोमः' इति विज्ञनष्टि, चिसुत्यात्मकस्याश्वमेधस्य प्रथममहसचतुष्टोमात्मकाग्निष्टोमरूपं कुर्यात् । षट्शब्देन कृकसासोऽभिधीयते । स कदाचित् अश्वस्य सकृदि-
प्रदेशमाह्वय तत्सकृदिमांसमुद्यम्य भक्षितवान्, तच्च सकृद्विष्णुं विकस-
मङ्गं देवाश्चतुष्टोमेनैव समादधुः, तस्मादयं चतुष्टोमः अश्वस्य
संपूर्णये भवति ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे तृतीयप्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः ॥०॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबल-
भूपाससाध्याज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थ-
प्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे तृतीयः प्रपाठकः
संपूर्णः ॥०॥

॥०॥ ॐ तत्सत् ॥०॥

॥०॥ श्रीगणेशाय नमः ॥०॥

तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये

पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।

—•••—

हरिः ओम् ।

दे॒वा॒सुराः संय॑त्ता आस॒न् ते न व्य॑जयन्त॒ स ए॒ता
इन्द्र॑स्त॒नूर॑पश्यत् ता उपा॑धत् ताभि॒र्वै स त॒नुव॑मिन्द्रि॒यं
वीर्य॑मा॒त्मन्न॑धत् ततो॑ दे॒वा अभ॑वन् परासुरा यदिन्द्र-
त॒नूरु॑प॒दधा॑ति त॒नुव॑मेव ताभिरिन्द्रि॒यं वीर्यं॑ यज॒मान
आ॒त्मन्ध॑त्तेऽथो सेन्द्र॑मे॒वाग्निः॑ सत॑तुं चिनुते भव॑त्या-
त्म॒ना परा॑स्य भ्रातृ॒व्यः ॥ १ ॥

भव॑ति यज्ञो दे॒वेभ्योऽपा॑क्रामत् तम॑व॒रुन्ध॑न्नाश॑क्तुवन्
स ए॒ता यज्ञ॑त॒नूर॑पश्यन् ता उपा॑दधत् ताभि॒र्वै ते यज्ञ-
मवा॑रुन्धत् यद्यज्ञ॑त॒नूरु॑प॒दधा॑ति यज्ञ॑मेव ताभि॒र्यज॑मानो
ऽव॑रुन्धे चय॑स्त्रि॒ःशत॑मुप॒ दधा॑ति चय॑स्त्रि॒ःशद्वै॑ दे॒वता
दे॒वता॒ एवा॑व॒रुन्धेऽथो॑ सा॒त्मान॑मे॒वाग्निः॑ सत॑तुं चिनुते
सा॒त्माऽमु॑ष्मिन् लो॒के ॥ २ ॥

भवति य एवं वेद ज्योतिष्मतीरुप दधाति
ज्योतिरेवासिन् दधात्येताभिर्वै अग्निश्चितो ज्वलति
ताभिरेवैनः समिन्ये उभयोरस्मै लोकयोज्योतिर्भवति
नक्षत्रेष्टका उप दधात्येतानि वै दिवो ज्योतीःषि तान्ये-
वाव रुन्धे सुकृतां वै एतानि ज्योतीःषि यन्मक्षत्राणि
तान्येवाप्नोत्यथो अनूकाशमेवैतानि ॥ ३ ॥

ज्योतीःषि कुरुते सुवर्गस्य लोकस्यानुस्थात्यै यत्सः-
स्पृष्टा उपदध्याद् वृष्ट्यै लोकमपि दध्यादवर्षुकः पर्जन्यः
स्यादसःस्पृष्टा उप दधाति वृष्ट्यै एव लोकं करोति
वर्षुकः पर्जन्यो भवति पुरस्तादन्याः प्रतीचीरुप दधाति
पश्चादन्याः प्राचीस्तस्मात् प्राचीनानि च प्रतीचीनानि
च नक्षत्राण्या वर्तन्ते ॥ ४ ॥ *

भ्रातृव्यः । लोके । एवैतानि । एकचत्वारिंशच्च ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके
प्रथमेऽनुवाकः ॥ ० ॥

ऋतव्या उप दधाति ऋतूनां क्लिष्ट्यै इन्द्रमुप दधाति
तस्माद्इन्द्रमृतवोऽष्टतेव वै एषा यन्मध्यमा चित्तिरन्त-

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डस्य चतुर्थप्रपाठकस्याऽऽत्मनवम-
दशमानुवाकभाष्ये प्रवृत्तम् ।

रि॒क्षमि॒व वै ए॒षा इ॒न्द्रम॒न्यासु चि॒तीषू॑प॒ दधा॑ति च॒तस्रो॑
म॒ध्ये धृ॒त्या अ॒न्तःस्त्रे॒षण॒ वा ए॒ताश्चि॒तीनां॑ य॒द्वत्त॒थ्या
य॒द्वत्त॒थ्या उ॒प॒दधा॑ति चि॒तीनां॑ वि॒ष्ट॒त्यै अ॒व॒काम॑नूप॒
दधा॑त्ये॒षा वै अ॒ग्नेर्यो॑निः स॒र्योनि॑म् ॥ १ ॥

ए॒वाग्निं॑ चि॒नुत॑ उ॒वाच॑ ह॒ विश्वा॑मि॒चोऽद॒दित्स॑
ब्र॒ह्म॒णाऽन्नं॑ यस्यै॒ता उ॒प॒धी॒यान्तै॑ य उ॒ चै॒ना ए॒वं वेद॑द्
इति॑ सं॒वत्स॒रो वै ए॒तं प्र॑ति॒ष्ठायै॑ नुद॒ते योऽग्निं॑ चि॒त्वा
न प्र॑ति॒तिष्ठ॑ति॒ पञ्च॑ पूर्॒वाश्चि॒तयो॑ भव॒न्त्य य॒ष्टीं चि॒तिं
चि॒नुते॒ षड्धै॑ ऋ॒तवः॑ सं॒वत्स॒र ऋ॒तुष्व॑व सं॒वत्स॒रे प्र॑ति॒-
तिष्ठ॑त्ये॒ता वै ॥ २ ॥

अधि॑प॒त्नीर्नामे॑ष्ट॒का यस्यै॒ता उ॒प॒धी॒यन्तेऽधि॑प॒तिरे॒व
स॒मा॒नानां॑ भव॒ति यं द्वि॒ष्यात्तमु॑प॒दध्या॑द् ध्या॒येदे॒ताभ्य॑
ए॒वैनं॑ दे॒वता॑भ्य॒ आ वृ॑श्च॒ति ता॒जगा॑र्ति॒मार्च्य॑त्य॒ङ्गिर॑सः
सु॒वर्गं॑ लो॒कं य॒न्तो या॑ य॒ज्ञस्य॑ निष्कृ॒तिरा॑सी॒त्तामृ॒-
षि॒भ्यः प्र॒त्यौह॑न् तद्वि॒रण्य॑मभवत् यद्वि॒रण्य॑श॒ल्कैः
प्रोक्ष॑ति य॒ज्ञस्य॑ निष्कृ॒त्यै अथो॑ भे॒षज॑मे॒वास्मै॑ करो॒ति
॥ ३ ॥

अथो॑ रू॒पेणै॒वैनं॑ स॒मर्ध॑य॒ति अथो॑ हि॒रण्य॑ज्योतिषै॒व
सु॒वर्गं॑ लो॒कमे॑ति सा॒हस्र॑व॒ता प्रोक्ष॑ति सा॒हस्रः॑ प्र॒जा-
प॑तिः प्र॒जाप॑ते॒राभ्यै॑ इ॒मा मे॑ अ॒ग्ने इष्ट॑का धे॒नवः॑

सन्वित्याह धेनूरेवैनाः कुरुते ता एनं कामदुघा
अमुचामुष्मिलोके उप तिष्ठन्ते ॥ ४ ॥

सयोनम् । एता वै । करोति । एकान्नचत्वारिंशच्च
॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके
द्वितीयोऽनुवाकः ॥०॥

रुद्रो वै एष यदग्निः स एतर्हि जातो यर्हि सर्व-
श्चितः स यथा वत्सो जातः स्तनं प्रेक्षत्येवं वै एष एतर्हि
भागधेयं प्रेक्षति तस्मै यदाहुतिं न जुहुयादध्वर्युं च
यजमानं च ध्यायेत् शतरुद्रोयं जुहोति भागधेयेनैवैनं
शमयति नार्तिमार्च्छत्यध्वर्युर्न यजमानो यद्ग्राम्याणां
पशूनां ॥ १ ॥

पर्यसा जुहुयाद् ग्राम्यान् पशून् लुचापीयेत् यदा-
रण्यानामारुणान् जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद्गवीधुक-
यवाग्वा वा न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति नारुणानयो
खल्वाहुरनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्चेत्यजक्षीरेण
जुहोत्याग्नेयो वा एषा यद्जाहुत्यैव जुहोति न ग्राम्यान्
पशून् हिनस्ति नारुणानङ्गिरसः सुवर्गं लोकं यन्तः ॥२॥

* अस्यानुवाकस्य आख्यानं चतुर्थकाण्डोपचतुर्थप्रपाठकस्य अर्वादिग्रन्-
थावभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

अजायां धर्मं प्राप्तिञ्चन्ता शोचन्ती पूर्णं परा-
जिहीतुं सोऽर्को भवत्तदुक्तस्यार्कत्वमर्कपक्षेण जुहोति
सयोनित्वायोदङ्तिष्ठन् जुहोति एषा वै रुद्रस्य दिक्
स्वार्थामेव दिशि रुद्रं निरवदयते चरमायामिष्टकायां
जुहोत्यन्तत एव रुद्रं निरवदयते वेधाविभक्तं जुहोति
चय इमे लोका इमानेव लोकान्त्सुमावदीर्यान् करो-
तीयत्यग्रे जुहोति ॥ ३ ॥

अयेयत्ययेयति चय इमे लोका एभ्य एवैनं लोकेभ्यः
शमयति तिस्र उत्तरा आहुतीर्जुहोति षट् सम्पद्यन्ते
षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं शमयति यदनुपरिक्रामं
जुहुयादन्तरवचारिणं रुद्रं कुर्यादथो खल्वाहुः कस्यां
वाह दिशि रुद्रः कस्यां वेत्यनुपरिक्राममेव ह्यैतव्य-
मपरिवर्गमेवैनं शमयति ॥ ४ ॥

एता वै देवताः सुवर्ग्या या उत्तमास्ता यजमानं
वाचयति ताभिरेवैनं सुवर्गं लोकं गमयति यं द्विष्यात्
तस्य सञ्चरे पशूनां न्यस्येद्यः प्रथमः पशुरभितिष्ठति स
आर्तिमाप्स्यति ॥ ५ ॥*

पशूनां । यन्तः । अग्रे जुहोति । अपरिवर्गमेवैनं
शमयति । त्रिंशच्च ॥ ३ ॥

* अस्मिन्नुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डीयपञ्चमप्रपाठकस्य एकादशानु-
वाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

इति तैत्तिरीयसंहितायां बञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके
तृतीयोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अश्मन्नुर्जमिति परिषिञ्चति मार्जयत्येवैनमुथो तर्प-
यत्येव स एनं तृप्तोऽक्षुध्वन्नशोचन्नमुष्मिन् लोके उप-
तिष्ठते तृप्यति प्रजया पशुभिर्य एवं वेद तां नः इषमूर्ज-
धत्त मरुतः संश्रगाणा इत्याह अन्नं वै जर्कं अन्नं
मरुतोऽन्नमेवाव रुन्धेऽश्मंस्ते क्षुदमुन्ते शुक् ॥ १ ॥

क्षुच्छतु यं द्विष्म इत्याह यमेव द्वेष्टि तमस्य क्षुधा
च शुचा चार्पयति त्रिः परिषिञ्चन् पर्येति चिद्वद्वै
अग्निर्यावानेवाग्निस्तस्य शुचंश्मयति त्रिः पुनः पर्येति
षट् सम्पद्यन्ते षड्वै क्षुतव क्षुतुभिरेवास्य शुचंश्मयत्यपां
वै एतत्पुष्पं यद्वै तसोऽपां ॥ २ ॥

शरोऽवका वेतसशाखया चावकाभिश्च विकर्षत्यापो
वै शान्ताः शान्ताभिरेवास्य शुचंश्मपति यो वै अग्निं
चितं प्रथमः पशुरधिक्रामतीश्वरो वै तश्शुचा प्रदहो
मण्डूकेन वि कर्षत्येष वै पशूनामनुपजीवनीयो न वै
एष ग्राम्येषु पशुषु हितो नारण्येषु तमेव शुचाप्ययति
अष्टाभिर्वि कर्षति ॥ ३ ॥

अष्टाक्षरा गायत्रीं गायत्रौऽग्निर्यावानेवाग्निस्तस्य

शुचः॑ शमयति पावकवतीभिरन्नं वै पावकोऽन्नेनैवास्य
 शुचः॑ शमयति मृत्युर्वै एष यदग्निं/ब्रह्मण एतद्रूपं यत्
 कृष्णाजिनं काष्णीं॑ उपानहावुप मुञ्चते ब्रह्मणैव
 मृत्योरन्तर्धत्तेऽन्तर्मृत्योर्धत्तेऽन्तरन्नाद्यादित्याहुरन्यामुप-
 मुञ्चतेऽन्यीं नान्तः ॥ ४ ॥

एव मृत्योर्धत्तेऽवान्नाद्यं॑ रुन्धे नमस्ते हरसे शोचिषे
 इत्याह नमस्कृत्य हि वसीयाः॑ समुपचरन्त्यन्यं ते
 अस्मत्पन्तु हेतु इत्याह यमेव द्वेष्टि तमस्य शुचाऽपि-
 यति पावको अस्मभ्यः॑ शिवो भवेत्याहान्नं वै पावको-
 ऽन्नमेवाव रुन्धे द्वाभ्यामधि कामति प्रतिष्ठित्यै अपस्य-
 वतीभ्यां शान्त्यैः ॥ ५ ॥*

शुक् । वेतसोऽपाम् । अष्टाभिर्वि कर्षति । नान्तः ।
 एकान्नपञ्चाशच्च ॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके
 चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

नृषट् वडिति व्याधारयति पङ्क्त्याहुत्या यज्ञमुखमा
 रभतेऽक्ष्णया व्याधारयति तस्मादक्ष्णया पशवोऽङ्गानि
 प्र हरन्ति प्रतिष्ठित्यै यद्वषट् कुर्याद्यातयामाऽस्य वषट्-

• अस्यानुवाकस्य व्यख्यानं चतुर्थकाण्डोदवष्टप्रपाठस्य प्रथमानुवाकभाष्ये
 प्रकृतम् ।

कारः स्याद् यन्न वषट्कुर्याद्रक्षांसि यन्न५ इत्युर्वदित्याह
परोक्षमेव वषट् करोति नास्य यातयामा वषट्कारो
भवति न यन्न५ रक्षांसि घ्नन्ति हुतादो वै अन्ये
देवाः ॥ १ ॥

अहुतादोऽन्ये तानमिच्छिदेवोभयान्प्रीणाति ये देवा
देवानामिति दुध्ना मधुमिश्रेणावोक्षति हुतादश्चैव देवान्
अहुतादश्च यजमानः प्रीणान्ति ते यजमानं प्रीणन्ति
दध्नेव हुतादः प्रीणान्ति मधुपाऽहुतादो ग्राम्यं वै एतदन्नं
यद्दधि आरण्यं मधु यद्दध्ना मधुमिश्रेणावोक्षत्युभय-
स्यावरुध्यै ग्रुमुष्टिनाऽवोक्षति प्राजापत्यः ॥ २ ॥

वै ग्रुमुष्टिः संयोनित्वाय द्वाभ्यां प्रतिष्ठित्यै अनुपरि-
चारमवोक्षत्यपरिवर्गमेवैनान् प्रीणाति वि वै एष
प्राणैः प्रजया पशुभिर्कथ्यते योऽग्निं चिन्वन्नधि-
क्लामति प्राणदा अपात्ता इत्याह प्राणानेवात्मन्धत्ते
वर्चोदा वरिवोदा इत्याह प्रजा वै वर्चः पशवो परिवः
प्रजामेव पशूनात्मन्धत्ते इन्दो वृचमहन् तं वृचः ॥ ३ ॥

हुतः षोडशभिर्भोगैरसिनात् स एतामग्रयेऽनीकवते
आहुतिमपश्यत् तामजुहोत् तस्याग्निरनीकवान् स्वेन
भागधेयेन प्रीतः षोडशधा वृचस्य भोगानप्यददद्वैश्व-
कर्म्मेणेन पाप्मनो निरमुच्यत् यदग्रयेऽनीकवते आहुतिं

जुहोत्यग्निरेवास्यानीकवान्त्वेन^१ भागधेयेन प्रीतः
पाप्मानमपि दहति वैश्वकर्मणेन^२ , पाप्मानो निर्मुच्यते
यं कामयेत चिरं पाप्मानः ॥ ४ ॥

निर्मुच्येतेत्येकैकं तस्य जुहुयाच्चिरमेव पाप्मानो
निर्मुच्यते यं कामयेत ताजक् पाप्मानो निर्मुच्येतेति
सर्वाणि तस्यानुद्रुत्य जुहुयात्ताजगेव पाप्मानो निर्मुच्य-
तेऽथो खलु नानैव सूक्ताभ्यां जुहोति नानैव सूक्तयो
र्वीर्यं दधात्यथो प्रतिष्ठित्यै * ॥ ५ ॥

देवाः । प्राजापत्यः । वृत्रः । चिरं पाप्मानः । चत्वा-
रिंशच्च ॥ ५ ॥ .

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके
पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

उदेनमुत्तरां नयेति^१ समिध आ दधाति यथा जनं
यतेऽवसङ्करोति तादृगेव तत् तिस्र आ दधाति चिद्वद् वै
अग्निर्यावानेवाग्निस्तस्मै^२ भागधेयं करोत्यौदुम्बरीर्भ-
वन्त्यूक्^३ वै उदुम्बर उज्जमेवास्मै^४ अपि दधाति उदु त्वा
विश्वे देवा इत्याह प्राणा वै विश्वे देवाः प्राणैः ॥ १ ॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डोऽथ षष्ठप्रपाठकस्य प्रथमद्वितीया-
नुवाकभाष्ये श्रव्यम् ।

एवैनमुद्यच्छतेऽग्ने भरन्तु चित्तिभिरित्याह यस्मै
 एवैनं चित्तायोद्यच्छते तेनैवैनं५ समर्धयति पञ्च दिशो
 दैवीर्यज्ञमवन्तु देवोरित्याह दिशो ह्येषोऽनु प्रच्यवते
 अप अमतिं दुर्मतिं बाधमाना इत्याह रक्षसामपहत्यै
 रायस्योषे यक्षपतिमाभजन्तीरित्याह पशवो वै राय-
 स्योषः ॥ २ ॥

पशून्मेवाव रुन्धे षड्भिर्हरति षड्वै कृतव कृतु-
 भिरुवैनं५ हरति द्वे परिगृह्यवती भवतो रक्षसाम-
 पहत्यै सूर्यरस्मिर्हरिकेशः पुरस्तादित्याह प्रसृत्यै ततः
 पावका आशिषो नो जुषन्तामित्याहान्नं वै पावकोऽन्न-
 मेवाव रुन्धे देवासुराः संयत्ता आसन् ते देवा एतद-
 प्रतिरथमपश्यन्तेन वै तैऽप्रति ॥ ३ ॥

असुरान् अजयन्तदप्रतिरथस्याप्रतिरथत्वं यदप्रति-
 रथं द्वितीयो होताऽन्वाह अप्रत्येव तेन यजमानो भ्रातृ-
 व्यान् जयत्यथो अनभिजितमेवाभि जयति दशर्चं भवति
 दशाक्षरा विराड् विराजा इमौ लोकौ विधृतावनयो-
 लोकयोर्विधृत्या अथो दशाक्षरा विराडन्नं विराड्विराजि
 एवान्नाद्ये प्रति तिष्ठति असदिव वै अन्तरिक्षमन्त-
 रिक्षमिवामीध्रमामीध्रे ॥ ४ ॥

अस्मान् नि 'दधाति सत्त्वाय द्वाभ्यां प्रनिष्ठित्यै वि-

मानं एष दिवो मध्यं आस्त इत्याह वि एवैतया मिमीते
 मध्ये दिवो निहितः पृश्निरस्मै इत्याह अन्नं वै पृश्नि
 अन्नमेव अव रुन्धे चतसृभिरा पुच्छादेति चत्वारि
 छन्दांसि छन्दाभिरैवेन्द्रं विश्वा अवीष्टधन्वित्याह
 दृष्टिमेवोपावर्त्तते वाजानां सत्यं पतिं ॥ ५ ॥

इत्याहान्नं वै वाजोऽन्नमेवाव रुन्धे सुमहूर्यज्ञो देवाः
 आ च वक्षदित्याह प्रजा वै पशवः सुमं प्रजामेव पशून्
 आत्मन्धत्ते यक्षदग्निर्देवो देवाः आ च वक्षदित्याह
 स्वगाकृत्यै वाजस्य मा प्रसवेनोद्ग्राभेण उद्ग्रभीदि-
 त्याह असौ वै आदित्य उद्यन्नुद्ग्राभ एष, निम्नोचन्
 निग्राभो ब्रह्मणैवात्मानमुद्गृह्णाति ब्रह्मणा भ्रातृव्यं नि
 गृह्णाति* ॥ ६ ॥

प्राणैः । पोषः । अप्रति । आग्नीध्रे । पतिम् । एष ।
 दश च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके
 षष्ठोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानित्याह देवलोकमे-
 वैतयोपावर्त्तते क्रमध्वमग्निना नाकमित्याहेमानेव

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डोपसृष्टमप्रपाठकस्य तृतीयचतुर्थानु-
 वाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

एतया लोकान् क्रमते पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमा अह-
मित्याह इमानेवैतया लोकान् समारोहति सुवर्यन्तो
नापेक्षन्त इत्याह सुवर्गमेवैतया लोकमेत्यग्ने प्रेहि ॥ १ ॥

प्रथमो देवयतामित्याह उभयेष्टेवैतया देवमनुष्येषु
चक्षुर्दधाति पञ्चभिरधि क्रामति पांक्तो यज्ञो थावानेव
यज्ञस्तेन सह सुवर्गं लोकमेति नक्तोषासेति पुरोनुवा-
व्यामन्वाह ग्रथ्यै अग्ने सहस्राक्षेत्याह साहस्रः प्रजा-
पतिः प्रजापतेरात्यै तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहेत्याह
अन्नं वै वाजोऽन्नमेवाव ॥ २ ॥

रुन्धे दध्नः पूर्णामौदुम्बरीः स्वयमातृणायां जुहोति
जर्क् वै दधि जर्गुदुम्बरोऽसौ स्वयमातृणाऽमुष्यामेवार्जं
दधाति तस्मादमुतोऽर्वाचोमूर्जमुपजीवामस्तिष्ठभिः
सादयति चिदृद् वै अग्निर्यावानेवाग्निस्तं प्रतिष्ठां गमयति
प्रेक्षो अग्ने दीदिहि पुरो न इत्यौदुम्बरीमा दधात्येषा
वै सर्मा कर्णिकावती एतया ह स्म ॥ ३ ॥

वै देवा असुराणां शततर्ह्यास्तृहन्ति यदेतया
समिधमादधाति वज्रमेवैतच्छतघ्नो यजमानो भ्रातृव्याय
प्रहरति स्तृत्यै अच्छं बट्कारं विधेम ते परमे जन्म-
न्मग्ने इति वैकङ्कतीमा दधाति भा एवाव रुन्धे
ताः सवितुर्वरेण्यस्य चिचामिति शमीमयीः शान्त्यै

अग्निवी ह वै अग्निचितं दुहेऽग्निचिदग्निं दुहे तां
॥ ४ ॥

सवितुर्वरेण्यस्य चिचामित्याहैष वा अग्नेर्दोहस्त-
मस्य कख एव आयसोऽवेत्तेन ह स्मैन् स दुहे यदे-
तया समिधमादधात्यग्निचिदेव तदग्निं दुहे सप्त तं अग्ने
समिधः सप्त जिह्वा इत्याह सप्तैवास्य सामानि प्रीणाति
पूर्णया जुहोति पूर्ण इव हि प्रजापतिः प्रजापतेः ॥ ५ ॥

आस्यै न्यूनया जुहोति न्यूनाद्धि प्रजापतिः प्रजा
अस्तृजत प्रजानां सृष्ट्वै अग्निर्देवेभ्यो निलायत् स
दिशोऽनु प्राविशज्जुह्वत् मनसा दिशो ध्यायेद्दिग्भ्य
एवैनमव रुन्धे दध्ना पुरस्ताज्जुहोति आज्येनोपरिष्ठात्
तेजश्चैवास्यै इन्द्रियञ्च समीची दधाति द्वादशकपालो
वैश्वानरो भवति द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो-
ऽग्निर्वैश्वानरः साक्षात् ॥ ६ ॥

एव वैश्वानरमव रुन्धे यत् प्रयाजानूयाजान् कुर्यात्
विकस्तिः सा यज्ञस्य दर्विहोमं करोति यज्ञस्य प्रतिष्ठित्यै
राष्ट्रं वै वैश्वानरो विट् मरुतो वैश्वानरः हुत्वा मारुतान्
जुहोति राष्ट्र एव विशमनु बध्नात्युच्चैर्वैश्वानरस्य आ
आवयति उपांशु मारुतान् जुहोति तस्माद्राष्ट्रं विशमनि
वदति मरुता भवन्ति मरुतो वै देवानां विशेष देव-

विशेनैवास्मै मनुष्यविशम्, अव रुन्धे सप्त भवन्ति सप्तगणा
वै मरुतो गणश एव विशमव रुन्धे गणेन गणमनुद्रुत्य
जुहोति विशमेवास्मै अनुवर्त्मानकरोति ॥ ७ ॥ *

अग्ने प्रेहि । अव । स्म । दुहे तां । प्रजापतेः । साक्षात् ।
मनुष्यविशम् । एकविंशतिश्च ॥ ७ ॥ •

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके
सप्तमोऽनुवाकः ॥०॥

वसोर्धारां जुहोति वसोर्मे धारा असदिति वै एषा
ह्वयते घृतस्य वै एनमेषा धारा अमुष्मिन् लोके पिब-
माना उपतिष्ठत आज्येन जुहोति तेजो वै आज्यं तेजो
वसोर्धारा तेजसैवास्मै तेजोऽव रुन्धेऽथो कामा वै
वसोर्धारा कामानेवाव रुन्धे यं कामयेत प्राणानस्य
अन्नाद्यं वि ॥ १ ॥

छिन्द्यामिति विग्राहन्तस्य जुहुयात् प्राणानेवास्य
अन्नाद्यं विच्छिनत्ति यं कामयेत प्राणानस्यान्नाद्यं सं-
तनुयामिति सन्ततां तस्य जुहुयात् प्राणानेवास्यान्नाद्यं
सन्तनेति द्वादश द्वादशानि जुहोति द्वादश मासाः

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डीयषष्ठप्रपाठकस्य पञ्चमानुवाक-
भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

संवत्सरः संवत्सरेणैवास्मै अन्नमव हन्थेऽन्नञ्च मे क्षुञ्च मे
इत्याहैतद्वै ॥ २ ॥

अन्नस्य रूपः रूपेणैवान्नमव हन्थेऽग्निश्च मे आपश्च मे
इत्याहैषा वै अन्नस्य योनिः सयोन्येवान्नमव हन्थेऽर्धे-
न्द्राणि जुहोति देवता एवाव हन्थे यत्सर्वेषामर्धमिन्द्रः
प्रति तस्मादिन्द्रो देवतानां भूयिष्ठभाक्तम् इन्द्रमुत्तर-
माहेन्द्रियमेवास्मिन्नुपरिष्ठाहधाति यज्ञायुधानि जुहोति
यज्ञः ॥ ३ ॥

वै यज्ञायुधानि यज्ञमेवाव हन्थे अथो एतद्वै यज्ञस्य
रूपः रूपेणैव यज्ञमव हन्थेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च
मे इत्याह स्वगाकृत्या अग्निश्च मे घर्मश्च मे इत्याह
एतद्वै ब्रह्मवर्चसस्य रूपः रूपेणैव ब्रह्मवर्चसमव हन्थे
ऋक् च मे साम च मे इत्याह ॥ ४ ॥

एतद्वै छन्दसाः रूपः रूपेणैव छदाःस्यव हन्थे
गर्भाश्च मे वत्साश्च मे इत्याहैतद्वै पशूनाः रूपं रूपेणैव
पशूनव हन्थे कल्यान् जुहोति अक्तृप्तस्य क्लृप्त्यै युग्मदयुजे
जुहोति मिथुनत्वाय उत्तरावतो भवतोऽभिक्रान्त्यै
एका च मे तिस्रश्च मे इत्याह देवच्छन्दसं वै एका च
तिस्रश्च ॥ ५ ॥

मनुष्यच्छन्दसं चतस्रश्चाष्टौ च देवच्छन्दसञ्चैव मनुष्य-

हन्द्सच्चाव रन्ध्रे आ चयस्त्रिंशतो जुहोति चयस्त्रिंशद्वै देवता देवता सुवाव रन्ध्रे आ अष्टाचत्वारिंशतो जुहोत्यष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागताः पशवो जगत्यैवास्मै पशूनवरन्ध्रे वाजस्य प्रसवयेति द्वादशं जुहोति द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सर एव प्रति तिष्ठति ॥ ६ ॥ *

वि । वै । यज्ञः । सामं च मे इत्याहु । च तिस्रश्च । एकान्नपञ्चाशच्च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके अष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अग्निर्देवेभ्योऽपाक्रामद्वागधेयमिच्छमानस्तं देवा अब्रुवन्नुप न आ वर्तस्व हव्यन्नो वहेति सोऽब्रवीद्वरं वृणै मद्भमेव वाजप्रसवीयं जुहवन्निति तस्माद्भमेव वाजप्रसवीयं जुह्वति यद्वाजप्रसवीयं जुहोत्यग्निमेव तद्वागधेयेन समर्धयत्यथो अभिषेक एवास्य स चतुर्दशभिर्जुहोति सप्त ग्राम्या ओषधयः सप्त ॥ १ ॥

आरण्या उभयीषामवरन्ध्र्यै अन्नस्यान्नस्य जुहोति

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डोपसप्तमप्रपाठकस्य एकादशानुवाकभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

अन्नस्य अन्नस्याव रन्ध्रौ औदुम्बरेण सुवेण जुहोत्यृग्वै
 उदुम्बर् उर्गन्नम् जर्जैवासौ जर्जमन्नमव रन्ध्रेऽग्निर्वै
 देवानामभिषिक्तोऽग्निचिन्मनुष्याणां तस्मादग्निचिद्वर्षति
 न धावेदवरुद्धः स्यान्नमन्नमिव खलु वै वर्षं यदधा-
 वेदन्नाद्याद्धावेदुपावर्त्ततान्नाद्यमेवाभि ॥ २ ॥

उपावर्त्तते नक्तोषासेति कृष्णायै श्वेतवत्सायै पयसा
 जुहोत्यह्णैवासौ रात्रिं प्र दापयति रात्रिया अहः
 अहोरात्रे एवासौ प्रते काममन्नाद्यं दुहाते राष्ट्रधृते
 जुहोति राष्ट्रमेवाव रन्ध्रे षड्भिर्जुहोति षड्वै ऋतवः
 ऋतुष्वेव प्रति तिष्ठति भुवनस्य पते इति रथमुखे पञ्चा-
 हुतीर्जुहोति वज्रो वै रथो वज्रेणैव दिशः ॥ ३ ॥

अभि जयत्यग्निचितः ह वै अमुष्मिन् लोके वातो-
 ऽभिपवते वातनामानि जुहोत्यभि एवैनममुष्मिन् लोके
 वातः पवते चीणि जुहोति त्रय इमे लोका एभ्य एव
 लोकेभ्यो वातमव रन्ध्रे समुद्रोऽसि नभस्वानित्याहृतद्वै
 वातस्य रूपः रूपेणैव वातमव रन्ध्रेऽञ्जलिना जुहोति
 न ह्येतेषामन्यथा, आहुतिरवकल्पते* ॥ ४ ॥

आषधयः सप्त । अभि । दिशः । अन्यथा । हे च ॥ ६ ॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डीयसप्तममपाठकस्य द्वादशानुवा-
 कभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

इति नैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके
नवमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

सुवर्गाय वै लोकाय देवरथो युज्यते यत्राकूताय
मनुष्यरथ एष खलु वै देवरथो यदग्निः अग्निं युनज्मि
शर्वसा घृतेनेत्याह युनक्त्येवैनं स एनं युक्तः सुवर्ग
लोकमग्निं वहति यत्सर्वाभिः पञ्चभिर्यज्ञाद्युक्तो
ऽस्याग्निः प्रच्युतः स्यादप्रतिष्ठिता आहुतयः स्युरप्रति-
ष्ठिता स्तोमा अप्रतिष्ठितान्युक्थानि तिसृभिः प्रातः-
सवनेऽग्निं मृशति त्रिवृत् ॥ १ ॥

वै अग्निर्यावानेवाग्निस्तं युनक्ति यथानसि युक्ते
आधीयते एवमेव तत् प्रत्याहुतयस्तिष्ठन्ति प्रतिस्तोमाः
प्रत्युक्थानि यज्ञायज्ञियस्य स्तोत्रे द्वाभ्यामग्निं मृशति
एतावान् वै यज्ञो यावानग्निष्टोमो भूमा तु वै* अस्य
अत ऊर्ध्वः क्रियते यावानेव यज्ञस्तमन्ततोऽन्वारोहति
द्वाभ्यां प्रतिष्ठित्यै एकया अप्रस्तुतं भवत्यथ ॥ २ ॥

अग्निमृशति उपैन्मुत्तरो यज्ञो नमति अथो सन्तत्यै
प्र वै एषोऽस्मात् लोकात् च्यवते योऽग्निं चिनुते न
वै एतस्यानिष्टके आहुतिरव कल्पते यां वै एषोऽनिष्टके

* तु वै इत्यत्र त्वा इति आदर्शपुस्तकपठः ।

आहुतिं जुहोति खवति वै सा ताः खवन्ती यज्ञोऽनु
परा भवति यज्ञं यजमानो यत्पुनश्चितिं चिनुते
आहुतीनां प्रतिष्ठित्यै प्रत्याहुतयस्तिष्ठन्ति ॥ ३ ॥

न यज्ञः परा भवति न यजमानोऽष्टावुप दधाति
अष्टाक्षरा गायत्री गायत्रेणैवैनं छन्दसा चिनुते
यदेकादश चैष्टुभेन यद्द्वादश जागतेन छन्दोभिरेवैनं
चिनुते नपात्को वै नामैषोऽग्निर्यत्पुनश्चितिर्य एवं
विद्वान् पुनश्चितिं चिनुते आ तृतीयात् पुरुषादन्नमस्ति
यथा वै पुनराधेयः एवं पुनश्चितिर्योऽग्न्याधेयेन न
॥ ४ ॥

ऋध्नोति स पुनराधेयमाधत्ते योऽग्निं चित्वा न
ऋध्नोति स पुनश्चितिं चिनुते यत्पुनश्चितिं चिनुते ऋध्यै
अथो खल्वाहुः न चेतव्येति रुद्रो वै एष यद्गमिः यथा
व्याघ्रः सुप्तं बोधयति तादृगेव तत् अथो खल्वाहुश्चेन-
व्येति यथा वसीयाः सम्भागधेयेन बोधयति तादृगेव
तन्मनुरग्निमचिनुत, तेन न आर्धोऽस एतां पुनश्चिति-
मपश्यत् तामचिनुत तथा वै स आर्धोऽद्यत् पुनश्चितिं
चिनुते ऋध्यै* ॥ ५ ॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डेयसप्तमप्रपाठकस्य अयोदशानु-
वाकभाष्ये प्रदृश्यम् ।

चि॒ष्टत् । अ॒य । ति॒ष्ठन्ति । अ॒ग्न्या॒धेये॒न न । अ॒चि॒-
नु॒त । स॒प्तद॑श च ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके
दशमोऽनुवाकः ॥०॥

छ॒न्द॒श्चितं॑ चि॒न्वीत॑ प॒शुकामः॑ प॒शवो॑ वै छ॒न्दांसि॑
प॒शुमाने॑व भ॒वति॑ श्ये॒न॒चितं॑ चि॒न्वीत॑ सु॒वर्ग॑कामः
श्ये॒नो वै व॒य॒साम्पति॑ष्ठः श्ये॒न ए॒व भू॒त्वा सु॒वर्गं॑ लो॒कं
प॒तति॑ क॒ङ्क॒चितं॑ चि॒न्वीत॑ यः क॒ामये॑त् शी॒र्ष॒ण्वान्
अ॒मुष्मिन्॑ लो॒के स्या॑मि॒ति शी॒र्ष॒ण्वाने॒वामुष्मिन्॑ लो॒के
भ॒वति॑ अ॒लज॑चितं चि॒न्वीत॑ चतुः॒सीतं॑ प्र॒तिष्ठा॑काम-
श्च॒त॒स्रो दि॒शो दि॒क्षे॒व प्र॒ति ति॒ष्ठति॑ प्रउ॒ग॒चितं॑ चि॒न्वीत॑
भा॒त॒व्य॒वान् प्र ॥ १ ॥

ए॒व भा॒त॒व्यान्नु॒दते॑ उ॒भय॑तः प्रउ॒गं चि॒न्वीत॑ यः
क॒ामये॑त् प्र ज्ञा॒तान् भा॒त॒व्यान्नु॒देय॑ प्र॒ति ज॒निष्य॑मा-
णा॒निति॑ प्रै॒व ज्ञा॒तान् भा॒त॒व्यान्नु॒दते॑ प्र॒ति ज॒निष्य॑-
मा॒णान् रथ॑च॒क्र॒चितं॑ चि॒न्वीत॑ भा॒त॒व्य॒वान् वज्रो॑ वै
रथो॑ वज्र॒मे॒व भा॒त॒व्येभ्यः॑ प्र ह॒रति॑ द्रो॒ण॒चितं॑ चि॒न्वी-
ता॒न्न॒कामो॑ द्रो॒णो वै अ॒न्नं भ्रि॑यते स॒योन्ये॒वान्न॒मव॑
द॒न्त्ये स॒मू॒हं चि॒न्वीत॑ प॒शुकामः॑ प॒शुमाने॑व भ॒वति ॥ २ ॥

परिचाय्यं चिन्वीत् ग्रामकामो ग्राम्यैव भवति
 श्मशानचित्तं चिन्वीत् यः कामयेत् पितृलोके कृभ्या-
 मिति पितृलोके एव कृधोति विश्वामित्रजमदग्नी
 वसिष्ठेन अस्पर्धेतां स एता जमदग्निर्विह्व्या अपश्यत्
 ता उपधत्ता ताभिर्वै स वसिष्ठस्येन्द्रियं वीर्यमष्टं
 यद्विह्व्या उपदधाति इन्द्रियमेव ताभिर्वीर्यं यजमानो
 भ्रातृव्यस्य वृद्धे हेतुर्धिष्णिये उप दधाति यजमाना-
 यतनं वै ॥ ३ ॥

हेता स्वे एवास्मै आयतने इन्द्रियं वीर्यमव रुन्धे
 द्वादशोप दधाति द्वादशाक्षरा जगती जागताः पशवो
 जगत्त्रैवास्मै पशून्व रुन्धेऽष्टौ अष्टौ अन्येषु धिष्णियेषु
 उप दधाति अष्टाशफाः पशवः पशून्वाव रुन्धे षट्
 मार्जालीये षट् वै कृतव कृतवः खलु वै देवाः
 पितरं कृतून्व देवान् पितृन् प्रीणाति* ॥ ४ ॥

प्र । भवति । यजमानायतनं वै । अष्टाचत्वारिंशच्च
 ॥ ११ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके
 एकादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

* अस्यानुवाकस्य व्याख्यानं चतुर्थकाण्डायसप्तमप्रपाठकस्य चतुर्दशानुवाक-
 भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

पवस्व वाजसातय इत्यनुष्टुक् प्रतिपद्वति तिस्रोऽनु-
ष्टुभश्चतस्रो गायत्रीयो यत् तिस्रोऽनुष्टुभस्तस्मादश्व-
स्त्रिभिस्त्रिष्टुप्स्त्रिष्टति यच्चतस्रो गायत्रियः तस्मात्
सर्वाःश्चतुरः पदः प्रतिदधत् पलायते^(१) परमा वै
एषा छन्दसां यदनुष्टुक् परमश्चतुष्टोमः स्तोमानां
परमस्त्रिराचो यज्ञानां परमोऽश्वः पशूनां परमेणैवैनं
परमतां गमयति^(२) एकविंशमद्वर्भवति ॥ १ ॥

यस्मिन्नश्व आलभ्यते द्वादश मासाः पञ्च ऋतवस्त्रय
इमे लोका असावादित्य एकविंश एष प्रजापतिः
प्राजापत्योऽश्वस्तमेव साक्षाद् ऋध्नोति^(३) शक्रयः पृष्ठं
भवन्ति अन्यत् अन्यच्छन्दोऽन्येऽन्ये वै एते पशव आ-
लभ्यन्ते उत इव ग्राम्या उत इव आरण्या यच्छक्रयः
पृष्ठं भवन्ति अश्वस्य सर्वत्वाय^(४) पार्थुरश्वं ब्रह्मसामं
भवति रुस्मिना वै अश्वः ॥ २ ॥

यत् ईश्वरो वै अश्वोऽयतोऽप्रतिष्ठितः परां परावत्तं
गन्तोयत् पार्थुरश्वं ब्रह्मसामं भवति अश्वस्य यत्यै घृत्यै^(५)
संहृत्यै अक्षावाकसामं भवति उत्सन्नयज्ञो वै एष
यदश्वभेदः कस्तद्वेदेत्याहुर्यदि सर्वो वै क्रियते न वा
सर्वः इति यत् संहति अक्षावाकसामं भवत्यश्वस्य
सर्वत्वाय पृथ्यायै अनन्तरायाय^(६) सर्वस्तोमोऽतिराच

उत्तममहर्भवति, सर्वस्यास्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेव तेना-
प्नोति सर्वं जयति^(०) ॥ ३ ॥

अहर्भवति । वै अश्वः । अहर्भवति । दश च ॥ १२ ॥

देवासुराः, ते न । अतव्याः । रुद्रः । अश्वन् । नृषदे
वत् । उदेनं । प्राचीम्,—इति । वसोर्धाराम् । अग्नि-
देवेभ्यः । सुवर्गाय,—यचाकूताय । छन्दश्चितं । पवस्व ।
द्वादश ॥ १२ ॥

देवासुराः (०१।१) । अजायां (३।३) । वै शुमुष्टिः
(५।३) । प्रथमो देवयताम् (७।२) । एतद्वै छन्दसाम्
(८।५) । अप्नोति (१०।५) । अष्टौ पञ्चाशत्* ॥ ५८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके
द्वादशोऽनुवाकः ॥०॥

इति संहितापञ्चमाष्टके चतुर्थः प्रश्नः ॥

॥ ० ॥ हरिः ओम् ॥ ० ॥

यस्य विश्वं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

प्रपाठके तु तार्त्तिये वर्जिताश्चितयोऽखिलाः ।

* प्रथमे ४, द्वितीये ५, तृतीये ५, चतुर्थे ५, पञ्चमे ५, षष्ठे ५, सप्तमे ७,
अष्टमे ६, नवमे ४, दशमे ५, एकादशे ४, एवम् द्वादशे ३ । इति समष्टिः ५८ ।

चतुर्थे चितिसंस्कारः, द्वादशाक्षानुवाककाः ॥

इष्टका इन्द्रतन्वाख्या यज्ञतन्वाभिधास्तथा ।

नक्षत्राख्याश्च विहिताः प्रथमेऽप्यनुवाकके ॥

अतस्तथा वैश्वदेव्यश्च द्वितीये प्रोक्षणं तथा ।

अतर्द्रीयहोमस्तु तृतीये समुदीरितः ॥

परिषेचनमप्युक्तं तुर्ये तद्वद्विकर्षणम् ।

व्याघारणं वैश्वकर्मणाऽऽतिश्यात्र पञ्चमे ॥

षष्ठे तु समिदाधानमग्निप्रणयनं तथा ।

होतान्वाहाप्रतिरथं दशर्चं सविकल्पकम् ॥

सप्तमे स्मृतिमारुह्य वज्रिं तत्र विनिक्षिपेत् ।

वसोर्धाराष्टमे वाजप्रसवीयोऽप्यनन्तरे ॥

दशमे वज्रिचोगाश्च पुनश्चितिरितीरितः ।

एकादशे तु काम्यानि विह्वयाश्च समीरिताः ॥

द्वादशे त्वष्टमेधीयस्तोत्रे* त्रयमुदारितम् ।

अक् स्तोमः साम चेत्येवं प्रपाठक उदीरितः ॥

तत्रादौ बहिष्यवमानस्तोत्रे षोडशप्राप्तां गायत्रीमपवदितुमन्या-
मृषं विधत्ते,—“पवस्व वाजमातये इत्यनुष्टुक् प्रतिपङ्कवति तिस्रो-
ऽनुष्टुभश्चतस्रो गायत्रियो यत् तिस्रोऽनुष्टुभस्तस्मादशस्त्रिभिस्त्रिष्टु-
प्तिष्ठति, यच्चतस्रो गायत्रियस्तस्मात् सर्वाश्चतुरः पदः प्रतिदधत्
पलायते” इति । बहिष्यवमानस्तोत्रे प्राकृते त्रयस्तुत्रा गायत्राः, तेऽत्र
षोडशकेन प्राप्ताः । तत्परित्यागेन ‘पवस्व’ इत्यादिका येयमनुष्टुक्,

* स्तोत्रत्रयमिति का० मी० पुस्तके पाठः ।

‘चतस्तो गायत्रियो’ भवन्ति । तच्च यस्मात् स्वरूपेण तिस्रोऽनुष्टुभः, ‘तस्माद्’ अश्वो गमनं परित्यज्य एकच यदा तिष्ठति, तदा एकस्मिन् पादे भारमुपेक्ष्य त्रिवेषु पादेषु भारमवलम्ब्य तिष्ठति । यस्मादेता विभज्यमानाः ‘चतस्तो गायत्रियः’, तस्मात् पलायमानोऽश्वः ‘चतुरः’ पादात् सर्वानपि भूमौ प्रलिपन्नेव ‘पलायते’ ।

प्रकारान्तरेणानुष्टुभं प्रशंसति,—“परमा वै एषा हृन्दसां यदनुष्टुक् परमश्चतुष्टोमः स्तोमानां परमस्तिरात्रो यज्ञानां परमोऽश्वः पशूनां परमेणैवैनं परमतां गमयति^(१)” इति । सर्ववागात्मकत्वात् हृन्दसां मध्ये अनुष्टुभः परमत्वं, ‘वाग्वै अनुष्टुप्’-इति वज्रशः श्रुतं । ‘स्तोमानां’ त्रिवृदग्निष्टोमादीनां मध्ये प्रकृतत्वात् चतुष्टोमस्य परमत्वं । त्रिरात्रस्याश्वमेधस्य • महापातकप्रायश्चित्तरूपत्वात् यज्ञानां मध्ये परमत्वं । तादृशयज्ञसाधनत्वात् संयामजयहेतुत्वाच्च पशूनां मध्ये अश्वस्य परमत्वम् । एवं सति परमस्य त्रिरात्रस्य या परमे चतुष्टोमे परमस्याश्वस्य सम्बन्धित्वेनानुष्टुभि परमायां ‘परमेणैवैनं’ साधनसमूहेन ‘परमतां’ श्रेष्ठ्यतां* प्राप्नोति ।

प्रकृतिप्राप्तान् त्रिवृदादिस्तोमान् बाधितुं स्तोमान्तरं विधत्ते,— एकविंशमहर्भवति यस्मिन्नश्व आलभ्यते दादश मासाः पञ्चर्तवस्त्वय इमे लोका असावादित्य एकविंश एष प्रजापतिः प्राजापत्यो-ऽश्वस्तमेव साक्षादृप्नोति^(१)—इति । एकविंशतृत्यात्मकेन स्तोमेन सर्वत्र युक्तं, न तु स्तोमान्तरेण तादृशमेकविंशमहः कर्तव्यम् । प्रथमद्वितीययोरङ्गाभ्यामृत्तये विज्ञेयते,—‘यस्मिन्’ मध्यमे अहनि

* श्रेष्ठतामिति पाठो भविष्युं युक्तः ।

‘अश्वः’ ‘आलभ्यते’, तद् ‘अहः’ ‘एकविंशं’, अश्वो हि अवयवसंज्ञके दितोयेऽहनि आलभ्यते, मासर्तुलोकादित्यानां एकविंशतिसङ्ख्योपेतत्वात्, जगद्रूपेण प्रजापतिशरीरत्वात्, अश्वस्य प्रजापतिजन्यत्वाच्च तस्याश्वस्य समृद्ध्यर्थमयमेकविंशतिस्तोमो युक्तः ।

अथ पृष्ठस्तोत्रगतानामृचां छन्दोऽन्तरं वारयितुं शक्यात्मां छन्दो विधत्ते,—“शक्करयः पृष्ठं भवत्यन्यदन्यच्छन्दोऽन्येऽन्ये वा एते पञ्चव आलभ्यन्ते उतेव याम्या उतेवारणा यच्छक्करयः पृष्ठं भवत्यश्वस्य सर्वत्वाय^(४)”—इति। शक्करीछन्दोपेता ऋचः ‘शक्करयः’, ताभिर्युक्तं पृष्ठस्तोत्रं कुर्यात् । सप्तपादात्मके शक्यात्मके छन्दसि षादचयात्मकं गायत्र्याख्यं छन्दः, षादचतुष्टयात्मकं त्रिष्टुभाख्यं छन्दः, षादपञ्चकात्मकं षड्द्वयात्मकं छन्दः,—इत्येवं ‘अन्यदन्यत्’ नानाविधं छन्दः, अन्तर्भवति, अश्वमेधेऽपि अश्वप्रधानके ‘अन्येऽन्ये’ नानाजातीया एव पञ्चव आलभ्यन्ते । तत्र केचन याम्या एव, केचन आरणा एव, तत्रापि अवान्तरभेदा बहुधा द्रष्टव्या । एवं सर्वपृष्ठस्तोत्रे अश्वमेधसम्बन्धिनि नानाछन्दोगर्भितशक्करीस्वीकरे सति मुख्यस्याश्वस्य सर्वपञ्चात्मकत्वं सम्पादितं भवति ।

अथ चोदकप्राप्तं सामान्तरमपवदितुं सामविशेषं विधत्ते,—“पार्थुरश्मं ब्रह्मसामं भवति रश्मिना वै अश्वो यत ईश्वरो वै अश्वोऽयतोऽप्रतिष्ठितः पराम्परावतं गन्तार्यत्पार्थुरश्मं ब्रह्मसामं भवत्यश्वस्य यत्नै धृत्यै^(५)”—इति । पृथुरश्मिना महर्षिणा दृष्टं साम ‘पार्थुरश्मं’, ब्रह्माण्डत्वजमभिलक्ष्य गीयमानं साम ‘ब्रह्मसामं’, तच्च नात्र प्रकृतं कार्यं, किन्तु पार्थुरश्मं कार्यं । ‘यस्मात्’ कारणात् ‘रश्मिना’ रज्जुविशेषेण दृढभूतः ‘अश्वः’ पुरुषम् अपेक्षितदेशे नेतुं ‘ईश्वरः’ समर्थः, यस्माच्च

कारणात् 'अयतो' नियमनरहितोऽयः कापि 'अप्रतिष्ठितः' सन् अत्यन्तं दूरं गन्तुं समर्थः; तस्मात् अश्वस्य 'यत्थै' दूरगमननियमनाय, उपरितनपुरुषेण धारणाय च 'पार्थुरश्मं' कार्यं । तथैव अश्वावाकं प्रतिगातव्यं सामविशेषं विधत्ते,—“संक्रत्यश्वावकसामं भवति उत्सन्न-यज्ञो वै एष यदश्वमेधः कस्तद्धेदेत्याहुर्द्यदि सर्वो वै क्रियते न वा सर्व इति, यत् संक्रत्यश्वावकसामं भवति अश्वस्य सर्वत्राय पर्याप्त्यै अनन्तरायाय^(१)”—इति । समीचीना आकृतिर्यस्य साम्नास्तत् 'संक्रति', विकलमङ्गं सम्यक् कर्तुं समर्थमित्यर्थः । एतन्नामकं सामगानां यत् प्रसिद्धं तत् अश्वावत्कमभिलक्ष्य गातव्यं । योऽयमश्वमेधः क्रतुः, सोऽयं विनष्टयज्ञावयवैर्बहुभिरवयवैरुपेतत्वात् कृत्योऽयमवयवसङ्घातः* क्रियते; क्वचित् किञ्चिदवयवोऽतिविस्तृतो वा इति को नाम लोके वेत्ति, तस्मात् संक्रतिगानेन अश्वसम्बन्धिनः क्रतोः सर्वावयवसाकल्यं भवति, तच्च देवानां संपूर्त्य यजमानस्य च स्वर्गप्राप्तिविघ्नपरिहाराय सम्पद्यते ।

अपेक्षितविशेषगुणैर्युक्तं द्वितीयमहर्विधाय अथ तृतीयमहर्विधत्ते,—“सर्वस्वोमोऽतिरात्र उत्तममहर्भवति सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेव तेनाप्नोति सर्वं जयति^(२)”—इति । त्रिवृदाद्याः रात्रयस्त्रिंशद् अत्र† आन्नाताः, सर्वेऽपि स्तोमा यस्मिन्नतिरात्रे सन्ति, सोऽयमतिरात्रः तृतीयदिवसे कर्त्तव्यः । तच्च स्तोमगतं सर्वत्वं स्वेन पूर्वमप्राप्तस्य सुखतोऽपि,‡ प्राप्तिं भवति यस्तु वैरी पूर्वमजितः तस्य सर्वस्यापि

* सन्धानः इति का० क्री० पु० पाठः ।

† त्रिवृदाद्याररात्रयस्त्रिंशदन्ता इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

‡ सुखतोऽपि सर्वस्य इति का० क्री० पु० पाठः ।

विजयाय भवति, तस्मादयं यजमानः तेन सर्वस्तोमेन प्राप्तव्यं
धनादिकं सर्वं प्राप्नोति, जेतव्यं वैरिवर्गं जयति ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं विनाशयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे • कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे चतुर्थप्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः ॥०॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबुक्क-
भूपालसाम्राज्यधुरदरेण सायनाचार्येण विरचिते • माधवीये वेदार्थ-
प्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे चतुर्थः प्रपाठकः
संपूर्णः ॥०॥

॥०॥ ॐ तत्सत् ॥०॥

॥०॥ श्रीगणेशाय नमः ॥०॥

तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये ।

पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।

हरिः ओम् ।

यदेकेन सः स्थापयति यज्ञस्य सन्तत्यै अविच्छेदाय^(१)
ऐन्द्राः पशवो ये मुष्कुरा यदैन्द्राः सन्तोऽग्निभ्य आलभ्यन्ते
देवताभ्यः समदं दधात्याग्नेयीस्त्रिष्टुभो याज्यानुवाक्याः
कुर्यात् यदाग्नेयीस्तेनाग्नेया यस्त्रिष्टुभः तेन ऐन्द्राः
समृद्धौ न देवताभ्यः समदं दधाति^(२) वायवे नियुत्वते
तूपरमा लभते तेजोऽग्नेर्वायुस्तेजस एष आ लभ्यते
तस्मात् तद्रियङ्वायुः ॥ १ ॥

वानि तद्रियं अग्निर्देहति स्वमेव तत्तेजोऽन्वेति^(३) यन्न
नियुत्वते स्यात् उन्माद्येत् यजमानो नियुत्वते भवति
यजमानस्यानुन्मादाय^(४) वायुमती श्वेतवती याज्यानु-
वाक्ये भवतः सतेजस्त्वाय^(५) हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्ने

इत्याधारमा धारयति प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजा-
पतेरनुरूपत्वाय^(१) सर्वाणि वै एष रूपाणि पशूनां प्रत्या
लभ्यते यत् श्मश्रुणस्तत् ॥ २ ॥

पुरुषाणां रूपं यत्तूपरस्तदश्वानां यदन्यतोऽदन्
तद्गवां यदव्या इव शूफास्तदवीनां यदजस्तदजानां^(२)
वायुर्वै पशूनां प्रियन्धाम् यदायव्यो भवत्येतमेवैनमभि
संजानानाः पशव उप तिष्ठन्ते^(३) वायव्यः कार्याः ।
प्राजापत्या इत्याहुयदायव्यं कुर्यात् प्रजापतेरीयाद्
यत् प्राजापत्यं कुर्यादायोः ॥ ३ ॥

इयाद्यदायव्यः पशुर्भवति तेन यायोनैति यत्
प्राजापत्यः पुरोडाशो भवति तेन प्रजापतेनैति यद्
द्वादशकपालस्तेन वैश्वानरान्नैति^(४) आग्नावैष्णवमेकादश
कपालं निर्वपति दोक्षिष्यमाणोऽग्निः सर्वा देवता
विष्णुं र्यज्ञो देवताश्चैव यज्ञश्च आ रभते^(५) अग्निरवमो
देवतानां विष्णुः परमो यदाग्नावैष्णवमेकादशकपालं
निर्वपति देवताः ॥ ४ ॥

एवोभयतः परियुञ्ज्य यजमानोऽव रुन्धे^(६) पुरोडाशेन
वै देवा अमुष्मिन्लोके आर्धुवन् चरुणाऽस्मिन् यः काम-
येतामुष्मिन् लोके ऋभुयामिति स पुरोडाशं कुर्वीत
अमुष्मिन्नेव लोके ऋभोति^(७) यदष्टाकपालस्तेनाग्नेयो

यस्त्रिकपालस्तेन वैष्णवः समृद्धौ^(११) यः कामयैतास्मिन्
लोके कृद्भुयामिति स चरुं कुर्वीतामेष्टं तं विष्णोस्तण्डुला-
स्तस्मात् ॥ ५ ॥

चरुः कार्योऽस्मिन्नेव लोके कृद्भोति^(१२) आदित्यो भवति
इयं वै अदितिस्तस्यामेव प्रतितिष्ठत्यथो अस्यामेवाधि-
यज्ञं तनुते^(१३) यो वै संवत्सरमुख्यममृत्वाऽग्निं चिनुते यथा
सामिगर्भोऽवपद्यते तादृगेव तद् आर्त्तिमा कृच्छेद्
वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरस्तात् निर्वपेत् संवत्सरो
वै अग्निवैश्वानरो यथा संवत्सरमाप्ता ॥ ६ ॥

काले आगते विजायते एवमेव संवत्सरमाप्ता काले
आगतेऽग्निं चिनुते नार्त्तिमार्च्छति^(१४) एषा वै अग्नेः प्रिया
तनूयिद् वैश्वानरः प्रियामेवास्य तनुवमव रुन्धे^(१५) चीरण्ये-
तानि हवींषि भवन्ति चय इमे लोका एषां लोकानां
रोहाय^(१६) ॥ ७ ॥

यद्रियङ् वायुः । श्मश्रुणस्तत् । वायोः । निर्वपति
देवताः । तस्मात् । आप्ता । अष्टात्रिंशच्च ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
प्रथमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

यस्य विश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

मन्त्राणां ब्राह्मणं प्रोक्तं प्रपाठकचतुष्टये ।

अथ प्रश्नत्रये तत्र शिष्टमङ्गं विविच्यते ॥

प्रथमप्रपाठके “एकविंशत्या माषैः” इत्यस्मिन्ननुवाके(८) “अग्निभ्यः पशूनालभते” इति विधाय अन्येषां पशूनां पर्यग्निकृतानामुत्सर्गमुक्त्वा “प्राजापत्येन संप्रस्थापयति” इति यदुक्तं तदनुस्मारयितुमनुवदति,— “यदेकेन संप्रस्थापयति यज्ञस्य सन्तत्यै अविच्छेदाय^(१)” इति । इतरान् पशूनुत्सृज्य प्राजापत्येनैकेन समापनं यत् तत् प्रारब्धस्य पशुकर्मणः सान्तत्याय भवति, असमापने तु विच्छेदः स्यात् ।

अथ तस्मिन् कर्मणि मन्त्रविशेषं विधत्ते,—“ऐन्द्राः पशवो ये मुष्करा यदैन्द्राः सन्तोऽग्निभ्य आलभ्यन्ते देवताभ्यः समदं दधाति आग्नेयीस्त्रिष्टुभो याज्यानुवाक्याः कुर्याद्यदाग्नेयीस्तेनाग्नेया यस्त्रिष्टुभस्तेनैन्द्राः समृद्धौ न देवताभ्यः समदं दधाति^(२)” इति । ‘ये’ लोकेषु ‘मुष्कराः’ अण्डसहिताः पशवः सन्ति, ते सर्वे पुंस्त्वलक्षणयेन्द्रिय-वृद्ध्या युक्त्वात् इन्द्रदेवताकाः, तादृशानां अन्यथालभने देवतानां कलहं सम्पादयेत्, अतः कलहपरिहाराय अग्निदेवताकाः त्रिष्टुप्-कन्दस्का ऋचः याज्यानुवाक्याः कुर्यात्, तथा सति ऋचामाग्नेयत्वेन पशवोऽप्याग्नेयाः सम्यद्यन्ते, त्रिष्टुभः इन्द्रेण सह उत्पन्नत्वात् तेन कन्दसा पशव ऐन्द्रा अपि सम्यद्यन्ते, तदुभयं मिलित्वा कलहं परिहृत्य ‘समृद्धौ’ सम्यद्यते । यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘अपि वा सर्वेषामेतेषां

स्थाने वायवे नियुत्वते श्वेतमजन्मूपरमासभते वायुमती वपाथा
 श्वेतवती थाज्यानुवाक्ये' इति । तमिमं पञ्चं विधत्ते,—“वायवे
 नियुत्वते त्वपरमा सभते तेजोऽग्नेर्वायुकोजस एष आ सभ्यते तस्मात्
 यद्रियङ्वायुर्वाति तद्रियं अग्निर्दहति स्वमेव तत् तेजोऽश्वेति”^(१)
 इति । नियुत्तुंशकाः अश्वविशेषा यस्य वायोः सन्ति सोऽयं नियुत्वान् ।
 त्वपरः षट्ङ्गरहितः । अग्निज्वालायाः उद्धोधकत्वात् ‘वायुः’ एव
 ‘अग्नेः’ ‘तेजः’; तस्मात् ‘तेजसः’ ‘एषः’ त्वपर आसभ्यो भवति ।
 यां दिशं प्रतिगच्छतीति ‘यद्रियङ्’ वायुः यद्दिगभिमुखो वाति,
 तद्दिगभिमुख एव “अग्निर्दहति” । तेन दहनेन स्वकीयमेव तेजः
 अनुगतवान् भवति । ‘नियुत्वते’ इत्येतद्वायुविशेषणम् ।

अन्वयव्यतिरेकभ्यां प्रशंसति,—“यन्न नियुत्वते स्यादन्माद्येद्
 यजमानो नियुत्वते भवति यजमानस्यानुन्मादाय”^(२) इति । वायो-
 नियामकाश्रयाभावे सति यजमानोऽपि नियामकबुद्धिरहितः सन्
 उन्मत्तः यत्र-कापि गच्छेत् यात्किञ्चिद्वा वदेत्, अतस्तत्परिहाराय
 नियुत्वद्विशेषणं ।

वायोरपेक्षितं मन्त्रविशेषं विधत्ते,—“वायुमती श्वेतवती
 थाज्यानुवाक्ये भवतः सतेजस्त्वाय”^(३) इति । ‘पीवोन्मा५ रयिवृध’
 इत्यृचौ वायुमत्यौ श्वेतवत्यौ च, ‘ते वायवे समनसः’ इति वायुशब्द-
 सङ्गावात्, ‘श्वेतः सिषक्ति’ इति श्वेतशब्दसङ्गावाच्च । वायोरग्नितेजस्त्वात्
 पशुश्वेत्यस्य च तेजोरूपत्वात् तदुभयं सतेजस्त्वाय सम्युद्यते ।

द्वितीयाधारे प्राकृतमन्त्रं वाधितुं विधत्ते,—‘हिरण्यगर्भः
 समवर्तताये इत्याधारमा धारयति प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्र३।१-

पतेरनुरूपत्वाय”^(१) इति । हिरण्यं ब्रह्माण्डरूपं यत्सर्वस्य प्रजा-
पतेर्गर्भे वर्तते, सोऽयं हिरण्यगर्भः, यदा हिरण्यस्य ब्रह्माण्डस्य मध्ये
सत्यलोके गर्भरूपत्वेनावस्थितः चतुर्मुखो हिरण्यगर्भः, अतोऽयं मन्त्रः
प्रजापतेरनुरूपः ।

पशून् प्रशंसति,—“सर्वाणि वै एष रूपाणि पशूनां प्रत्यासृज्यते
यत् ऋश्रुणस्तत्पुरुषाणां रूपं यत्तूपरस्तदस्थानां यदन्यतोऽन्
यद्गवां यदव्या इव शफास्तदवीनां यदजस्तदजानाम्”^(२) इति ।
पशूनां द्विपदा* च यानि रूपाणि मन्त्रि, तानि सर्वाणि प्रति
तद्रूपत्वेनैव पशुरासृज्यते, तत्र ‘यत्’† ऋश्रुयुक्त्वेन द्विपदा पुरुषेण
साम्यं, षट्श्ररहितत्वेनाश्वस्य साम्यं, अधस्तनपङ्क्तावेव दन्तमङ्गावेन
गोसाम्यम्, अविषदृशैः लुल्लकैः दिग्दुरैरुपेतत्वात् अविषाम्यम्,
अजजात्या सर्वेषामजानां साम्यम् ।

अथ वायुदेवतां प्रशंसति,—“वायुर्वै पशूनां प्रियन्धाम यदायव्यो
भवत्येतमेवैनमभि सञ्जानानाः पशव उप तिष्ठन्ते”^(३) इति । पशूनां
प्रावरणरहितत्वेन सञ्चरणाद्, ‘वायुः’ ‘प्रियन्धाम’ अतः पशोर्वायव्यत्वे
सति ‘एन’ वायुमभिलक्ष्य सम्यक् स्वकीयं धाम जानन्तः पशवः प्राप्यन्ते ।

अत्र मीमांसया निर्णेतुं कश्चिदर्थविशेषमनुष्ठेयं विधत्ते,—“वायव्यः
कार्याः प्राजापत्या इत्याहुर्वायव्यं कुर्यात् प्रजापतेरियात्
यत्प्राजापत्यं कुर्यादायोरियाद्यदायव्यः पशुर्भवति तेन वायोर्नैति

* “द्विपदां चतुष्पदानां” इति आदर्शपुस्तकेऽधिकः पाठः ।

† अत्र यदिदं पदं तत्पदं विना साकाङ्क्षमिति यत्पदं क्षपिकरप्रमादा-
दुद्भुतमिव प्रतिभाति ।

यत्प्राजापत्यः पुरोडाशो भवति तेन प्रजापतेर्नैति यद् द्वादशकपालक्षेत्रे
वैश्वानरान्नैति”^(९) इति । पञ्चोर्वायव्यत्वे सति अयं पशुः प्रजापतेः
अपेयात्, प्राजापत्ये सति वायोरपेयात् । एवमपि अन्यदयथा-
ध्याहर्त्तव्यं, पक्षद्वयेऽपि वैश्वानरादप्यपेयात् वैश्वानरसम्बन्धित्वे ताभ्या-
मपेयादिति प्रथमपक्षोपन्यासेऽपि वैश्वानरादित्यपि तृतीयः पक्षो
ऽध्याहर्त्तव्यः, तत्रायं निर्णयः,—पशुर्वायव्यः, पशुपुरोडाशः प्राजापत्यः,
तस्य द्वादशकपालत्वं वैश्वानरसम्बन्धि, तेन देवतात्रयाणि अपैति इति ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘यत्प्राक् दीक्षणीयायास्तत्कृत्वा त्रिविधं
दीक्षणीयां निर्वपति वैश्वानरं द्वादशकपालं तृतीयं पुरस्तादमंत्ररभ्यतः’
इति । अत्राग्नौ वैष्णवमेकादशकपालम्, आदित्यं चाग्नेत्स्य वैश्वानरस्य
तृतीयत्वम् । तत्र प्रथमं हविर्विधत्ते । “आग्नौ वैष्णवमेकादशकपालं
निर्वपति दीक्षित्यमाणोऽग्निः सर्वा देवता विष्णुर्यज्ञो देवतास्यैव यज्ञं
चरभते”^(१०) इति । अग्नेः सर्वदेवतारूपत्वं सोमप्रकरणे स्पष्टमा-
ज्ञातम्,—‘ते देवा विभ्यतोऽग्निं प्राविशन् तस्मादाज्जरग्निः सर्वा
देवताः’ इति । यज्ञस्य सर्वाङ्गव्यापित्वात् विष्णुत्वम्, अतः एतदीयेन
हविषा सर्वा देवता यज्ञं च उपक्रान्तवान् भवति ।

प्रकारान्तरेण देवतादयं प्रश्नसति,—“अग्निरवमो देवतानां विष्णुः
परमो यदाग्नौ वैष्णवमेकादशकपालं निर्वपति देवता एवोभयतः
परिगृह्य यजमानोऽवहन्ते”^(११) इति । श्रुत्याणां मध्ये प्रथमश्रुते
‘भूरग्निर्ज्यातिः’ इत्युक्तत्वात् अग्नेरवमत्वं श्रमश्रुते ‘विष्णोर्नुकम्’
इत्युक्त्वाद्विष्णुः परमः ; अतः आग्नौ वैष्णवनिर्वापेण मध्यवर्तिनाः सर्वा
देवताः उभयतः परिगृह्य स्वाधीनाः करोति ।

कामनाविशेषेण पुरोडाशं विधत्ते,—“पुरोडाशेन वै देवा
अमुष्मिन् लोके आर्भुवन् चरुणाऽस्मिन् यः कामयेतामुष्मिन् लोके
अभ्रुयामिति स पुरोडाशं कुर्वीत अमुष्मिन्नेव लोके अद्भोति^(१९) इति ।

अथ कपालगतामेकादशमङ्गां विभज्य प्रशंसति,—“यदष्टाकपाल-
स्तेनाग्नेयो यत्त्रिकपालस्तेन वैष्णवः समृद्धौ,—”^(१९) इति । अन्यत्र
हि ‘आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति’ इत्युक्तत्वादष्टमङ्गा अग्नेः प्रिया ।
तथा ‘वैष्णवं त्रिकपालम्’ इत्युक्तत्वात् त्रिमङ्गा विष्णोः प्रिया ।
तदुभयं ‘समृद्धौ’ भवति ।

फलविशेषाय चरं विधत्ते,—“यः कामयेतास्मिन्लोके अभ्रुयामिति
स चरं कुर्वीताग्नेर्घृतं विष्णोस्तण्डुलास्तस्माच्चरः कार्योऽस्मिन्नेव लोके
अद्भोति”^(१९) इति । ‘घृतम्’ ‘अग्नेः’, ‘घृतमस्य योनिर्घृतः अतः’
इत्यादिमन्त्रवर्णात् । तण्डुलास्तु विष्णोः प्रियाः, ‘येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे
शिपिविष्टाय’ इति श्रुतेः । तस्मादुभयप्रियत्वात् घृतयुक्तश्चरः कार्यः,
एतेनास्मिन् लोके समृद्धो भवति ।

अथ हविरन्तरं विधत्ते,—“अदित्यो भवतीयं वा अदितिरस्यामेव
प्रतिष्ठित्यथो अस्यामेवाधियज्ञं तनुते”^(१९) इति । अदितिर्देवता
यस्य चरोः सोऽयमादित्यः, आग्नावैष्णवं हविः प्रथमं कृत्वा द्वितीय-
हविष्ट्वेन अयमादित्यश्चरः कार्यः । अदितिश्चन्द्रेणैव भूमिरुच्यते
अस्यामेव भूमौ उपरि यज्ञं कृतवान् भवति, भूमौ प्रतिष्ठितश्च भवति ।

अथ तृतीयं हविर्विधत्ते,—“यो वै संवत्सरमुत्थमभृत्वाग्निं चिनुते
यथा सामिगर्भोऽवपद्यते तादृगेव तदार्तिमा अष्टैर्वैश्वानरं द्वादशकपालं
पुरस्तान्निर्वपेत् संवत्सरो वै अग्निर्वैश्वानरो यथा संवत्सरमाप्ता काले

आगते विजायते एवमेव संवत्सरमाग्रा काले आगतेऽग्निं चिनुते नार्तिमाच्छति”^(१९) इति । उख्यस्याग्नेः संवत्सरधारणं उपरिष्टात् विधास्यति ‘संवत्सरमुख्यं भूत्वा’ इति । तेन च धारणेन विना, अग्निचयन-मपरिपक्वगर्भपातेन समानम्, अतो यजमानो धियते । तत् तस्मात् संवत्सरं धारहितुम् अशक्तः, पुमान् संवत्सरात् प्रागेव तिस्रः षट् द्वादश वा रात्रीः दीक्षाः चिकीर्षुः वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् तस्य च वैश्वानरस्याग्नेः संवत्सररूपत्वात् यथा लोके संवत्सरेण पूर्णो गर्भो काले सुखेन जायते एवमपि अनयेष्ट्या संवत्सरं प्राप्य काले प्राप्ते चितवान् भवति ततो न धियते ।

प्रकारान्तरेण प्रशंसति — “एषा वा अग्नेः प्रियं तनुर्यद्वैश्वानरः प्रियामेवास्य तनुमव हन्ते”^(२०) इति । सर्वेषां पुरुषाणां उपकारकः कश्चिदग्निमूर्त्तिविशेषो वैश्वानरः, सा च मूर्तिः ‘अग्नेः’ ‘प्रियं’ शरीरं, ततः तयेष्ट्या अग्निसम्बन्धिनीं प्रियामेव तनुवं प्राप्नोति ।

विहितानां हविषां त्रित्वं प्रशंसति,—“त्रीणेतानि हवीरूपि भवन्ति त्रय इमे लोका एषां लोकानां रोहाय”^(२१)—इति । प्राप्तये इत्यर्थः । यद्यपि आग्नावैष्णवं हविः प्रकृतावपि विद्यमान-त्वबोद्धकप्राप्तं, तथापि उपरितनहविविधानायायमनुवाद इत्य-विरोधः । सेयं दीक्षणीयेष्टिः ‘षड्भिर्दीक्षयति’ इत्येतस्मादनुवाकात् पूर्वं द्रष्टव्या । प्रकृतौ दीक्षाकृतीनां इक्ष्मन्तरभावित्वात् । यत्तु, ‘रुक्मन्तरं प्रतिमुञ्चते’ इति विहितं,* उपरितने ‘न ह स्म वै पुराग्निः’ इत्येतस्मिन्ननुवाके समाप्नातम् ।

* अत्र ‘तत्’ इति पदमपेक्षितमिव प्रतिभाति ।

तत्रेयं मीमांसा,—

“पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयपादे चिन्तितम् । (१९अधि०),—

“अयने रुक्मभृत्यादिः पुरोत खामिसंस्कृतिः ।

पाठादाद्योऽन्तिमः कृतः क्रमात्पाठस्य न चतिः ॥

अग्निचयने दीक्षणीयादेरुद्धं रुक्मधारणमाकातम्, कण्ठे-धृतः सन्नुरसि सम्बन्धमानः सौवर्ण आभरणविशेषो रुक्मशब्दार्थः । उखास्थितो ऽग्निः शिख्योऽवस्थापितः कण्ठे धार्यमाणो यथा उरःप्रदेशं न दहति, तथा व्यवधायकत्वेन तद्वारणम् । अत एव ब्राह्मणम्,—‘रुक्ममन्तरं प्रतिसुश्रुतेऽमृतमेव मृत्योरन्तर्धत्ते’ इति । यजमानसंस्काराश्च वपना-दयः प्रकृतौ दीक्षणीयानन्तरभाविनः, इह चोदकेन प्राप्ताः, तेभ्यः पूर्वमेव रुक्मप्रतिमोकः पदार्थः कार्यः, तस्य प्रत्यर्चपाठात् साविचादिषु तस्यादृतत्वादिति चेत् । मैवम्, यजमानसंस्काराणां दीक्षणीयानन्तर्यं प्रकृतौ कृतं, रुक्मस्य तु पाठेन तत्कल्पनीयम् । तस्मात् संस्काराः पूर्वभाविनः । न च, साविचदृष्टान्तो युज्यते, दीक्षणीयाया इव संस्काराणां प्रतिमोकादृद्धं पुनःपाठात्, न च, दीक्षणीयानन्तर्यं बोधिते रुक्मप्रतिमोकपाठवैयर्थ्यं, स्वरूपबोधनेन चरितार्थत्वात् । ततो रुक्मप्रतिमोकः पश्चात्कार्यः ।

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे (६अ०) चिन्तितम्,—

नित्यो नैमित्तिको वा स्याद्यागो वैश्वानरश्चितौ ।

नित्यः पुरेव यच्छब्दादविरोधाच्च पश्चिमः ॥

अग्निचयने श्रूयते,—“यो वै संवत्सरमुख्यमभृताग्निं चिनुते यथा सामिगर्भोऽवपद्यते तादृगेव तदार्तिमार्च्छदैश्वानरं द्वादशकपालं पुर-

स्मान्निर्वपेत्” इति । उखा पीठरः, तामुखां “युञ्जानः प्रथमं मनः” इत्यादिप्रपाठकाणां तैर्मन्त्रैः सम्पाद्य, तस्यामुखायामग्निं निधाय घडुखामेव द्वादशोखामेव शिको* तामुखामवस्थाप्य तच्छिखं स्वकण्ठे बध्वा तम् उख्यमग्निं संवत्सरं धृत्वा पश्चादिष्टकाभिरग्निश्रयेतव्यः, अभरणे त्वपूर्णगर्भपातवदिनाशः स्यात् । ततो वैश्वानरेष्टिं चयनात् प्रागेव कुर्यादित्यर्थः । अत्रापि अन्तरायवाक्यवद् अभरणवाक्यस्यार्थवादत्वान्नित्या वैश्वानरेष्टिरिति चेत् । मैवं, ‘यः पुमान् धृत्वा चिनुते स निर्व्वपेद्’ इति कर्तृषमानाधिकृत-यच्छब्दवशादभरणेष्टोर्निमित्तनैमित्तिकभावभावभावात् । किञ्च दधियदस्य नित्यस्य पात्तिकत्वरूपं नैमित्तिकत्वं विरुद्धम् । इह तु नित्यत्वे प्रमाणाभावादेव नैमित्तिकत्वमित्यविरोधः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं विनाशयन् ।

पुमर्थांश्चतुरो देयादिद्यातीर्थमद्वेश्वरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥०॥



प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा प्रेणानु प्राविशत्ताभ्यः पुनः
सम्भवितुं नाशक्रीत् सौऽब्रवीद् कृभ्वदित्स यो मा दूतः
पुनः सञ्चिनवदिति तं देवाः समचिन्वन् ततो वै ते

* ‘अशिको’ इति सर्वत्र पाठो न सम्भगिव प्रतिभाति ।

आर्ध्वन् यत्समचिन्वन् तच्चित्यस्य चित्यत्वम्^(१) य एवं
विद्वानग्निं चिनुते ऋभोत्येव^(२) कस्मै कमग्निश्चीयते
इत्याहु रग्निवान् ॥ १ ॥

असानीति वै अग्निश्चीयतेऽग्निवानेव भवति^(३) कस्मै
कमग्निश्चीयते इत्याहुर्देवा मा वेदन्निति वै आग्निश्चीयते
विदुरेनं देवाः^(४) कस्मै कमग्निश्चीयते इत्याहुर्गृही
असानीति वै अग्निश्चीयते गृह्येव भवति^(५) कस्मै कमग्नि-
श्चीयते इत्याहुः पशुमानसानीति वै अग्निः ॥ २ ॥

चीयते पशुमानेव भवति^(६) कस्मै कमग्निश्चीयते इत्याहुः
सप्त मा पुरुषा उप जीवानिति वै अग्निश्चीयते चयः
प्राञ्चः चयः प्रत्यञ्च आत्मा सप्तम एतावन्त एवैन-
मुमुष्मिन् लोके उप जीवन्ति^(७) प्रजापतिरग्निमचिकीषत्
तं पृथिव्यब्रवीत् न मय्यग्निं चेष्ट्यसेऽति मा धक्ष्यति सा
त्वातिदृष्टमाना वि धविष्ये ॥ ३ ॥

स पापीयान् भविष्यसीति सोऽब्रवीत् तथा वै अहं
करिष्यामि यथा त्वा नातिधक्ष्यतीति स इमामभ्यमृशत्
प्रजापतिस्त्वा सादयतु तथा देवतयाऽङ्गिरस्वद् भुवा-
सीदेतीमामेवेष्टकां कृत्वोपाधत्तानतिदाहाय^(८) यत्
प्रत्यग्निं चिन्वीत तदग्निं मृशेत् प्रजापतिस्त्वा सादयतु
तथा देवतयाङ्गिरस्वद् भुवा सीद् ॥ ४ ॥

इतीमामेवेष्टकां हृत्वीप धृत्वेऽनतिदाहाय^(८) प्रजापति-
रकामयत् प्र जायेयेति स एतमुख्यमपश्यत् संवत्सर-
मविभक्ततो वै स प्राजायत् तस्मात् संवत्सरं भार्यः
प्रैव जायते^(९) तं वसवोऽब्रुवन् प्र त्वमजनिष्ठा वयं प्र
जायामहे इति तं वसुभ्यः प्रायच्छन्तं चीर्यहानि
अविभक्तने ॥ ५ ॥

चीरि च शतानि असृजन्त चयस्त्रिंशत् तस्मात्
त्यहं भार्यः प्रैव जायते तान् रुद्रा अब्रुवन् प्र यूय-
मजनिद्वं वयं प्र जायामहे इति तं रुद्रेभ्यः प्रायच्छन्तं
षडहानि अविभक्तने चीरि च शतानि असृजन्त
चयस्त्रिंशत् तस्मात् षडहं भार्यः प्रैव जायते
तानादित्या अब्रुवन् प्र यूयमजनिद्वं वयं ॥ ६ ॥

प्र जायामहे इति तमादित्येभ्यः प्रायच्छन्तं
द्वादशाहानि अविभक्तने चीरि च शतानि असृजन्त
चयस्त्रिंशत् तस्मात् द्वादशाहं भार्यः प्रैव जायते^(१०)
तेन वै ते सहस्रमसृजन्तोऽस्मात् सहस्रतमीम^(११) य
एवमुख्यं साहस्रं वेद प्र सहस्रं पशूनाप्नोति ॥ ७ ॥

अग्निवान् । पशुमानसानीति वै अग्निः । धविष्ये ।
मृशेत् प्रजापतिस्त्वा सादतु तथा देवतयाऽङ्गरस्वद्

भ्रवा सीद । तेन । तानादित्या अभ्रवन् प्र यूयमजनिद्वं
वयं । चत्वारिंशच्च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
द्वितीयोऽनुवाकः ॥०॥

दीक्षणीयेष्टिराद्यानुवाके त्रिदिविरीरिता ।

अथ द्वितीये चयन-तत्फले अभिधीयेते । तत्रादौ चयनं वि-
धातुं प्रसूति,—"प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा प्रेणानु प्राविशत् ताभ्यः
पुनः सम्भवितुं नाशक्तोऽब्रवीद्भवदित्य यो मेतः पुनः संचिनव-
दिति तं देवाः समचिन्वन् ततो वै ते आर्भुर्न यत्समचिन्वन्त
चित्यस्य चित्यत्वम्" (१) मिति । पुरा कदाचित् प्रजापतिः सर्वाः
प्रजाः 'सृष्ट्वा' 'प्रेणा' प्रेक्षा प्रियातिशयेन तासु प्रजासु स्वयं
'प्राविशत्', प्रविश्य च 'ताभ्यः' प्रजाभ्यः सकाशात्स्वकीयेन केनचिद्रूपेण
'पुनः' उद्भवितुं, 'नाशक्तो', अशक्तस्तत्रैव स्थित इदम् 'अब्रवीत्'-'यः'-
कश्चिन्माम् 'इतः' प्रजाभ्यः पुनः-सम्भवो यथा भवति तथा 'चिनवत्'
चिनोति । 'स' पुरुषो 'अभवत् इति' अत्रोत्थेवेति । तदाकं अत्रा
देवा अग्निरूपेण पुनः संभूतो यथा भवति, तथा 'तं' प्रजापति-
रूपमग्निमिष्टकाभिः 'अचिन्वन्' तेन चयनेन ते देवा अद्विं प्राप्ताः ।
यस्मादेवं सम्यक् अचिन्वन्ः तस्माच्चयनविषयादग्नेद्वित्यमिति नार
सम्पन्नम् ।

इदानीं विधत्ते,—"य एवं विद्वानग्निं चिनुते अत्रोत्थेव" (१)—इति

अथ प्रश्नोत्तराभ्यां क्रमेण फलविशेषाभिदर्शयिषुरादावेकं फलं दर्शयति,—“कस्मै कमग्निश्चीयते?—इत्याहुःरग्निवान् असाानीति वै अग्निश्चीयतेऽग्निवानेव भवति”^(१) इति । कमित्यव्ययं, कामायेत्यस्मिन्नर्थे वर्तते । ब्रह्मवादिषु मध्ये केषिदेवं पप्रच्छुः, ‘कस्मै’ कामाय अथम् ‘अग्निश्चीयते?’—‘इति’ उक्ते एवमुत्तरम् ‘आहुः’,—‘अग्निवानसानीति’,—शास्त्रीयाग्निमुक्तेऽहं भवानि—इति कामयित्वा अयमग्निश्चीयते इति । ततोऽग्निं चित्वा उत्तरक्रतुयोग्यशास्त्रीयाग्निमुक्त एव भवति ।

द्वितीयं फलं दर्शयति,—“कस्मै कमग्निश्चीयते?—इत्याहुर्देवा मा वेदन्निति वै अग्निश्चीयते विदुरेन देवाः”^(२) इति । स्वर्गस्था ‘देवाः’ सर्वे ‘मा’ मां यजमानं ‘वेदन्’ अयं यजमानः सम्यगनुष्ठितवानित्येवं विदन्तु—इति कामयित्वा अग्नेश्चित्वादेवा एनं विदन्त्येव ।

तृतीयं फलं दर्शयति,—“कस्मै कमग्निश्चीयते?—इत्याहुर्गृही असाानीति वै अग्निश्चीयते गृह्येव भवति”^(३) इति । शास्त्रीयसर्व-कर्मानुष्ठानसमर्थो गृहस्थो भवानि इति कामयित्वा अग्निं चित्त्वान-स्तथैव भवति ।

चतुर्थं फलं दर्शयति,—“कस्मै कमग्निश्चीयते?—इत्याहुः पशु-मानसानीति वै अग्निश्चीयते पशुमानेव भवति”^(४) इति । पशु-समृद्धेः कामितत्वात् पशुसमृद्धिर्भवत्येव ।

पञ्चमं फलं दर्शयति,—“कस्मै कमग्निश्चीयते?—इत्याहुः सप्तमा पुरुषा उपजीवानिति वै अग्निश्चीयते त्रयः प्राञ्चस्तयः प्रत्यक्ष आत्मा सप्तम एतावन्त एवैनमसुप्तिन् लोके उपजीवन्ति”^(५) इति । ‘प्राञ्चः’ पूर्वभाविनः, पितृपितामहप्रपितामहास्तयः पुरुषाः । ‘प्रत्यक्षः’

पञ्चाङ्गाविनः, पुष्यौ च प्रपौत्रास्तथः पुरुषाः । मथ्यवर्त्नी स्वयं सप्तमः ।
एते सर्वे पुरुषाः मामुपजीवन्तु,—अहमेवैतेषां रक्षको भविष्यामि
इति कामयमानोऽग्निं चित्वा स्वर्गलोके तथैव रक्षको भवति ।

यद्गर्गं सूत्रकारेण,—‘प्रजापतिस्त्वा सादयतु तथा देवतयाङ्गिर-
स्खद् भुवा मीदेत्युत्तरवेदिमभिमृश्य’ इति । तदिदं विधातुं
प्रस्तौति,—“प्रजापतिरग्निमचिकीषत* तं पृथिवी अन्नवीन्न मथ्यग्निं
चेष्ट्यसेऽति मा धक्ष्यति, सा त्वानिदं दद्यामाना विधविष्ये । स पापीयान्
भविष्यसीति सेऽब्रवीत् तथा वै अहं करिष्यामि यथा त्वा नाति
धक्ष्यति इति स इमामभ्यमृशत् प्रजापतिस्त्वा सादयतु तथा देवतया-
ऽङ्गिरस्खद् भुवा मीदेतीमानेवेष्टकां कृत्वोपाधत्त अन्नतिदाहाय”†
इति । पुरा कदाचित्, प्रजापतिरग्निं, चेत्तुमिच्छां चकार, ‘तं’
चयनार्थिनां प्रजापतिं ‘पृथिवी’ एवम् ‘अन्नवीत्’,—हे प्रजापते,
ममोपरि ‘अग्निं न चेष्ट्यसे’, अग्निचयनं न करिष्यसि मा कुर्वित्यर्थः ।
कुतः? इति चेत् । तच्छृणु, ममोपरि चीयमानोऽग्निर्मामतिशयेन
‘धक्ष्यति’, तदानीमत्यन्तं दद्यामाना ‘सा’ अहम् इतस्ततः परिलुठन्ती
ममोपरिस्थितं त्वामपि कम्पयिष्ये । ततः ‘स’ त्वं पापिष्ठो दरिद्रो‡
‘भविष्यसि-इति’, तच्छ्रुत्वा प्रजापतिरिदमब्रवीत्,—‘यथा’ अयं चीयमानो
ऽग्निस्त्वां नातिशयेन ‘धक्ष्यति’, ‘तथा’ एव ‘अहं करिष्यामि’—इत्युक्त्वा
प्रजापतिर्वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण ‘इमां’ भूमिमभितः स्पृष्टवान् ।

मन्त्रस्य चायमर्थः, हे भूमे, त्वामाद्यकारणभूताम्† आद्य-

* अचिकीर्षत इति का० क्री० पु० पाठो न सम्यक् ।

† दरिद्रोऽयं इति का० क्री० पु० पाठो न सम्यक् ।

‡ त्वां ममपि कारणभूताम्—इति का० क्री० पु० पाठः ।

प्रजापतिः त्वां* 'सादधतु' स्थापयतु, अथ प्रजापतिरूपया 'तथा' तथा तव रक्षयिष्या देवतया 'भुवा' सती 'सीद्' उपविश, अङ्गिरोभिः स्थापिता यथा भुवा भवति तददिति । अनेन समन्वय-स्यर्शनेन 'इमां' सर्वां भूमिम् 'इष्टकाम्' 'एव' 'कृत्वा' अग्निवरीराम्नः-पातिलेन 'उपाधत्त', न ह्यग्निः स्वात्मानमतिददति ।

अथ विधत्ते,—“यत्प्रत्यग्निं चिन्वीत तदभिमृशेत् प्रजापतिस्त्वा सादतु तथा देवतया अङ्गिरस्वद्भुवा सीदेति इमामेवेष्टकां कृत्वोप धत्तेऽनतिदाहाय”(९) इति । 'यत्' चयनस्थानं, 'प्रति' इष्टकाभिः 'अग्निं' चेतुमिच्छति, 'तत्' स्थानं 'प्रजापतिः'—इत्यादिमन्त्रेण 'अभिमृशेत्' । तेन अभितः—स्यर्शनेन 'इमां' भूमिं कृत्वा अपि 'इष्टकां' 'कृत्वा' उपहितवान् भवति । तेन चातिदाहो न भवति ।

अथोख्याग्नेर्धारणं विद्यते,—“प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति स एतमुख्यमपश्यत्तः संवत्सरमविभक्ततो वै स प्राजायत तस्मात् संवत्सरं भार्यः प्रैव जायते”(१०) इति । प्रजात्पादनसाधनत्वेनो-ख्याग्निमेकस्मिन् संवत्सरे प्रतिदिनमुपस्थानकाले स्वगले शिख्यपात्रं बध्वा धारयेत् । तत उत्पादको भवति ।

अथ चीणि पलाङ्गतराणि अह-वडह-दादशाह-धारणरूपाणि क्रमेण विधत्ते,—“तं वसवोऽभुवन् प्र त्वमजनिष्ठा वयं प्र आयामहे इति तं वसुभ्यः प्रायच्छत् तं चीणि अहानि अविभक्त्येन चीणि च अतानि अस्तुजन्त चयस्त्रिंशत्तं च तस्मात् अहं भार्यः प्रैव जायते ।

* त्वामिति पदं पुनरुक्तमिव प्रतिभाति ।

तान् रुद्रा अङ्गवन् प्र यूयमजनिद्वं वयं प्र जायामहे इति तः
 रुद्रेभ्यः प्रायच्छन् तं षडहानि अविभरुस्तेन चीणि च शतान्यसृजन्त
 चयस्त्रिंशत्तं च तस्मात् षडहं भार्यः प्रैव जायते । तानादित्या
 अङ्गवन् प्र यूयमजनिद्वं वयं प्र जायामहे इति तमादित्येभ्यः प्रायच्छन्
 तं द्वादशाहानि अविभरुस्तेन चीणि च शतान्यसृजन्त चयस्त्रिंशत्तं
 च तस्मात् द्वादशाहं भार्यः प्रैव जायते”^(११) इति । ‘तं’ प्रजापतिं
 ‘वसव’ एवम् ‘अङ्गवन्’, - हे प्रजापते, त्वं प्रजा उत्पादितवानसि, तथा
 वयमप्युत्पादयाम इति, ततः प्रजापतिः ‘तम्’ उख्यमग्निं वसुभ्यः
 ‘प्रायच्छत्’; ते च तमग्निं अहं धृत्वा चयस्त्रिंशदधिकं प्रजानां
 शतत्रयम् ‘असृजन्त’, तस्मात् प्रजोत्पत्तये अहं भार्य इत्येकः पक्षः ।
 एवं रुद्रादित्यवाक्ययोरपि व्याख्येयं ।

पञ्चत्रयार्थवादान् समूहाकारेण निगमयति,—“तेन वै ते सह-
 स्रमसृजन्त उखाः सहस्रतमीम्”^(१२) इति । ‘ते’ वसुरुद्रा-
 दित्याः । उखा सहस्रतमी यथा भवति, तथा एकोनं प्रजासहस्रम्
 ‘असृजन्त’ ।

वेदनं प्रशंसति,—“य एवमुख्यं साहस्रं वेद प्र सहस्रं पशून्
 आग्नेति”^(१३) इति । अत्र चयनविधि-तद्वाङ्मणं “सावित्राणि
 जुहोति” (५।१।१) इत्येतस्मात् प्राक् द्रष्टव्यं । भूमिसर्पशंनमन्त्र-
 ब्राह्मणे तु “अग्ने तव अवा वय” (५।६।६) इत्यनुवाके “शंयं वार्षस्यत्यं
 मेधो नोपानमत्” (४) इत्यतः प्राक् द्रष्टव्ये । उख्यधारणब्राह्मणं तु
 “न ह स्म वै पुराग्निः” (५।१।१०) इत्यनुवाके द्रष्टव्यम् ॥

अत्र मीमांसा,—

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे (१० अ०) चिन्तितम्,—

“अग्निं चिनुत इत्यत्र यागो वा संकृतिर्यजिः ।

लिङ्गेन यागनामत्वाद्यजिना चानुवादतः ॥

रूढ्या द्रव्यस्य नामैतदङ्गेराधानवस्थितिः ।

संकृतिः संकृते वक्त्रावग्निष्टोमो विधीयते ॥

‘य एवं विद्वानग्निं चिनुते’ इत्येवं विधाय श्रूयते,—‘अथातो-
ऽग्निमग्निष्टोमेनानुयजति तमुख्येन तं षोडशिना तमर्तिरात्रेण’ इति ।
अत्राग्निशब्दो यागवाची स्तोत्रशब्तादेः क्रतुलिङ्गस्य श्रूयमाणत्वात् ।
तच्च लिङ्गमेवं श्रूयते,—‘अग्नेस्तोत्रमग्नेः शस्त्वम्’ इति षडुपसदो-
ऽग्नेश्चित्यस्य भवन्ति’ इति । यदि लिङ्गं प्रापकापेक्षं, तर्हि यजिना
तदनुवादः प्रापकोऽस्तु, ‘अग्निमग्निष्टोमेनानुयजति’ इत्यस्मिन् वाक्ये
‘अग्निं यजति’ इति यजिसामानाधिकरण्यात्, ‘उपांशु याजयति’
इतिवत् यागनामत्वं । अथोच्येत,—‘अनुशब्दस्य अग्निशब्देनाश्वयाद्
यज्यश्वयोऽग्निष्टोमस्येति’ । तथाप्यग्नेः पुरोयजने सति अग्निष्टोमस्यानु-
यजनं सम्भवति, ‘देवदत्तमनुगच्छति यज्ञदत्तः’ इत्यत्र देवदत्ते
पुरोयगमनदर्शनात् । तस्माद् ‘अग्निं चिनुते’ इत्याग्निनामको याग
आख्यातेन विधीयते । चिनोतिस्तु ‘दृष्टकाभिर्गग्निं चिनुते’ इतिवाक्य-
प्राप्तस्य चयनस्य सोमयागविकृतित्वप्राप्तस्य ग्रहमनुदायस्येनानुवादः ।

इति प्राप्ते श्रूमः,—अग्निशब्दो रूढ्या वक्त्रिद्रव्यमाचष्टे, रुद्धिश्च
क्लिप्ततया लिङ्गादिकल्पाद् यागवाचित्वात् ‘बलीयसी,—इति न
यागनामत्वं । न च, अत्र यागरूपमस्ति, द्रव्यदेवतयोरसिद्धेः, अतः

‘अग्निमादधीत’ इत्युक्ताधानवद् ‘अग्निं चिनुते’ इत्युक्तं चयनम् अग्निद्रव्य-
संस्कारः । न च, संस्कृतस्य विनियोगाभावः, ‘अग्निमग्निष्टोमेन चजते’
इत्यादिवाक्यैरग्निष्टोमादौ विनियोगात् । तस्मात् संस्कारविधिः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके द्वितीयोऽनुवाकः ॥०॥

यजुषा वै एषा क्रियते यजुषा पच्यते यजुषा
वि मुच्यते यद् उखा सा वै एषैर्ताहिं यातयाम्नी सा न
पुनः प्रयुज्येत्याहुर्मन्त्रे युत्वा हि^(१) ये तव युत्वा हि
देवहुतमा^२ इत्युखायां जुहोति तेनैवैनान् पुनः प्र
युक्ते तेनायातयाम्नी यो वै अग्निं योगे आगते युनक्ति
युंक्ते युञ्जानेष्वमे ॥ १ ॥

युत्वा हि ये तव युत्वा हि देवहुतमा^२ इत्याह्वैव वै
अग्नेर्योगस्तेनैवैनं युनक्ति युंक्ते युञ्जानेषु^(१) ब्रह्मवादिनो
वदन्ति न्यङ्कुमिश्रैतव्या ३ । उत्ताना ३ इति वयसां वै
एष प्रतिमया चीयते यदग्निर्यद् न्यञ्चं चिनुयात्
पृष्टित एनमाहुतय कृच्छेयुर्यदुत्तानं न पतितु^२ शक्रुयाद्
असुवर्ग्योऽस्य स्यात् प्राचीनमुत्तानं ॥ २ ॥

पुरुषशीर्षमुप दधाति मुखत एवैनमाहुतय कृच्छन्ति
भोत्तानं चिनुते सुवर्ग्योऽस्य भवति^(१) सौर्या जुहोति

चक्षुरेवास्मिन् प्रति दधाति^(१) द्विर्जुहोति द्वे हि चक्षुषी^(२)
 समान्या जुहोति समानः हि चक्षुः समृध्यै^(३) देवासुराः
 संयत्ता आसन् ते वामं वसु सं न्यदधत् तद्देवा वाम-
 धृता अष्टञ्जत् तद्वामधृतो वाममृत्त्वं यद्वामभृतम्,
 उपदधाति वाममेव तथा वसु यजमानो भ्रातृव्यस्य
 वृङ्क्ते^(४) हिरण्यमूर्ध्नी भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योति-
 र्वामं ज्योतिषैवास्य ज्योतिर्वामं वृङ्क्ते^(५) . द्वियजुर्भवति
 प्रतिष्ठित्यै^(६) ॥ ३ ॥

युञ्जानेष्वमे । प्राचीनमुत्तानं । वाममृतम् । चतु-
 र्विंशतिश्च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
 तृतीयोऽनुवाकः ॥०॥



अथनस्य विधिस्तस्य फलमुख्यस्य धारणम् ।

अनुवाके द्वितीये हि तदेतन्नयमीरितम् ॥

अथ तृतीयानुवाके उख्यहोमादिकमभिधीयते । तमेतं होमं
 विधत्ते, —“यजुषा वै एषा क्रियते यजुषा पच्यते यजुषा वि सुच्यते
 यद् उखा सा वै एषेतर्हि यातयास्त्री सा न पुनः प्रयुज्येत्याहुर्गो
 युष्ठा हि ये तव युष्ठा हि देवउतमाः इत्युखायां जुहोति तेनैवैगान्

पुनः प्र युक्ते तेनायातयाक्षी”^(१) इति । ‘एषा’ उखा “वसवस्त्वा कृण्वन्तु”^{*}—(४।१।६।३) इत्यादिना ‘यजुषा’ ‘क्रियते’; “धिषणास्त्वा” (४।१।६।२) इत्यादिना ‘यजुषा’ सेचमुखा ‘पच्यते’; “मातेव पुचम्” (४।१।५।२) इत्यादिना ‘यजुषा’ श्रिक्यात् ‘सुच्यते’, येयम् ‘उखा’ वज्रधा यजुर्भिरनुष्ठिता, ‘सा’ इयमुखा एतस्मिन् काले गतसारा सम्यक्सा, वज्रधा प्रयुक्तत्वात्; अतः ‘सा’ गतसारा उखा ‘पुनः’ प्रयोक्तुं न योग्येत्येवमभिज्ञा ‘आहुः’; अतः पुनः ससारत्वसम्पादनाय “अग्ने युष्ठा हि”^(५)—इति मन्त्रद्वयेनोखायां जुहुयात्; ‘तेन’ होमेनोखां पुनः—प्रयोगयोग्यां करोति, होमेनैव ससारत्वञ्च सम्पादितत्वात् । “अग्ने युष्ठा हि”—इत्यादिके ऋचौ तु “ध्रुवांसि” (४।२।८) इत्यनुवाके समाप्ताते व्याख्याते च ॥

मन्त्रगतस्य ‘युष्म’—इतिशब्दस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“द्यो वै अग्निं योगे आगते युनक्ति युक्ते युञ्जानेषु”^(१) इति । ‘द्यो’ यजमानो योगकाले समागते सति अप्रमत्तः ‘अग्निं’ ‘युनक्ति’, स यजमानोऽग्नियोगानुष्ठातृषु यजमानेषु मध्ये स्वयमपि अग्नियोगानुष्ठातेति-व्यपदेशार्हो भवति । स च योगो मन्त्रे युष्म-पदोच्चारणेन सिध्यति, हे अग्ने, त्वं युक्तो भवेत्येवं तस्य पदस्य वाच्यार्थत्वात् । अतस्तदुच्चारणेन एनमग्निं ‘युनक्ति’, ‘युञ्जानेषु’ यजमानेषु च परिगण्यते । एतच्च होमब्राह्मणे “एषां वै एतत्सोकानाम्” (५।२।८) इत्यनुवाके “पूर्णा तस्योप दध्यादनुपदस्य देवानाम्”^(२)—इति वाक्यादूर्ध्वं द्रष्टव्यम् ॥

* यवमेव सर्व्वत्र पाठः । ‘कृण्वन्तु’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† तच्च इति का० श्री० पु० पाठः ।

अथ पुरुषशीर्षोपधानं विधत्ते,—“ब्रह्मवादिनो वदन्ति
 न्यङ्गमिषेतव्याः उत्तानाः इति वयसां वै एष प्रतिमया चीयते
 यदग्निर्यत् न्यङ्गं चिनुयात् पृष्ठित एनमाज्जतय ऋच्छेयुर्यदुत्तानं न
 पतितुः शक्रयादसुवर्ग्योऽस्य स्यात् प्राचीनमुत्तानं पुरुषशीर्षमुप
 दधाति मुखतु एवैनमाज्जतय ऋच्छन्ति नोत्तानं चिनुते सुवर्ग्योऽस्य
 भवति”^(१) इति । ‘न्यङ्’ अधोमुखः, ‘उत्तानः’ ऊर्ध्वमुखो घोऽयम्
 ‘अग्निः’, स एष पक्षिणामाकारेण ‘चीयते’, तथा सति अधोमुखत्वे
 न चितस्थानेः पृष्ठभागे सर्वा आज्जतय एनमग्निमाप्नुयुः, ऊर्ध्वमुखत्वे
 स पक्षाभ्यामाकाशे* गन्तुं न शक्नुयात्, गमनाभावे च स्वर्गाय
 हिता न भवति । अत्र दोषद्वयपरिहाराय ‘पुरुषशीर्षम्’ उप-दध्यात् ।
 तच्च शिरः प्राचीनं, केशभागं* प्राच्यान्दिशि, क्षिन्नगलभागं
 प्रतीच्यान्दिशि कृत्वा ऊर्ध्वमुखं स्थापयेत् । एवं सति तच्च ह्ययमाना
 आज्जतयो मुखप्रदेशे एवाग्निं प्राप्नुवन्ति, न तु पृष्ठतः ; पक्ष्या-
 कारस्योर्ध्वमुखत्वाभावेन आकाशे गन्तुं शक्यत्वात् स्वर्गाय हिता एव
 भवन्ति । अस्य उपधानमन्त्रस्तु “आदित्यं गर्भम्” (४।२।१०)
 आदित्ये, उपधानविधिस्तु “मध्ये पुरुषशीर्षमुप दधाति”^(२)-इति,
 “एषां वै एतन्नोकानाम्” (५।२।८) इत्यनुवाके समासातः ।
 तु उक्तं विधिमनूय प्राचीनोत्ताने च गुणे विधीयते ॥
 यदुक्तं सूत्रकारेण ‘चित्त्रं देवानामित्यर्द्धर्चाभ्यामक्षिकटयो कृत्वा’
 इति । तदिदं विधत्ते,—“सौर्या जुहोति चकुरेवास्मिन् प्रति
 दधाति”^(३) इति । सौरी “चित्त्रं देवानाम्”^(१) इत्यादिका, सा

* केशभागः एवं क्षिन्नगलभाग इति च प्रथमान्तपाठो न युक्तः ।

च “उदुत्यञ्जातवेदसम्” (१।४।४३)—इत्यनुवाके समाप्तातत्वात् तत्रैव व्याख्याता, सूर्यस्य चतुरभिमानीदेवत्वात्* तन्मन्त्रहोमेनास्मिन् पुरुषशीर्षे चतुरिन्द्रियं संपादयति । चतुरभिमानीत्वञ्च ऐतरेयिणः समामनन्ति,—‘आदित्यश्चतुर्भूत्वा अवीणि प्राविशद्’—इति ॥

अर्धर्च इयं† विभज्य विनियुक्ते, “दिजुहोति द्वे द्वि चतुषी”‡(५) इति । इन्द्रियस्यैकत्वेऽपि गोलकभेदात् द्वित्वम् ॥

अष्टभेदशङ्कां वारयितुमेकत्वं विधत्ते,—“समान्या जुहोति समानः” च चतुः समृद्धे‡(१) इति । गोलकभेदेऽपि इन्द्रियस्यैकत्वाद्दृगेकत्वम् । इदं होमब्राह्मणमपि पुरुषशीर्षविधिसमीपे द्रष्टव्यम् ॥

अथ वामभृताख्यायाः इष्टकाया उपधानं विधत्ते,—“देवासुराः संयन्ता आसन् ते वामं वसु सं न्यदधत् तद्देवा वामभृता अवृञ्जत तद्वामभृतो वामवामभृत्त्वं यद्वामभृतमुपदधाति वाममेव तथा वसु यजमानो भ्रातृव्यस्य वृद्धे”‡(१०) इति । यदा देवाश्चासुराश्च युद्धायोद्यताः, तदानो तदुभयेऽपि वननीयं ‘वसु’ स्वं धनं एकैकच मूलत्वेन ४ सम्यक् स्थापितवन्तः । तत्रासुरसम्पत्तिं यद्वनं, तदेतद्देवा अनया वामभृता स्नेष्टकया विनाशितवन्तः, अतो वामं हरन्ति नाशयन्तीति व्युत्पत्त्या इकारस्थाने भकारादेशे सति वामभृदिति वामं सम्यक् । अतो यजमानोऽप्येतदुपधानेन भ्रातृव्यस्य धनं विनाशयति ॥

* एवमेव सर्वत्र पाठः । अभिमानीदेवत्वादिति पाठो भवितुं युक्तः ।

† एवमेव सर्वत्र पाठः । ‘अर्धर्चमिमं’ इत्याकारकः कश्चित्पाठो भवितुं युक्तः ।

‡ वामभृताख्याया इति पाठो भवितुं युक्तः ।

§ मूलत्वेन इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

यदुक्तं सूचकारेण,—‘प्रवाङ्गिष्ठकायां हिरण्यकलावधूतयास्ते
अग्ने सूर्ये रुच इति दाभ्यां वामभृतम्’— इति । तत्र हिरण्यकलौ
विधत्ते,—‘हिरण्यमूर्ध्नि भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिर्वामं ज्योतिषैव
अस्य ज्योतिर्वामं वृक्षे’^(८) इति । हिरण्यकलद्वयं मूर्ध्नि उपरिभागे
यस्या दृष्टकाद्याः सा हिरण्यमूर्ध्नि, हिरण्यं प्रकाशरूपत्वात् ज्योतिः,
वाममपि मणिमुक्तादिकं तथा ज्योतिः ॥

“यास्ते अग्ने सूर्ये रुचः” इत्यादिमन्त्रद्वयं तत्र विनियुक्ते,—
द्वियजुर्भवति प्रतिष्ठितौ^(९) इति । द्वे यजुषो यस्यां वामभृतः सा
द्वियजुः । इदञ्च वामभृद्ब्राह्मणं “स्वयमादृष्टा मुप दधाति” (५।१।८)
इत्यनुवाके दूर्वेष्टकाब्राह्मणादूर्ध्वं “देवलक्ष्यं वै अप्रलिखिता”^(१०)
इत्यतः पूर्वं द्रष्टव्यम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके तृतीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥



आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्ता अग्निरभ्यध्यायत्
ताः समभवत् तस्य रेतः परापतत् तदियमभवद् यद्-
द्वितीयं परापतत् तद्सावभवदियं वै विराडसौ स्वराड्
यद् विराजावुपदधातीमे एवोप धत्ते^(१) यद्वै असौ रेतः
सिञ्चति तदस्यां प्रति तिष्ठति तत् प्र जायते ता
ओषधयः ॥ १ ॥

वीरुधौ भवन्ति ता अग्निरन्ति^(१) यः एवं वेद प्रैव
जायतेऽन्नादौ भवति^(२) यो रेतस्वी स्यात् प्रथमायां
तस्य चित्यामुभे उप दध्यादिभे एवास्मै समीची रेतः
सिञ्चतो यः सिक्तरेता स्यात् प्रथमायां तस्य चित्याम-
न्यामुप दध्यादुत्तमायामन्याः रेत एवास्य सिक्कमा-
भ्यामुभयतः परि गृह्णाति^(३) संवत्सरं न कं ॥ २ ॥

चन प्रत्यवरोहेत् न हीमे कं चन प्रत्यवरोहेत्स्तदे-
नयोर्ब्रतं^(४) यो वै अपशीर्षाणमग्निं चिनुतेऽपशीर्षाऽमु-
ष्मिन् लोके भवति यः सशीर्षाणं चिनुते सशीर्षाऽमु-
ष्मिन्लोके भवति^(५) चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा
देवा इहा गमन् वीतिहोत्रा कृतावृधः समुद्रस्य
वयुनस्य पत्नम् जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वा अहाऽमर्त्यः
हविः^(६) इति स्वयमावृणामुपधाय जुहोति ॥ ३ ॥

एतद्वै अग्नेः शिरः सशीर्षाणमेवाग्निं चिनुते^(७)
सशीर्षाऽमुष्मिन् लोके भवति यः एकं वेद^(८) सुवर्गाय
वै एष लोकाय चीयते यदग्निस्तस्य यदयथापूर्वं क्रियते
सुवर्ग्यमस्य तत् सुवर्ग्योऽग्निः^(९) चितिमुपधायाभि
मृशेत्^(१०) चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान् पृष्ठैव वीता
हजिना च मर्त्तान् राये च नः स्वपत्याय, देव दिनिं

च रास्व अदितिमुद्ध्यति^(११) यथापूर्वमेवैनामुप धत्ते
प्राञ्चमेनं चिनुते सुवर्ग्योऽस्य भवति^(१४) ॥ ४ ॥

ओषधयः । कं । जुहोति । स्वपत्याय । अष्टादश च ॥४॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥



उखाहतिः पुंशिरस्य वामभ्यश्च तृतीयके ।

अथ चतुर्थे रेतःसिगाद्या उच्यन्ते, यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘विराट्
ज्योतिरिति तिस्रो रेतःसिचक्षासां द्वे प्रथमायां चित्यां यून् उप
दधात् सर्वा मध्यमायां विवथम एकां प्रथमायामेकामुक्तमायां
स्यविरस्य’ इति । तत्र द्वयोरुपधानं विधत्ते,—“आपो वरुणस्य
पत्नयः आसन् ताः अग्निरभ्यधायन् ताः समभवत् तस्य रेतः परापतत्
तदियमभवद् यद्वितीयं परापतत् तदसावभवत् इयं वै विराट्
असौ खराट् यद्विराजौ उपदधाति इमे एवोप धत्ते”^(१) इति ।
वरुणपत्न्यो या अप्-देवताः, ‘ताः’ कामुकः ‘अग्निरभ्यधायत्’,
ध्यात्वा ‘समभवत्’, तत्र मानसेन सम्भावननं स्खलितं रेतोऽधः
अपतत्, ‘तत्’ च रेत ‘इयं’ पृथिवी ‘अभवत्’, द्वितीयवारं पतितं
रेतो ‘असौ’ शुलोकः ‘अभवत्’ । तत्र येयं पृथिवी सा विविधा
प्राण्याधारत्वेन राजते इति ‘विराट्’ इत्युच्यते, या त्वसौ सौः, ‘सा’
स्नातन्नेयं राजते इति ‘खराट्’ । एवं सति अथ द्वे विराजावुप

दध्यात्, विराट्शब्दोपेताभ्यां मन्त्राभ्यामुपधेये विराजौ । मन्त्रद्वयं च “विराड् ज्योतिरधारयत् सन्नाड् ज्योतिरधारयद्” (४।१।८।४) इत्यच्चात्तात् व्याख्यातं च । अनेन विराड्द्वयोपधानेन इमे द्वे शुभ्रमी एवायमुपधत्ते ॥

तदेतद्विराडुपधानं प्रकारान्तरेण प्रशंसति,—“यद्वै असौ रेतः सिञ्चति तदस्यां प्रति तिष्ठति तत् प्र जायते ता ओषधयः वीरूधो भवन्ति ता अग्निरन्ति”^(१) इति । ‘असौ’ द्यौः यदेव ‘रतो’ दृष्टिरूपं ‘सिञ्चति’, ‘तद्’ ‘अस्यां’ भूमौ प्रतिष्ठितं सत् नानाकरेण उत्पद्यते, ‘ताः’ च उत्पन्ना ‘ओषधयो’ ब्रह्मिण्याः, ‘वीरूधो’ नाग-वत्स्यादयश्च भवन्ति । ‘ताः’ च जाठराग्निं ‘अन्ति’ । एवंविधे शुभ्रमिरूपे* विराजाविति ।

तयोः प्रशंसावेदनं प्रशंसति,—“य एवं वेद प्रैव जायतेऽन्नादो भवति”^(२) इति ॥

अथाधिकारिभेदेन प्रकारान्तरेण विशेषं विधत्ते,—“यो रेतस्वी स्यात् प्रथमार्थां तस्य चित्यामुभे उप दध्यादिमे एवास्मै समीची रेतः सिञ्चते यः सिकरेताः स्यात् प्रथमार्थां तस्य चित्यामन्या-मुप दध्यादुक्तमायामन्याः रेत एवास्य सिक्रमाभ्यामुभयतः परि गृह्णाति,^(३) इति । ‘रेतस्वी’ युवा, तस्य ‘प्रथमार्थाम्’ एव चिता-बुभयोरुपधाने सति ते ‘उभे’ अपि भूमिरूपे अनुकूले भूत्वा यत्रमानार्थं ‘रेतः सिञ्चतः’, ‘सिकरेताः’ स्वविरः, तस्य प्रथमो-क्तमचित्योः क्रमेण द्वयोरुपधाने सति स्वकीयं रेत ‘आभ्याद्’

* एवं विधा शुभ्रमिरूपे विराजौ इति पाठो न सत्यः ।

इष्टकाभ्याम् 'उभयतः' परिगृहीतं भवति । एतद् विराड्ब्राह्मणं पूर्वोक्त- (५।५।३अ०)-वामभृद्ब्राह्मणादनन्तरमेव द्रष्टव्यम् ।

अथामिचितः कश्चिन्नियमं विधत्ते, —“संवत्सरं न कं चन प्रत्यवरोहैत् न हीमे कं चन प्रत्यवरोहतस्तदेनयोर्धनम्”^(५) इति । अग्निश्चित्वा संवत्सरपूर्तिपर्यन्तं वयोवृद्धेषु विद्यावृद्धेषु च समागतेष्वपि 'कम्' अपि पुरुषं प्रति अभ्युत्थानं न कुर्यात्, 'इमे' भूमिरूपे विराजौ इष्टके 'कम्' अणुत्कष्टं पुरुषं प्रति नाभ्युत्थानं कुरुतः, 'तद्' अनभ्युत्थानम् 'एनयोः' इष्टकयोः 'व्रतं', अतस्तयोरुपधातापि नाभ्युत्तिष्ठति । यद्यप्ययं नियमः कृत्स्नब्राह्मणान्ते वक्तव्यः, तथापि विराड्द्वारेण स्तोतुमिदानीतः ।

अथ कश्चिद्धेऽमं विधातुं प्रस्तौति, —“यो वै अपशीर्षाणमग्निं चिनुतेऽपशीर्षाऽमुष्मिलोके भवति, यः सशीर्षाणं चिनुते सशीर्षा अमुष्मिलोके भवति”^(६) इति । अग्नेः शिरोराहित्यसाहित्याभ्यां यजमानोऽपि सुवर्गे तथा भवति ।

विधित्सितस्य होमस्य मन्त्रमुत्पादयति, —“चित्तिं जुहोमि मनसा धृतेन यथा देवा इहागमन्वीतिहोत्रा ऋतावधः समुद्रस्य शयुनस्य पत्न्यन् जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वा अहा अमर्त्यः हविः”^(७) इति । 'यथा देवा इहागमन्', —येन प्रकारेण हविर्भाजो देवा अस्मिन् कर्मणि आगच्छन्ति, तथा अहं 'मनसा' मनोगतया भक्त्या, 'धृतेन' द्रव्येण, 'चित्तिं जुहोमि' देवानां चित्तमुपाददे, प्रसादयामि इत्यर्थः । कीदृशा देवाः ?-‘वीतिहोत्राः’ कमनीयहविषः, 'ऋतावधः' यज्ञस्य वर्धयितारः । तत ऊर्ध्वं 'विश्वकर्मणे' प्रजापतये, 'विश्वा

अथा' सर्वेऽव्ययः सु, 'अमर्त्यं' विनाशरहितं खाड्यं 'हविः' 'जुहोमि' । होमस्य स्थानमुच्यते,—'वयुनस्य' कमनीयस्य, 'समुद्रस्य' समुद्रवद् उत्कृष्टस्य, स्वयमादृशास्वरूपस्य 'पद्मन्' पतने आकृतिद्योग्ये उपरिभागे इत्यर्थः ।

उत्पादितं मन्त्रं विनियुक्ते,—“इति स्वयमादृशमुपधाद्य जुहोत्येतदे अग्नेः शिरः सशीर्षाणमेवाग्निं चिनुते”^(८) इति । चिन्तिं जुहोमीति यो मन्त्र उत्पादितः, 'इति' अनेन मन्त्रेण स्वयमादृशोप-
धानादनन्तरं जुञ्जयात् । एतदेवाकृतिस्वरूपं अग्नेः शिरःस्थानीयम् । अतः शिरःसहितमेवाग्निं चितवान् भवति ।

वेदनं प्रशंसति,—“सशीर्षाऽसुभिर्लोके भवति य एवं वेद”^(९)—
इति । तदेतद्धोमब्राह्मणं “स्वयमादृशाम्” इत्यनुवाके (५।१।८२०)
द्रष्टव्यम् ।

अथाभिमर्शनं विधातुं प्रस्तौति,—“सुवर्गाय वै एष लोकाय चीयते यदग्निस्तस्य यदयथापूर्वं क्रियतेऽसुवर्ग्यमस्य तत् सुवर्ग्यो-
ऽग्निः”^(१०)—इति । योऽयमग्निरस्ति, स 'एष' स्वर्गलोकार्थं चीयते,
अतः 'तस्य' अग्नेः 'यद्' अङ्गं 'अयथापूर्वं', क्रमोल्लङ्घनेन 'क्रियते',
'तद्' अङ्गम् 'असुवर्ग्यं' स्वर्गाय हितं न भवति । 'अग्निः' सर्गाय
हितः ; तस्मात् क्रममनुलङ्घ्यैव तदङ्गमनुष्ठेयम् ।

अथ यदर्थं प्रस्तावः कृतः तद्विधत्ते,—“चितिसुपधायाभि
मृजेत्”^(११)—इति । उपधानादूर्ध्वं तामुपहितां चितिं हस्तेन स्पृशेत् ।

तत्र मन्त्रमुत्पादयेति,—चिन्तिमचिन्तिं चिनवदि विद्वान् पृष्ठेव
वीता ङाजना च मर्त्तान् राधे च नः स्वपत्याय देव दितिं च

रास्त्र अदितिमुख्येति”^(१९)—इति । अथमग्निः ‘चिन्तिमचिन्तिम्,
अस्मादीयां मानसीं भक्तिमभक्तिं च’वि’-‘चिन्वत्’, विविच्य निश्चिनोतु ।
कीदृशोऽग्निः ? ‘पृष्ठेव वीता वृजिना च’ ‘विद्वान्’—पृष्ठोपलक्षितानि*
सर्ववच्यवसदृशानि कर्माङ्गानि, ‘वीता’ कान्तानि, ‘वृजिना च’
स्खलितानि च,—इत्युभयं जानानः । तथा ‘मर्त्तान्’, मनुष्यरूपान्
बहुलान् अस्मानपि ‘विद्वान्’ । हे ‘देव’, ‘नः’ अस्माकं ‘रात्रे’
धनया ‘स्वपत्याय’ च शोभनपुनार्थमपि ‘दितिं’ च ‘रास्त्र’ यद्देवीं
तदपि देहि । ‘अदितिमुख्य’,—यदपि इतः परं न देयं, किन्तु
पूर्वमेव दत्तं, तदपि बहुलं कर्तुमिच्छ ।

अनेन मन्त्रेणानुष्ठितमभिमर्शनं प्रशंसति,—“यद्यापूर्वमेवैनामुप
धत्ते प्राञ्चमेनं चिनुते सुवर्ग्योऽस्य भवति”^(१९)—इति । अत्र भक्त्यभक्तयोः
स्खलनास्खलनयोर्विवेकारिणा वज्रिना वैकल्यस्य समाहितत्वात्
क्रममनुकङ्क्षैव ‘एनां’ चिन्तिम् ‘उप’-‘धत्ते’, अग्निश्च प्राङ्मुखं चिनुते;
स चाग्निः ‘अस्य’ यजमानस्य स्वर्गाय हितो भवति । तदिदं ब्राह्मणं
“पशुर्वा एष यदग्निः”—इत्यनुवाके (५।२।१०) प्रथमचितिसमाप्ते
द्रष्टव्यम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

* पृष्ठोपलक्षित इति सर्वत्र पाठो न समीचीनः ।

† यददेयमिति आ० श्री० पु० पाठो न सम्यगिव प्रतिभाति ।

विश्वकर्मा दिशाम्यतिः स नः पशून् पातु सौऽस्मान्
 पातु तस्मै नमः प्रजापतीरुद्रो वरुणोऽग्निर्दिशाम्यतिः
 स नः पशून् पातु सौऽस्मान् पातु तस्मै नमः^(१) एता वै
 देवता एतेषां पशूनामधिपतयस्ताभ्यो वै एष आ वृक्ष्यते
 यः पशुशीर्षाण्युपदधाति हिरण्येष्टका उप दधाति
 एताभ्य एव देवताभ्यो नमस्करोति^(२) ब्रह्मवादिनः ॥ १ ॥

वदन्यग्रौ ग्राम्यान् पशून् प्र दधाति शुचारण्यान-
 र्पयति किं तत् उच्छिःषतीति यद्विरण्येष्टका उप-
 दधाति अमृतं वै हिरण्यममृतेनैव ग्राम्येभ्यः पशुभ्यो
 भेषजं करोति नैनान् हिनस्ति^(३) प्राणो वै प्रथमा
 स्वयमातृणा व्यानो द्वितीयापानस्तृतीया अनु प्राण्यात्
 प्रथमाः स्वयमातृणामुपधाय प्राणेनैव प्राणः सम-
 र्जयति व्यन्यात् ॥ २ ॥

द्वितीयामुपधाय व्यानेनैव व्यानः समर्जयत्यपा-
 न्यात् तृतीयामुपधायपानेनैवापानः समर्जयत्यथो
 प्राणैरेवैनः समिधे^(४) भूर्भुवः सुवरिति स्वयमातृणा
 उप दधातीमे वै लोका स्वयमातृणा एताभिः खलु वै
 व्याहृतीभिः प्रजापतिः प्राजायत यदेताभिर्व्याहृतीभिः
 स्वयमातृणा उपदधातीमानेव लोकानुपधायैषु ॥ ३ ॥

लोकैषधि प्रजायते^(१) प्राणाय व्यानायापानाय वाचे
 त्वा चक्षुषे त्वा तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् भुवा सीद^(१)
 अग्निना वै देवाः सुवर्गं लोकमजिगाः सन् तेन पतितुं
 नाशक्नुवन् ते एताश्चतस्रः स्वयमातृणा अपश्यन् ता
 दिक्षूपदधत् तेन सर्वतश्चक्षुषा सुवर्गं लोकमायन्
 तश्चतस्रः स्वयमातृणा दिक्षूपदधाति सर्वतश्चक्षुषैव
 तदग्निना यजमानः, सुवर्गं लोकमेति^(१) ॥ ४ ॥

ब्रह्मवादिनः । व्यन्यात् । एषु । यजमानः । चीणि
 च ॥ ५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
 पञ्चमोऽनुवाकः ॥ * ॥

रेतःसिन्धोमसंस्पर्शास्तुर्थे समुदोरिताः ।

अथ पञ्चमे हिरण्येष्टकाद्या उच्यन्ते,—यदुक्तं सूत्रकारेण,
 ‘विश्वकर्मा दिशां पतिः इति पञ्च हिरण्येष्टकाः प्रतिदिशमेकां मध्ये’
 इति । तत्र मन्वानुत्पादयति,—“विश्वकर्मा दिशाम्पतिः स नः
 पशून् पातु सोऽस्मान् पातु तस्मै नमः प्रजापतीरुद्रो वरुणोऽग्नि-
 र्दिशाम्पतिः स नः पशून् पातु सोऽस्मान् पातु तस्मै नमः”^(१)—इति ।

द्योऽयं 'विश्वकर्मा' 'दिशां' पास्तकः, 'सः' अस्मादीयान् 'पशून्' अस्मांश्च रक्षतु, 'तस्मै' विश्वकर्मणे 'नमः' । प्रजापतिरित्यादिभिः पदैश्चत्वारो मन्त्राः उत्पन्नाः सर्वचानुषङ्गाय दिशाम्यतिरिति पुनःपाठः ।

एतन्मन्त्रसाध्यसुपधानं विधत्ते,—“एता वै देवता. एतेषां पशू-
नामधिपतयस्ताभ्यो वै एष आ वृक्ष्यते यः पशुशीर्षाण्युपदधाति
हिरण्येष्टका उप दधात्येताभ्य एव देवताभ्यो नमस्करोति”^(१)—इति ।
पुरुषार्थर्षभट्टविण्णवस्तानामेतेषां पशूनां विश्वकर्मादयः स्वाभिभूता
'देवताः', एवं सति पशुशीर्षोपधाने 'ताभ्यो' देवताभ्य 'आ-वृक्ष्यते',
तासां देवतानां द्रोही भवतीत्यर्थः । अतस्तत्परिहाराय हिरण्येष्टका
उपदध्यात् । हिरण्यशकला एव हिरण्येष्टकाः, तदुपधानेन ताभ्यो
'नमस्करोति', तन्मन्त्रेषु 'तस्मै नमः' इति दर्शनात् ।

प्रकारान्तरेण हिरण्येष्टकाः प्रशंसति,—“ब्रह्मवादिनो वदन्त्यग्नौ
याम्यान् पशून् प्र दधाति शुचारण्यानर्पयति किं तत उच्छिष्यतीति
यद्भिरण्येष्टका उपदधाति अमृतं वै हिरण्यममृतेनैव याम्येभ्यः पशुभ्यो
भेषजङ्करोति नैनान् हिनस्ति”^(२)—इति । लोके हि द्विविधा एव
पशवः,—याम्याश्चारण्याश्चेति, तच्च 'याम्यान्' पुरुषाश्चादीन् अयं
यजमानस्वीयमाने 'अग्नौ' स्थापितवान्; 'मयुमारण्यमनु ते दिशामि'
—इत्यादिभिर्मन्त्रैः 'आरण्यान्' च श्लोकेन योजितवान्* । 'ततः' उभय-
विधेभ्यः पशुभ्योऽन्यत्तु यदनुपहितं† पशुस्वरूपं 'किं' नामोच्छिष्यते?

* योजिता इति आदर्शपुस्तके पाठः ।

† अन्यदनुदितमिति आदर्शपुस्तके पाठः ।

अतः कष्टोऽयं सर्वकर्म्मोपद्रवको यजमानव्यापार* इति 'ब्रह्मवादिनः' परस्परमाहुः । तच्चैतदुत्तरं द्रष्टव्यं नायं कष्टो व्यापारः,—यस्मादयं 'हिरण्येष्टका उपदधाति', 'हिरण्यं' च 'अमृतम्', तेन 'अमृतेन' 'याम्येभ्यः पशूभ्यो', भेषजकरणात् एतदीयहिंसादोषं न प्राप्नोति । एतच्चोपलक्षणं,—आरण्यपशूशोकस्यापि भेषजमेतदिति द्रष्टव्यम् । एतासां कृत्तिकानचचेष्टकाभ्य ऊर्ध्वभावितात् तद्ब्राह्मणानन्तरमे-
वेतद्ब्राह्मणं द्रष्टव्यम् ।

अथ तिसृणां स्वयमादृष्टानामुपधानानन्तरं प्राणनादिकं विधत्ते,
—“प्राणो वै प्रथमा स्वयमादृष्टा व्यानो द्वितीया अपानस्तृतीया अनु प्राण्यात् प्रथमाऽ स्वयमादृष्टामुपधाय प्राणेनैव प्राणऽ समर्धयति व्यन्याद् द्वितीयामुपधाय व्यानेनैव व्यानऽ समर्धयति अपान्यात् तृतीयामुपधायापानेनैवापानऽ समर्धयति अथो प्राणैरेव एनऽ समिन्धे”^(४)—इति । प्रथममध्यमोत्तमचित्तिषु तिस्रः स्वयमादृष्टाः, तासु क्रमेण प्राणव्यानापानस्वरूपा प्राग्वृत्ति-मध्यवृत्ति-पश्चाद्वृत्तित्व-
सान्ध्यादतः प्रथमचित्तौ स्वयमादृष्टाम् उपधाय 'प्राण्यात्' उच्छ्वासं कुर्यात् । मध्यमचित्तौ 'व्यन्यात्' प्राणापानस्तम्भनं कुर्यात् । उत्तमचित्तौ 'अपान्यात्',—निश्वासं कुर्यात् । स एवं सति स्वकीयैः प्राणादिभिर्गन्धैः प्राणादीन् 'समर्धयति' । अपि च प्राणवायुभिरेव एनमग्निं प्रदीपयति ।

अथ तिसृषु स्वयमादृष्टासु व्यादृष्टिचयं क्रमेण विनियुक्ते,—
“भूर्भुवः सुवरिति त्रयमादृष्टा उपदधातीमे वै लोकाः स्वयमा-

* सर्वकर्म्मोपद्रवयजमानकार्य इति का० क्री० पु० पाठः । सर्वकर्म्मो-
पद्रवकार्यजन्मानव्यापार इति तु आदर्शपुस्तके पाठः ।

दृष्ट्वा एताभिः खलु वै व्याहृतीभिः प्रजापतिः प्राजायत यदेताभि-
व्याहृतीभिः स्वयमादृष्ट्वा उपदधातीमानेव लोकानुपधायैषु लोकेषु
अधि प्रजायते”^(५) इति । तत्तत्स्वयमादृष्टोपधानब्राह्मणानन्तरमेव
एतदपि ब्राह्मणं विभज्य योजयितव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘प्राणाय त्वा चक्षुषे ज्ञेति चतस्रः
स्वयमादृष्ट्वाः प्रतिदिशम्’ इति । तत्र मन्त्रानुत्पादयति,—“प्राणाय
व्यानायापानाय वाचे त्वा चक्षुषे त्वा तथा देवतयाऽङ्गिरस्वद्
ध्रुवा सीद”^(६) इति । प्राणादिपदैश्चत्वारो मन्त्राः, ‘प्राणाय’, ‘त्वा
चक्षुषे त्वा तथा’—इत्यादि सर्वानुपज्यते । हे पूर्वदिग्दृष्टस्वयमादृष्टे,
प्राणदृष्टिसिद्धये त्वामुपदधामि, ‘चक्षुषे’ दृष्टिसिद्ध्यर्थं त्वामुपदधामि,
या तव स्वामिभृता देवता, ‘तथा’ अनुगृहीता ‘ध्रुवा’ सती इह
‘सीद’ उपविश, यथाऽङ्गिरोभिः उपहिता ध्रुवा, तद्वत् । एवं
व्यानायेत्यादिमन्त्रत्रये योजनीयम् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“अग्निना वै देवाः सुवर्गं
लोकमजिगाःसन् तेन पतितुं नाशक्नुवन् ते एताश्चतस्रः स्वयमादृष्ट्वा
अपश्यन् ता दिक्षूपदधत तेन सर्वतश्चक्षुषा सुवर्गं लोकमायन् यश्चतस्रः
स्वयमादृष्ट्वा दिक्षु उपदधाति सर्वतश्चक्षुषैव तदग्निना यजमानः सुवर्गं
लोकमेति”^(७) इति । पुरा कदाचिद्देवाश्चीयमानमग्निं साधनं कृत्वा
स्वर्गं प्राप्तुमैच्छन्, ‘तेन’ अग्निना साधनेन प्राप्तुं ‘नाशक्नुवन्’; अतः
अग्निसाधनबलेन स्वयमादृष्ट्वां निश्चितोपधाय तत्रत्येन सर्वदिग्वगतेन
‘चक्षुषा’ स्वर्गं प्राप्ताः, तदीयमन्त्रेषु हि, ‘चक्षुषे त्वा’—इत्यादि
सर्वेष्वनुपधत्ताः । अत एताश्चतस्रः स्वयमादृष्ट्वाश्चतस्रषु दिक्षु उपधाय

सर्वदिगवगतचक्षुर्युक्तेनाग्निना* स्वर्गं प्राप्नोति । क्षिरस्थेष्टकामाङ्गणेन
सहेतद्ब्राह्मणं द्रष्टव्यम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके पञ्चमोऽनुवाकः ॥०॥

अग्ने आ याहि वीतये इत्याहाह्नतैवैनमग्निं दूतं
वृणीमहे इत्याह हूत्वैवैनं वृणीतेऽग्निनाग्निः समिध्यते
इत्याह समिधे एवैनमग्निर्वृचाणि जह्वन्दिद्याह समिधे
एवास्मिन्निन्द्रियं दधात्यग्नेः स्तोमं मनामहे इत्याह मनुते
एवैनम्^(१) एतानि वै अह्नाः रूपाणि ॥ १ ॥

अन्वहमेवैनं चिनुतेऽवाह्नाः रूपाणि रन्ध्रे^(२) ब्रह्म-
वादिनो वदन्ति कस्मात् सत्याद् यातयास्मीरन्त्या
इष्टका अयातयास्मी लोकं पृणेत्यैन्द्राग्नी हि बार्हस्पत्येति
ब्रूयादिन्द्राग्नी च हि देवानां बृहस्पतिश्चायात-
यामानः^(३) अनुचरवती भवत्यजामित्वाय^(४) अनुष्टुभा-
नुचरत्यात्मा वै लोकं पृणा प्राणोऽनुष्टुप् तस्मात् प्राणः
सर्वाण्यङ्गानि अनुचरति^(५) ता अस्य हृद्दोहसः ॥ २ ॥

* चक्षुर्युक्तेनाग्निना इति सर्व्वत्र पाठो न समीचीन इव प्रतिभाति ।

इत्याह तस्मात्पुरुषि-परुषि रसः^(६) सोमः५ श्रीणन्ति
 पृश्नय इत्याह अन्नं वै पृश्नि अन्नमेवाव रन्ध्रे अर्को वै
 अग्निर्कोऽन्नमन्नमेवाव रन्ध्रे^(७) जन्मन्देवानां विशस्त्रि-
 धारौचने दिव इत्याहेमानेवास्मै लोकान् ज्योतिष्मतः
 करोति^(८) यो वै इष्टकानां प्रतिष्ठां वेद प्रत्येक तिष्ठति
 तथा, देवतयाऽङ्गिरस्वदध्रुवा सीदेत्याह एषा वै इष्टकानां
 प्रतिष्ठा य एवं वेद प्रत्येव तिष्ठति^(९) ॥ ३ ॥

रूपाणि । सूदहोहसः । तथा । षोडश च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
 षष्ठोऽनुवाकः ॥ * ॥

हिरण्यस्यमाहृषाभिधाः पञ्चम ईरिताः ।

अथ षष्ठेऽङ्कां रूपादयः कथ्यन्ते । यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘अग्ने
 आ याहि वीतये^(१) अग्निं दूतं वृणीमहे^(२) अग्निनाग्निः समिध्यते^(३)
 अग्निर्वृचाणि जङ्घनत्^(४) अग्नेः सोमं मनामहे सिध्ममद्य* दिवित्युग्रं
 देवस्य द्रविणस्य^(५) इति पञ्चाङ्गाः५ रूपाणि’ इति । तदिदं विधत्तुं
 मन्त्रार्थां तात्पर्याणि क्रमेण दर्शयति;—‘अग्ने आ याहि वीतये
 इत्याहाङ्गतैवैनमग्निं दूतं वृणीमहे इत्याह ऋतैवैनं वृणीतेऽग्निनाग्निः
 समिध्यते इत्याह, समिन्ध एवैनमग्निर्वृचाणि जङ्घनदित्याह, समिद्ध
 एवास्मिन्नित्त्रियं दधात्यग्नेः सोमं मनामहे इत्याह मनुते एवैनम्^(१)”

* एवमेव सर्वत्र पाठः ।

इति । प्रथममेव, 'आ आहि' इत्युक्तत्वादाङ्गानं प्रतीयते । द्वितीये तु, 'इषीमहे' इत्युक्तत्वात् आङ्गस्य पञ्चादरणं प्रतीयते । तृतीये, 'समिन्धते' इत्युक्तत्वात् समिन्धनम् प्रतीयते । चतुर्थे, 'वृषाणि जह्मद्' इति शत्रुवधोक्तेः सामर्थ्यं प्रतीयते । पञ्चमे तु 'मनामहे' इत्युक्तत्वान्मननं प्रतीयते । तच्च प्रथमद्वितीयौ द्वादकाण्डे (ब्रा०-३।५।१५०) 'प्र वो वाजाः'—इत्यनुवाके समाज्जातौ, तौ वास्माभिर्द्वितीयकाण्डस्य पञ्चमप्रपाठके (७।३। एवं ८।५) सामिधेनीब्राह्मणे व्याख्यातौ । तृतीयो 'यस्त्वा हृदा' इत्यनुवाके (१।४।४६।३) समाज्जातत्वात् तत्रैव व्याख्यातः । चतुर्थस्तु चतुर्थकाण्डस्य तृतीयप्रपाठकस्थान्यानुवाके (१३।१) व्याख्यातः । पञ्चमः ब्रह्मवाक्तरगतः । एतैर्मन्त्रैरुपधेयानामिष्टकानाम् 'अङ्गां रूपाणि' इत्येतन्नामधेयम् ।

तेषामुपधानविधिमर्थवादेनोक्त्यति,—“एतानि वै अङ्गाः रूपाणि अन्वहमेवेनं चिनुतेऽवाङ्गाः रूपाणि हन्धे^(१)” इति । पञ्चसु अहःसु तस्यां तस्यां चित्तानुपधेयत्वादेतन्मन्त्रसाध्यानि द्रष्टृकास्वरूपाणि अङ्गां रूपाणीत्युच्यन्ते । तान्युपदध्यादिति विधिरुन्नेयः । तदुपधानेन सर्वदा प्रतिदिनमग्निं चितवान् भवति, कालविशेषाणामङ्गां स्वरूपं च प्राप्नोति । एतच्च ब्राह्मणवाक्यं तन्नश्चितिप्रस्तावे विभज्य द्रष्टव्यम् ।

अथ लोकंप्रणया विधिमर्थवादेनोक्त्यति,—“ब्रह्मवादिनो वदन्ति, कस्मात् सत्याद् यातयान्नीरन्या इष्टका अयातयान्नी लोकंप्रणेत्यैन्द्राग्नी हि बार्हस्पत्येति ब्रूयादिन्द्राग्नी च हि देवानां दृष्टस्यति-स्वायातयामानः^(१)” इति । “लोकं प्रण किं प्रण” (ब्रा०३।१।११)

इति मन्त्रेषोपधेया लोकं पृष्ठा तद्वातिरिक्तानामिष्टकानामेकस्यां चितौ
 सकृद्वोपधानं, तावतैव गतसारत्वात्; लोकं पृष्ठायास्तु अगतसारत्वाद्
 असकृदुपधानं क्रियते, तदेतद्गतसारत्वम् 'कस्मात्' कारणात् ?—इति
 ब्रह्मवादिभिः पृष्ठे सति ऐन्द्राग्रत्वात् बार्हस्पत्यत्वाच्चेति बुद्धिमान् उत्तरं
 ब्रूयात्, 'इन्द्राग्री त्वा बृहस्पतिः'—इति मन्त्रे समाश्वातत्वात् तदीयत्वम् ।
 इन्द्राग्री बृहस्पतिरित्येते देवाः सामर्थ्यातिशयोपेतत्वात् कदाचिदपि
 गतसारा न भवन्ति । तादृशीमयातयार्थी लोकं पृष्ठायास्त्वामिष्टका-
 मुपपदधाद्—इति विधिरुन्नेयः ।

अत्र लोकं पृष्ठेति मन्त्रस्य मन्त्रान्तरोपेतत्वं विधत्ते,—“अनु-
 चरवती भवद्भजामित्वाय^(१)” इति । “लोकं पृष्ठं किद्रं पृष्ठं” इति
 मन्त्रम् ‘अनु’ पश्चात् चरति पचते इत्यनुचरः* द्वितीयमन्त्रः,
 तेनाप्युपधेयत्वात्† इयमिष्टका अनुचरवती । एकेनैव मन्त्रेण पुनः-
 पुनरुपधाने सति आलस्यं भवेत्, मन्त्रान्तरसङ्गावे तु तदालस्यं न
 भवति ।

अनुचरमन्त्रं सामान्यतो विधाय पुनर्विशेषतो विधत्ते,—“अनु-
 शुभा अनुचरत्यात्मा वै लोकं पृष्ठा प्राणोऽनुष्टुप् तस्मात् प्राणः सर्वाणि
 अङ्गानि अनु चरति^(२)” इति । लोकं पृष्ठेति मन्त्र ‘आत्मा’
 शरीरम्; अनुचररूपो द्वितीयोऽनुष्टुप्कन्दस्कः प्राणरूपः, यस्मादत्रैवं,
 तस्मात्तोक्तोऽपि प्राणवायुः सर्वान् शरीरावयवाननुसृत्य चरति ।

* ‘अनुचरवतो’ इति आदर्शमुक्तकपाठः । ‘अनुचरोवतो’ इति का० श्री०
 मुक्तकपाठः ।

† ‘तेन ह्युपधेयत्वात्’ इति आदर्शमुक्तकपाठः ।

तस्मिन्ननुचरमन्त्रे प्रथमपादस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“ता अस्या
सुददोदस इत्याह तस्मात्पदवि-पदवि रसः^(१) इति । सुदश्चन्द्रेण
दोदनीयः क्षीरादिरस उपलभ्यते । सुदं दुहन्तीति ‘सुददोदसः’,
‘ताः’ इष्टकाः, यस्मादचैवमुक्तं, ‘तस्मात्’ सोमवत्सामपि, ‘पदवि-पदवि’
तत्तत्पर्वणि ‘रसः’ अवतिष्ठते ।

द्वितीयपादस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“सोमः प्रीणन्ति पृथग्य
इत्याहार्कं वै पृथग्नि अन्नमेवाव हन्तेऽर्को वै अग्निरर्कोऽन्नमन्नमेवाव
हन्ते^(२)” इति । पृथग्यः श्वेतगोरूपा इष्टकाः, अन्नञ्च श्वेतवर्णं,
तस्मादन्नप्राप्तिः^(३) । किञ्च इष्टकचितोऽग्निरर्चनीयः, अन्नं चार्चनीयं,
तस्मादप्यन्नप्राप्तिः ।

द्वितीयाहुर्दे ‘त्रिष्वारोचने दिवः’—इत्यस्य तात्पर्यं दर्शयति,—
“अन्नन्देवानां विश्वस्त्रिष्वारोचने दिव इत्याहेमानेवास्मै लोकान्
ज्योतिष्यतः करोति^(४)” इति । त्रिष्वन्द्रेण लोकत्रयं गृह्यते, आरोचन-
शब्देन ज्योतिः, “यावती वै पृथिवी” (५।१।३) इत्यनुवाके ‘ज्यो-
दश्च लोकं पृष्ठा उप दधाति’ इत्यावृत्तेर्विहितत्वाद् यातयामत्वशङ्कायां
तत्परिहारोऽत्राश्नातः, अतस्तत्रैवेदं ब्राह्मणं द्रष्टव्यम् । तत्र सङ्ख्यामात्र-
विधिमभिप्रेत्य चिद्विध्युन्नयनमुक्तं; यदा तु तत्रैव विशिष्टोपधानविधिः,
तदानां नात्र विधिरुन्नेतव्यः ।

अथ सर्वेष्टकाशेषत्वेन “तथा देवतया” इति मन्त्रं विधत्ते,—
“द्यौ वै इष्टकानां प्रतिष्ठां वेद प्रत्येव तिष्ठति तथा देवतयाऽङ्गिरस्सद्

* ‘अन्नं प्राप्तम्’ इति आदर्शपुस्तकपाठः । ‘अन्नं प्राप्तिः’ का० क्री०
पुस्तकपाठः । एवं परत्रापि ।

ध्रुवा सीदेत्याह एषा वै दृष्टकानां प्रतिष्ठा च एवं वेद प्रत्येव तिष्ठति^(८)—इति । मन्त्रे ध्रुवेत्यभिधानादेवोपधाने सति दृष्टकाः प्रतिष्ठिता भवन्ति, अतः सर्वास्तपि दृष्टकास्तु इमं मन्त्रं पठेदित्यभिप्रायः । इदं ब्राह्मणं स्वयमादृत्योपधानब्राह्मणे द्रष्टव्यम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे तृण्ययजुः-संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः ॥०॥

सुवर्गाय वै एष लोकाय चीयते यद्भिर्वज्रं एकादशिनी यद्भ्रमावेकादशिनीं मिनुयाद्वज्रेणैव सुवर्गा-स्लोकादन्तर्दध्याद्यन्न मिनुयात् स्वरुभिः वि पशून् अर्द्ध-येदेकयूपं मिनोति नैनं वज्रेण सुवर्गास्लोकादन्तर्दधाति न स्वरुभिः पशून् वि अर्धयति^(१) वि वै एष इन्द्रियेण वीर्येण कृध्यते योऽग्निं चिन्वन्धिक्रामत्यैन्द्रिया ॥ १

कृचा आक्रमणं प्रतीष्टकामुपं दध्यान्नेन्द्रियेण वीर्येण व्यृध्यते^(२) रुद्रो वै एष यद्भिस्तस्य तिस्रः शरव्याः प्रतीची तिरश्ची अनूची ताभ्यो वै एष आ वृश्यते योऽग्निं चिनुतेऽग्निं चित्वा तिसृधन्वमयाचितं ब्राह्मणाय दद्यात्ताभ्य एव नमस्करोत्यथो ताभ्य एवात्मानं निष्क्रीणोते^(३) यत् ते रुद्र पुरः ॥ २ ॥

धनुस्तदातो अनु वातु ते तस्मै ते रुद्र संवत्सरेण

नमस्करोमि यत्ते रुद्र दक्षिणा धनुस्तदातो अनु वातु ते तस्मै ते रुद्र परिवत्सरेण नमस्करोमि यत्ते रुद्र पश्चाद्-धनुस्तदातो अनु वातु ते तस्मै ते रुद्र इदावत्सरेण नमस्करोमि यत्ते रुद्र उत्तराद्धनुस्तत् ॥ ३ ॥

वातो अनु वातु ते तस्मै ते रुद्र उदुवत्सरेण नमस्करोमि यत्ते रुद्र उपरि धनुस्तदातो अनु वातु ते तस्मै ते रुद्र संवत्सरेण नमस्करोमि^(४) रुद्रो वै एष यदग्निः स यथा व्याघ्रः कुङ्कुस्तिष्ठत्येवं वै एष एतर्हि सञ्चितमेतैरुप तिष्ठते नमस्कारैरेवैनं शमयति^(५) येऽग्नयः ॥ ४ ॥

पुरीष्ठाः० प्रविष्टाः पृथिवीमनु तेषां त्वमस्युत्तमः प्र णो जीवातवे सुव । आपन्वा अग्ने मनसा आपन्वा अग्ने तपसा आपन्वा अग्ने दीक्षया आपन्वा अग्ने उपसङ्गिरापन्वा अग्ने सत्यया आपन्वा अग्ने दक्षिणाभिरापन्वा अग्ने अवभृथेन आपन्वा अग्ने वृशया आपन्वा अग्ने स्वगाकारेण^(६) इत्याह, एषा वै अग्ने-राप्तिस्तथैवैवमाप्नोति^(७) ॥ ५ ॥

ऐन्द्रिया । पुरः । उत्तराद्धनुस्तत् । अग्नयः । आह । अष्टौ च ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥०॥

अङ्गा रूपाणीरितानि सर्वे लोकं पृष्ठा* तथा ।

अथ सप्तमे यूपैकत्वादीन्युच्यन्ते । यदुक्तम्, अश्वमेधकाण्डे, 'एक-
यूपो वैकादग्निनी वा । अन्येषां यज्ञानां यूपा भवन्ति । एकविंश्रित्य-
श्वमेधेऽस्य' इति । तच्च विकल्पेन प्राप्तं यूपैकादग्निनीमपोद्य यूपैकत्व-
मेव विधत्ते,—“सुवर्गाय वै एष लोकाय चीयते यदग्निर्वज्र
एकादग्निनी यदग्नौ एकादग्निनी मितुयादज्जैर्नः सुवर्गलोका-
दन्तर्दध्याद् यत् न मितुयात् स्वरुभिः पशून् वि अर्धयेदकयूपं
मिनेति नैनं वज्रेण सुवर्गलोकादन्तर्दधाति न स्वरुभिः पशून् वि
अर्धयति^(१)” इति ।

योऽयजन्निः स एष सुवर्गार्थं चीयते, यूपैकादग्निनी च वज्र-
समाना । तच्चेदं विचार्यते, किमग्नौ पश्वर्थं यूपैकादग्निनी कर्त्तव्या न वा ?
इति । यदि तामेकादग्निनीं प्रक्षिपेत्, तदा तद्रूपेण वज्रेण एनमग्निं
स्वर्गलोकादन्तर्दधितं कुर्यात्, बज्रयूपव्यवधानात् स्वर्गा न दृश्येत ।
अथ तामेकादग्निनीं न प्रक्षिपेत्, तदानीं पशून् स्वरुभिर्वियोजयेत्,
स्वरुशब्देन यूपतक्षणकालीनानि शकलान्युच्यन्ते; यूपाभावे च कथं
तानि सम्भवेयुः, तदभावे च 'स्वरुणा पशून्मनक्ति' इत्येतन्न सिध्येत् ।
अचोभयदोषपरीक्षारायैकं यूपं प्रक्षिपेत् । तदानीं वज्रात्मकबज्रयूप-
व्यवधानाभावादिममग्निं स्वर्गादन्तर्दधितं न करोति । यूपसङ्गावेन
स्वरुसङ्गावात् तद्वियोगोऽपि न भविष्यति । अस्य च ब्राह्मणस्य
षोडकप्राप्तापवादरूपत्वाच्चाप्ताते कस्मिंश्चिदप्यनुवाकेऽन्तर्भावः[†] ।

* श्वमेध सर्वत्र पाठो न सम्यगिव प्रतिभाति ।

† नास्मातः कस्मिंश्चिदप्यनुवाकेऽन्तर्भाव—इति का० क्री० पुस्तकपाठः ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—“इन्द्रं विश्वा अवीरुधन्वित्युत्तरेण पुष्का-
प्यथमन्तर्विधाक्रमणं प्रतीष्टकामुपदध्यात्”—इति । पुष्काप्यथः
पुष्कपक्षयोः सन्धिः । तदिदं सूत्राक्तमुपधानं विधत्ते,—“वि वै एष
इन्द्रियेण वीर्येण व्यध्यते योऽग्निं चिन्वन्नधिक्रामति ऐन्द्रिया अक्राम-
णं प्रतीष्टकामुप दध्यान्नेन्द्रियेण वीर्येण व्यध्यते^(१)”—इति ।
‘यः’ उपधानकर्ता चयनकाले ‘अग्निम्’ ‘अधिक्रामति’, स ‘एष’
इन्द्रियसामर्थ्येन* वियुक्तो भवति । अतस्तत्परिहाराय ‘आक्रमणं’
प्रतिपादप्रक्षेपस्थाने काञ्चिद् ‘इष्टकाम्’ ‘इन्द्रं विश्वा अवीरुधत्’
(४।६।१।४) इति ऋचा ‘उप’-‘दध्यात्’ । सा च अग्निप्रणयनप्रस्तावे
समास्नातत्वात् तत्रैव व्याख्याता । अत्र पुनर्वाचनिकं विनियोगान्तरम् ।
एतदुपधानेन इन्द्रियसामर्थ्यवियोगो न भवति । एतच्च ब्राह्मणं
‘शं युं’-बार्हस्पत्यादेरश्याक्रमणब्राह्मणात् (५।२।६) पूर्वं द्रष्टव्यम् ।

अथ धनुर्दानं विधत्ते,—“रुद्रो † वै एष यदग्निस्तस्य तिस्रः
शरव्याः प्रतीची तिरस्त्री अनूची ताभ्यो वै एष आ वृश्यते योऽग्निं
चिनुते योऽग्निं चित्वा तिसृधन्वमयाचितं ब्राह्मणाय दद्यात्ताभ्य
एव नमस्करोति अथो ताभ्य एवात्मानं निष्क्रीणीते^(२)”—इति ।
योऽयमग्निः स. ‘एष’ ‘रुद्रः’ क्रूरो देवः । ‘रुद्रो वै क्रूरः’ (६।२।६)
इति ह्यन्यत्रास्नातम् । ‘तस्य’ च क्रूरस्य ‘तिस्रः’ ‘शरव्याः’ शरेण माध्या,
प्रत्यञ्चः तिस्रः शरव्याः । यद्वा हिंसकत्वात् इदपुत्रेव शरव्या †, सा च

* एवमेव सर्वत्र पाठः । ‘इन्द्रियेण सामर्थ्येन च’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† ‘इन्द्रो वै’ इति का० ब्री० पु० पाठः ।

‡ ‘शरव्याः’ इति सर्वत्र सविसर्गपाठो न सम्यग् ।

वेधा,—‘प्रतीची’ संमुखमागच्छन्ती, ‘तिरस्त्री’ पार्श्वयोश्च* गच्छन्ती, ‘धनुची’ पृष्ठत आगच्छन्ती चेति । एवं सति ‘योऽग्निं चिनुते’, स ‘एव’ ‘ताभ्यः’ इषुभ्यो निमित्तभूताभ्य ‘आ वृश्यते’ सर्वतश्चिद्यते, ताभिः प्रहृतो भवति इत्यर्थः । अतस्तत्परिहाराय तिसृभिरिषुभि-
र्युक्तमेकं धनुः ‘अयाचितम्’ अपि ‘ब्राह्मणाय दद्यात्’ । तेन दानेन बाधिकाभ्यः ‘ताभ्य’ इषुभ्यो ‘नमस्करोति’ ‘एव’ । अपि च ‘ताभ्यः’ इषुभ्यः सकाशात् ‘एव’ ‘आत्मानं’ स्वशरीरं ‘निष्क्रीणीते’ ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—“तिसृधन्वमयाचितं यजमानो ब्राह्मणाय दत्त्वा यत्ने रुद्र पुरोधनुरिति तैर्ययालिङ्गमुपतिष्ठते”—इति । तदेतदिधातुं मन्वानुत्पादयति, “यत्ने रुद्र पुरो धनुस्तदातो अनु वातु ते तस्मै ते रुद्र संवत्सरेण नमस्करोमि यत्ने ‘रुद्र दक्षिणा धनुस्तदातो अनु वातु ते तस्मै ते रुद्र परिवत्सरेण नमस्करोमि यत्ने रुद्र पश्चाद्भुस्तदातो अनु वातु ते तस्मै ते रुद्र इदा-
वत्सरेण नमस्करोमि यत्ने रुद्र उत्तराद्भुस्तदातो अनु वातु ते तस्मै ते रुद्र इदुवत्सरेण नमस्करोमि यत्ने रुद्र उपरिधनुस्तदातो अनु वातु ते तस्मै ते रुद्र वत्सरेण नमस्करोमि^(१)”—इति ।
हे ‘रुद्र’, ‘पुरः’ पूर्वस्यान्दिशि ‘ते’ त्वदीयं ‘यत्’ ‘धनुः’ अस्ति, तदनुसृत्य ‘वातो’ ‘वातु’ प्रसरतु । किमर्थं? ‘ते’ त्वदर्थं, त्वत्-
सहायार्थमित्यर्थः । त्वया वाणे मुक्ते सति यदा वायुरनुकूलो भवति, तदा वाणः शीघ्रमुद्रच्छति, तदिदं साहाय्यम् । हे ‘रुद्र’, ‘ते’ ‘त्वदीयाय’ ‘तस्मै’ धनुषे ‘संवत्सरेण’ कालेन नमोऽस्तु, एकस्मिन्

* अत्र सूत्रकारो न साधुरिव प्रतिभाति ।

संवत्सरे निरन्तरं नमस्करोमीत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि षोडशमं । प्रभवविभवादीनां षष्टिसंवत्सराणां मध्ये एकैकस्मिन् पञ्चके स्थिताः संवत्सराः क्रमेण संवत्सर-परिवत्सरेदावत्सरेदुवत्सरवत्सरश्चैवाऽऽति-
विंवक्षिताः* । प्रथमः संवत्सरः, द्वितीयः परिवत्सरः, तृतीयः इदावत्सरः, चतुर्थः इदुवत्सरः, पञ्चमो वत्सरः । एवं सति एकैकदिग्बन्धिधनुषे निरन्तरमेकैकस्मिन् संवत्सरे नमस्कारः कृतो भवति ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपस्थानं विधत्ते,—“रुद्रो वै एष यदग्निः स यथा व्याघ्रः क्रुद्धस्तिष्ठत्येवं वै एष एतर्हि सञ्चितमेतैरुप तिष्ठते नमस्कारैरेवैनं५ शमयति(५)”-इति । लोके क्रुद्धो व्याघ्रो गर्जनं भक्षणोद्यतो यथा भयङ्करस्तिष्ठति, एवमेवैष सम्यक् चित्तोऽग्निः उषः सन् उपस्थानं सति तन्मन्त्रगतैर्नमस्कारैः शान्तो भवति । तदिदमुप-
स्थानब्राह्मणं शतरुद्रीयहोमब्राह्मणाद् (५।४।३) ऊर्ध्वं द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—“येऽग्नयः पुरीष्या इति प्रयास्यन्नाग्निभिरिति यजमान उपतिष्ठते” इति । तदिदं विधातुं मन्त्रान् पठति,—
“येऽग्नयः पुरीष्याः प्रविष्टाः पृथिवीमनु तेषां त्वमस्युत्तमः प्र णो जीवातवे सुव । आपं त्वा अग्ने मनसा आपं त्वा अग्ने तपसा आपं त्वा अग्ने दीक्षया आपं त्वा अग्ने उपसङ्गिरापं त्वा अग्ने सत्यया आपं त्वा अग्ने दक्षिणाभिरापं त्वा अग्ने अवष्टयेनापं त्वा अग्ने वशया आपं त्वा अग्ने स्वगाकारेण(६)” इति । हे अग्ने, मया चीयमाना ये केचिदन्यैस्वीय-
मानाः, ‘पुरीष्याः’ मृदा निष्पाद्याः ‘पृथिवीम्’ ‘अनु’ ‘प्रविष्टाः’ सन्ति,

* एवमेव सर्वत्र पाठः । आऽऽतिविंवक्षितेति किंवा आऽऽतयो विवक्षिताः इत्येव पाठो भवितुं युक्तः ।

† प्रयास्यन्नाग्निभिरिति सर्वत्र पाठः ।

‘तेषां’ मध्ये ‘त्वम्’ ‘उत्तमः’ ‘असि’, तादृशः ‘त्वं’ ‘नः’ अस्मान्
 ‘जीवातवे’ जीवनौषधाय चिरं जीवितुं ‘प्र’-‘सुव’ प्रकर्षेण प्रेरय ।
 ‘अग्ने’, त्वाम् ‘आपम्’ प्राप्तवानस्मि । सामान्येनोक्ता प्राप्तिः
 पुनर्विश्लेष्यते,—सङ्कल्पमारभ्य वशानूबन्ध्यास्त्रगाकारपर्यन्ताः ये सोम-
 प्रयोगावयवाः, तैः सर्वैः त्वां प्राप्तोऽस्मि । मनः सङ्कल्पः, वचो-
 मन्त्रोच्चारणं, तपः अन्नशनं, दानं, दीक्षा मौनादिनियमः, उपसदः
 दिनत्रयानुष्ठेया होमाः, सुत्या सोमग्रहहोमः, दक्षिणा द्वादशशत-
 गवादयः, अवभृथो जले होमः, वशा अनूबन्ध्यापशूः । स्त्रगाकारः
 अवशिष्टावयवसंपूर्त्या स्वाधीनत्वकरणम् । अत्रापि ‘आपं त्वा अग्ने’—
 इत्यनुषज्यते ।

एतन्मन्त्रसाध्यं प्रयाणकालीनोपस्थानविधिं मन्त्रव्याख्यानरूपेणार्थ-
 वादिनोन्नयति,—“इत्याहैषा वै अग्नेराप्तिस्त्वयैवैनमाप्नोति^(१)”—इति ।
 योऽयं मन्त्रः पठितः, तं मन्त्रमुक्तप्रकारेण प्रयाणकाले ब्रूयात्, ‘एषा’ एव
 मन्त्रपाठानुष्ठितिः ‘अग्नेः’ प्रापिका, तस्मात् ‘तयैव’ अग्निं ‘प्राप्नोति’ ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्टयजुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥०॥

गायत्रेण पुरस्तादुप तिष्ठते प्राणमेवास्मिन् दधाति
 बृहद्रथन्तराभ्यां पृष्ठावोज एवास्मिन् दधाति ऋतस्था-
 यज्ञायज्ञियेन पुच्छमृतुष्टेव प्रति तिष्ठति पृष्ठैरुप तिष्ठते
 तेजो वै पृष्ठाभि तेज एवास्मिन् दधाति^(१) प्रजापति-

* संहितायां वचोदानयोरङ्गोक्तो भाति ।

रग्निमसृजत् सौऽस्मात् सृष्टः पराङ्मैत तं वारवन्तीयं
 अवारयत् तद्वारवन्तीयस्य वारवन्तीयत्वं श्येत
 श्येती अकुरुत् तच्छैतस्य श्यैतत्वम् ॥ १ ॥

यद्वारवन्तीयेनोपतिष्ठते वारयत् एवैनं श्येत
 श्येत। कुरुते^(१) प्रजापतेर्हृदयेनापि पक्षं प्रत्युपतिष्ठते
 प्रेमाणमेवास्य गच्छति^(२) प्राच्या त्वा दिशा सादयामि
 गायत्रेण छन्दसा अग्निना देवतया अग्नेः शीर्ष्णा अग्ने-
 शिर उषं दधामि दक्षिणया त्वा दिशा सादयामि
 वैष्टुभेन छन्दसेन्द्रेण देवतया अग्नेः पश्चेणाम्नेः पश्चमुप
 दधामि प्रतीच्या त्वा दिशा सादयामि ॥ २ ॥

जागतेन छन्दसा सवित्रा देवतया अग्नेः पुच्छेनाग्नेः
 पुच्छमुप दधामि उदीच्या त्वा दिशा सादयामि
 आनुष्टुभेन छन्दसा मित्रावरुणाभ्यां देवतया अग्ने
 पश्चेणाम्नेः पश्चमुप दधामि ऊर्ध्वया त्वा दिशा सादयामि
 पाङ्क्तैन छन्दसा बृहस्पतिना देवतया अग्नेः पृष्ठेनाग्ने
 पृष्ठमुप दधामि^(३) यो वै अपात्मानमग्निं चिनुते
 अपात्माऽमुष्मिन् लोके भवति यः सात्मानं चिनुते
 सात्माऽमुष्मिन् लोके भवत्यात्मेऽका उप दधात्येष
 अग्नेरात्मा सात्मानमेवाग्निं चिनुते^(४) सात्माऽमुष्मिन्
 लोके भवति य एवं वेद^(५) ॥ ३ ॥

श्वेतत्वं । प्रतीच्या त्वा दिशा सादयामि । यः
सात्मानं चिनुते । द्वाविंशतिश्च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
अष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

एकयूपादिविधयः सप्तमे समुदीरिताः ।

अथ अष्टमे उपस्थानादिकमुच्यते । यदुक्तं सूत्रकारेण,—“पृष्ठैरुप
तिष्ठते गायत्रेण पुरस्ताद् बृहद्रथन्तराभ्यां पश्चादृतुल्याधज्ञायज्ञियेन
पुच्छं दक्षिण्यं ओष्णां वारवन्तीयेनोत्तरस्यां वामदेवेनापि पक्षे
प्रजापतेः सामानृचं गायन्ति”—इति । तदेतदिदधत्ते,—“गायत्रेण
पुरस्तादुप तिष्ठते प्राणमेवास्मिन् दधाति बृहद्रथन्तराभ्यां पश्चादोञ्ज
एवास्मिन् दधात्यृतुल्याधज्ञायज्ञियेन पुच्छमृतुल्येव प्रति तिष्ठति
पृष्ठैरुप तिष्ठते तेजो वै पृष्ठानि तेज एवास्मिन् दधाति^(१)”—इति ।
गायत्र्यादीनि सामविशेषनामानि, “तत्सवितुर्वरेणम्” (१।५।६।४)
इत्याद्यामृचि उत्पन्नं गायत्रं, तेन शिरोभ्याम् उपस्थाने सति
अस्मिन्नग्नौ प्राणः स्थापितो भवति । “त्वामिद्धि हवामहे” (२।४।१४।१)
इत्याद्यामृचि उत्पन्नं बृहत् “अभि त्वा शूर नो नुमः” (२।४।१४।३)
इत्याद्यामृचि उत्पन्नं रथन्तरं, ताभ्यां पञ्चयोरुपस्थाने सति बलं
सम्पादितं भवति । “वसन्तम्” (१।६।२) इत्यादिकायाम् अमृचि

* ‘वसन्तः’ इति सर्वत्र पाठः । परन्तु ‘वसन्तः’ इति कस्या अपि
शब्दस्य आदिर्नास्तीति हिङ् ।

उत्पन्नं तु स्याद्यज्ञायज्ञियं, तेन पुच्छोपस्थाने सति चतुर्षु प्रतिष्ठितो भवति । यानि पृष्ठस्तोत्रगतानि सामानि, तैः सर्वैः सत्त्वमग्निं सुपतिष्ठेत् । तेन शरीरकान्तिः प्राप्यते ।

अथ ओषिदयोपस्थानाय सामद्वयं विधत्ते,—“प्रजापतिरग्निं मसृजत् सोऽस्मात् सृष्टः पराङ्मनः तं वारवन्तीयेनावारयत् तद्वारवन्तीयस्य वारवन्तीयत्वः श्येतेन श्येती अकुरुत् तत् श्येतस्य श्येतमं यद्वारवन्तीयेनोपतिष्ठते वारयत् एवैनं श्येतेन श्येती कुरुते(१)” इति । “अश्वं नत्वा वारवन्तम्” (१।१७।१५० वे०) इत्यस्यामृचि उत्पन्नं वारवन्तीयं, तेन साम्ना पराचीनं गच्छन्तमग्निं विनिवारयामास, निवारणसाधनत्वादेव वारवन्तीयं नाम सम्पन्नम् । “अभि वः सुराधमम्” (८।४८।१५० वे०) इत्यस्यामृचि उत्पन्नं श्येतं, तेन साम्ना तं निवारितमग्निं ‘श्येती’ स्ववशो यथा भवति तथा ‘अकुरुत्’ । श्येतीकरणसाधनत्वात् श्येतमिति साम्नो नाम । तेन सामद्वयेन ओषिदयोपस्थाने सति अस्य गमनं निवार्य, स्वाधीनं करोति । सूत्रे तु शाखान्तरानुसारेण श्येतस्थाने वामदेव्यमुक्तम् ॥

अथ पञ्चसन्ध्युपस्थानाय सामान्तरं विधत्ते,—“प्रजापतेर्हृदयेनापि पञ्चमं प्रत्युप तिष्ठते प्रेमाणमेवास्य गच्छति(१)” इति ऋग्विरचिते स्तोत्रेषु यदुत्पन्नं साम प्रजापतेर्हृदयं नाम, तेषु स्तोत्रेष्वेतस्य सप्तमस्य सङ्गावात् तेन पञ्चसन्ध्युपस्थाने सति अग्नेः प्रीतिं प्राप्नोति । एतयोपस्थानस्य विकर्षणानन्तरभावित्वात् “अग्निमूर्जम्” (५।४।४) इत्यस्मिन् ब्राह्मणानुवाके तदेतत् द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—“प्राच्या त्वा दिशा सादयामीति पश्चा

ऋष्टकाः प्रतिदिशमेकां मध्ये”—इति । तदेतद्विधातुं मन्वानुत्पा-
दयति, “प्राच्या त्वा दिशा सादयामि गायत्रेण हृन्दसा अग्निना
देवतया अग्नेः शीर्ष्णा अग्नेः शिर उप दधामि दक्षिण्या त्वा
दिशा सादयामि त्रैष्टुभेन हृन्दसा इन्द्रेण देवतया अग्नेः पक्षेण
अग्नेः पक्षमुप दधामि प्रतीच्या त्वा दिशा सादयामि जागतेन हृन्दसा
सवित्रा देवतया अग्नेः पुच्छेनाग्नेः पुच्छमुप दधामि उदीच्या त्वा
दिशा सादयामि आनुष्टुभेन हृन्दसा मित्रावरुणाभ्यां देवतया अग्नेः
पक्षेणाग्नेः पक्षम् उप दधामि ऊर्ध्वया त्वा दिशा सादयामि पाङ्क्तेन
हृन्दसा बृहस्पतिना देवतया अग्नेः पृष्ठेनाग्नेः पृष्ठमुप दधामि^(४)” इति ।
येयं प्राची द्दिक्, यच्च गायत्रीच्छन्दः, यापि अग्निरूपा देवता यदपि
देवतात्मनोऽग्नेः शिरः, सर्वैः सहितोऽहं हे इष्टके, त्वामस्य चीचमानस्याग्नेः
शिरःस्थाने ‘उप’-‘दधामि’ । एवमुत्तरेष्वपि योज्यम् ॥

इदानीमात्मेष्टका विधत्ते,—“यो वै अपात्मानमग्निं चिनुते
अपात्मा अमुग्निं लोके भवति यः सात्मानं चिनुते सात्मा अमुग्निं
लोके भवति आत्मेष्टका उप दधाति एष वै अग्नेरात्मा सात्मानम्
एवाग्निं चिनुते^(५)” इति । आत्मा शरीरं, तद्रहितमग्निं चिन्वानः स्वर्गे
शरीररहितो भवति, सात्मकमग्निं चिन्वानस्तत्र सात्मक एव भवति ।
तस्मात् आत्मेष्टका उपदध्यात् । शिरः-पक्ष-पुच्छरूपं शरीरमात्मा,
तन्निष्पादकत्वादेव एता आत्मेष्टकाः । ‘एष’ शिरःप्रभृत्यवयवसङ्ग
एवाग्नेः शरीरं, तस्मादेतदुपधानेन मशरीरमग्निं चिनुते ।

वेदमं प्रशंसति, “सात्मा अमुग्निं लोके भवति य एव
वेद^(६)” इति ॥

अथ मीमांसा,—

सप्तमाध्यायस्य तृतीयपादे (१४ अ०) चिन्तितम्,—

“पृष्ठैरुपस्थितौ स्तोत्रधर्माः सन्ति नवाऽग्निमः ।

अग्निहोत्रनयान्नैवं मन्त्रोक्तेरात्मनेपदात् ॥

अग्निचयने श्रूयते,—‘पृष्ठैरुपतिष्ठते’ इति । पृष्ठशब्दो ज्योतिष्टोमे माध्यन्दिनसवनगतस्य स्तोत्रकर्मणो नामधेयमिति प्रथमाध्याये (४।१२ अ०) निर्णीतम् । सोऽग्निचयनगतोपस्थानकर्मणि प्रयुज्यमानोऽग्निहोत्रशब्दन्यायेन पृष्ठस्तोत्रधर्मान् उपस्थानेऽतिदिशतीति चेत् । मैवम्, अत्र पृष्ठशब्दस्य मन्त्रपरत्वेन कर्मपरत्वाभावात् । ‘मासमग्निहोत्रं जुहोति’ इत्यत्राग्निहोत्रशब्दो जुहोतिधातुना समानाधिष्ठितः कर्मपरः । अत्र “उपान्मन्त्रकरणे” (१।३।२५) इत्येतत्पाणिनीयसूत्रम् उपशब्दयुक्तान्तिष्ठतिधातोरात्मनेपदं विदधत् तृतीयान्तस्य पृष्ठशब्दस्य मन्त्रात्मककरणपरतां दर्शयति । यद्यपि स्तोत्रकर्मवाची पृष्ठस्तथापि तत्साधनभूतान् रथन्तरादिमामोपेतान् ‘अभि त्वा शूर’ इत्यादिमन्त्रान् उपलक्षयति । न च, लक्षणाश्रयणमेव दोष इति वाच्यम्, तत्पक्षेऽप्याश्रयणीयत्वात् । किञ्च, तत्पक्षे यथा नित्याग्निहोत्रवाचिना अग्निहोत्रशब्देन तद्वर्मानुपलक्ष्य तैश्च धर्मैस्तद्युक्तं मामाग्निहोत्रात्मकं कर्मान्तरं लक्ष्यते, तथा स्तोत्रवाचिना पृष्ठशब्देन तद्वर्माणुपलक्षणद्वारेणोपस्थानरूपं कर्मान्तरं लक्षणीयमिति विप्रकथ्यते । तस्मात् पृष्ठशब्देन स्तोत्रधर्मान् अतिदिशन्ति ।

एतच्च ब्राह्मणं नक्षत्रेष्टकाब्राह्मणाद् (४।४।१० अ०) ऊर्ध्वं द्रष्टव्यम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छण्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठकेऽष्टमोऽनुवाकः ॥ • ॥

अग्न उदधे या त इषुर्युवा नाम तया नो मृड तस्यास्ते
नमस्तस्यास्त उपजीवन्तो भूया स्मग्ने दुध्र गच्छ
किंशिल वन्य या त इषुर्युवा नाम तया नो मृड
तस्यास्ते नमस्तस्यास्त उपजीवन्तो भूया स्म^(१) पञ्च वा
एतेऽग्नयो यच्चितय उदधिरेव नाम प्रथमो दुध्रः ॥ १ ॥

द्वितीयो गच्छस्तृतीयः किंशिलश्चतुर्थो वन्यः पञ्चम-
त्तेभ्यो यदाहुतीने जुह्यादध्वर्युश्च यजमानश्च प्रदहेयु-
र्यदेता आहुतीर्जुहोति भागधेयेनैवैनाञ्छमयति
नार्तिमाच्छेत्त्यध्वर्युर्न यजमानो^(२) वाङ्म आसन्नसोः
प्राणोऽश्नोश्चक्षुः कर्णयोः श्रोत्रं बाहुवोर्बलमृधोरोजो-
रिष्टा विश्वान्यङ्गानि तनूः ॥ २ ॥

तनुवा मे सह नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः^(३) अप
वा एतस्मात् प्राणाः क्रामन्ति योऽग्निं चिन्वन्नधिक्रामति
वाङ्म आसन्नसोः प्राण इत्याह प्राणानेवात्मन्यत्ते^(४)
यो रुद्रो अग्नौ यो अस्सु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा
भुवना विवेष तस्मै रुद्राय नमो अस्तु^(५) आहुतिभागा
वा अन्ये रुद्रा हविर्भागाः ॥ ३ ॥

अन्ये शतरुद्रीयः हुत्वा गावीधुकश्चरमेतेन यजुषा
चरमायामिष्टकायां नि दध्याद्भागधेयेनैवैनाञ्छमयति
तस्य त्वै शतरुद्रीयः हुतमित्याहुर्यस्यैतदग्नौ क्रियत

इति^{१)} वसवस्त्वा रुद्रैः पुरस्तात्यान्तु पितरस्त्वा यम-
राजानः पितृभिर्दक्षिणतः पान्वाद्रित्यास्त्वा विश्वेदेवैः
पश्चात्यान्तु द्युतानस्त्वा मारुतो मरुद्भिर्हृत्तरतः पात-
॥ ४ ॥

देवास्त्वेन्द्रज्येष्ठा वरुणराजानोऽधस्ताच्चोपरिष्टाश्च
पान्तु^{१)} न वा एतेन पूतो न मेध्यो न प्रोक्षितो यदेन-
मतः प्राचीनं प्रोक्षति यत्सञ्चितमाज्येन प्रोक्षति तेन
पूतस्तेन मेध्यस्तेन प्रोक्षितः ॥ ५ ॥

दुध्रः । तनूः । हविर्भागाः । पातु । द्वात्रिंशच्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
नवमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

आत्मेष्टकामुपस्थान-मण्डपम् उदीरितम् ।

अथ नवमे आहुत्यादिकमभिधीयते । यदुक्तं सूत्रकारेण, 'अग्ने
उदधे या ते इषुर्युवा नामेति पञ्चाज्याहुतीर्ज्ज्वा' इति । तदिदं
विधातुं मन्त्रानुत्पादयति । "अग्ने उदधे या ते इषुर्युवा नाम तथा
नो मृड तस्यांस्ते नमस्तस्यास्ते उपजीवन्तो भूया स्म अग्ने दुध्र गच्छ
किंशिल वन्य या ते इषुर्युवा नाम तथा नो मृड तस्यांस्ते
नमस्तस्यास्ते उपजीवन्तो भूया स्म^(१)" इति । उदीरितं कस्यचिदग्ने-
र्नाम, उदधिनामकं हे 'अग्ने', 'ते' त्वदीया 'ग्रा' इयम् 'इषुः' 'युवा
नाम' परस्पररे सहसा मिश्रणात् युवा वाणस्य नामधेयं, 'तथा'
युवाभिधेयया 'नः' अस्मान् 'मृड' सुख्य । 'ते' त्वदीयायाः 'तस्याः'

दधोः 'नमः' असु । 'ते' लदीयायाः 'तस्याः' दधोः प्रसादात्
'उपजीवन्तः' समीचीनजीवनयुक्ताः 'भृया स्म' । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ।
दुधादीनि चत्वारि अग्निविशेषनामानि; तैर्मन्त्रस्तुर्धा भिद्यते । सर्वेषा-
मप्यग्निशब्द आदावनुषज्यते । 'या ते दधुः' इत्यादिः अन्याननुषङ्गः ।

अथ तैर्मन्त्रैराहुतीर्विधत्ते,—“पञ्च वै एतेऽग्नयो यच्चितयः
उदधिरेव नाम प्रथमः, दुधो द्वितीयः, गह्वस्तृतीयः, किंशिलश्चतुर्थः,
वन्यः पञ्चमः; तेभ्यो यदाहुतीर्न जुहुयादध्वर्युश्च यजमानश्च प्रदहेयुः
यदेता आहुतीर्जुहोति भागधेयेनैवान् शमयति नार्तिमार्च्छत्यध्वर्युर्न
यजमानः^(१)” इति । या एताः पञ्च 'चितयः' उपर्यधोभावेन
निष्पादिताः, ता एव उदध्यादिनामकाः 'पञ्च' 'अग्नयः', तेषामाहुत्य-
भावे अध्वर्युयजमानयोः दाहः स्यात्, अतस्तत्परिहारार्थं तैर्मन्त्रैः
पञ्च आहुत्याहुती*जुहुयात् ।

एतासाञ्च वाजनामाहुत्यनन्तरभावित्वात् “अग्निर्देवेभ्यः” (५।४।
६अ०) इत्यनुवाकान्ते तदेतद् ब्राह्मणं द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण, 'वाङ्म आसन्निति सर्वचारोहान् प्रत्यवरोहंश्च
जपति सहदा अन्ततः' इति । नमितं विधिमुन्नेतुं मन्त्रमुत्पादयति,—
“वाङ्मे आसन् नसोः प्राणोऽक्ष्योश्चक्षुः कर्णयोः श्रोत्रं बाहुवोर्बलम्
ऊरुवोरोजोऽग्निश्च विद्यान्यङ्गानि तनूस्तनुवा मे सह नमस्ते असु
मा मा हिंसीः^(१)” इति । 'मे' मदीया येयं 'वाक्', सेयम्
'आसन्' आस्ये मुखे सुस्थिता भवतु । 'नसोः' नासिकाच्छिद्रयोः
'प्राणः' सुस्थितो भवतु । तथा अक्षिगोलकयोः 'चक्षुः' इन्द्रियम् ।

* पञ्च आहुतीः इति का० ब्री० पु० पाठः ।

‘कर्णयोः’ ओत्रेन्द्रियम् । वाङ्मेर्नानाविधव्यापारसामर्थ्यम् । ऊर्वोर्गमन-
सामर्थ्यम् । तथा ‘विश्वानि’ ‘अङ्गानि’ ‘अरिष्टानि,—सर्वेऽप्यवयवाः
हिंसारहिता भवन्तु । ‘तनूः’ अवयवीभूतं शरीरमपि हिंसारहित-
मस्तु । ‘मे’ ‘तनुवा’ मदीयेन शरीरेण ‘सह’ ‘ते’ तुभ्यं ‘नमः’
साष्टाङ्गदण्डप्रणामः ‘अस्तु’ । अतो ‘मा’ मां त्वं ‘मा हिंसीः’ ।

अथ जपविधिमुन्नयति,—“अप वा एतस्मात् प्राणाः कामन्ति
योऽग्निं चित्त्वन्नधि-क्रामति वाङ्मे आमन्नमोः प्राण इत्याह प्राणानेवा-
त्मन्वत्ते^(४)” इति । ‘यो’ यजमानोऽध्वर्युर्वा अग्निचयनकाले चितम्
‘अग्निम्’ अधिरूह्य पादेनाक्रामति, ‘एतस्मात्’ ‘प्राणाः’ सर्वेऽपि ‘अप’-
‘क्रामन्ति’, अतः प्राणधारणाय मन्त्रे वागादीनां स्वस्थानावस्थिति-
रुच्यते । तस्मादिमं मन्त्रं जपेदिति विधिरभ्युन्नेयः । यदा तु ‘आह’ इति
पदमेव ब्रूयादिति लिङ्गं ब्रूते, तदा प्रत्यय एव विधिः ।

एतच्च आक्रमणेष्टकाब्राह्मणात् (५।१।२) ऊर्ध्वं द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘यो रुद्रो अग्राविति गैर्द्रं गावीधुकञ्चर-
मेतेन यजुषा यस्यामिष्टकायां शतरुद्रीयं जुहोति तस्यां प्रतिष्ठा-
पयति’ इति । तदिदं विधातुं मन्त्रमुत्पादयति,—“यो रुद्रो अग्री
यः अस्तु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेश तस्मै रुद्राय
नमो अस्तु^(५)” इति । रुद्रदेवतारूपोऽग्निः, स च लौकिके अङ्गाररूपे
‘अग्री’ उदकादिषु च प्रविश्य गूढो वर्तते, ‘तस्मै’ ‘नमो अस्तु’ ।

एतन्मन्त्रसाध्यं चरोरुपधानं विधत्ते,—“आङ्गतिभागा वै अन्ये
रुद्रा हविर्भागाः अन्ये, शतरुद्रीयं ऊत्वा गावीधुकञ्चरमेतेन यजुषा
चरमायामिष्टकायां नि दध्याङ्गागधेयेनैवैनं शमयति तस्य त्वै (तु वै)

शतरुद्रीयः ऋतमित्याहुर्नस्यैतदग्नौ क्रियते इति^(१)” इति । “सहस्राणि
सहस्रशो ये रुद्राः” इत्युक्तत्वात् (४।५।११) सन्त्यनेके ‘रुद्राः’, तेषां मध्ये
केचिदाहुतिमेव भजन्ते, तदर्थः शतरुद्रीयः होमः । ‘अन्ये’ तु हवि-
र्भजन्ते, तदर्थमिमं गवीधुकधान्येन निष्पादितं ‘चरुं’ ‘नि-दध्यात्’ ।
उपधाने सति हविर्भाजमग्निं स्वभागेन शान्तं करोति । ‘यस्य’ यजमानस्य
चयने तदिदं चरूपधानं ‘क्रियते’, ‘तस्य’ एव शतरुद्रीयहोमः सफलो
भवति । अन्यथा शतरुद्रीयं ऋतमप्यफलं स्यात् ‘इति’ अभिज्ञा ‘आहुः’ ।

एतच्च “रुद्रो वै एष यदग्निः”—इत्यनुवाके (५।४।३) द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण, ‘वसवस्त्वा रुद्रैः पुरस्तात् पान्त्विति यथालिङ्गं
सञ्चितमग्निमाज्येन प्रोक्षति मध्य उत्तमेन प्राङ्मुखः’ इति । तदिदं
विधातुं मन्त्रानुत्पादयति,—“वसवस्त्वा रुद्रैः पुरस्तात्पान्तु, पितरस्त्वा
यमराजानः पिबभिर्दक्षिणतः पान्तु, आदित्यास्त्वा विश्वेर्देवैः पश्चात्पान्तु,
द्युतानस्त्वा मारुतो मरुद्भिस्तत्तरतः पातु, देवास्त्वा इन्द्रज्येष्ठाः वरुण-
राजानोऽधस्ताच्चोपरिष्ठाच्च पान्तु^(२)” इति । ये एते अष्टौ ‘वसवः’
सन्ति, ते ‘रुद्रैः’ एकादशभिः सह, हे अग्ने, त्वां पूर्वस्यान्दिशि रचन्तु ।
यमो राजा एषां पिबिषां ते ‘यमराजानः’, तादृशाः ‘पितरः’ अन्येः
‘पिबिभिः’ सार्धं दक्षिणस्यान्दिशि ‘पान्तु’ । ये द्वादश ‘आदित्याः’
ते ‘विश्वेर्देवैः’ सार्धं ‘पश्चात्पान्तु’ । यो द्युताननामकोऽधिकप्रकाशवान्
कश्चिन्नरुतां स्वामी, स सर्वैर्मरुद्गणैः सह उत्तरस्यान्दिशि ‘पातु’ । इन्द्रो
ज्येष्ठो वयोगुणाभ्याम् अधिको येषां देवानां ते ‘इन्द्रज्येष्ठाः’, वरुणो
राजा येषामन्येषां देवानां ते ‘वरुणराजानः’, ते च उभयविधा देवा
ऊर्ध्वाधोदिशोः ‘पान्तु’ ।

अथ विधत्ते,—“न वै एतेन पूतो न मेधो न प्रोक्षितो यदेनम्
अतः प्राचीनं प्रोक्षति यत्सञ्चितमाज्येन प्रोक्षति तेन पूतस्तेन मेधस्तेन
प्रोक्षितः^(८)” इति । ‘अतः’ अस्मादाज्यप्रोक्षणात् ‘प्राचीनं’ पूर्वमेव यदि
“सहस्रस्य प्रमा अमि” (४।४।११ अ०) इत्यादिमन्त्रेण हिरण्यशकलैः
प्रोक्षेत्, तदानीम् ‘एतेन’ प्रोक्षणेन अयमग्निः ‘पूतः’ अपि यज्ञयोग्यो
‘न’ भवति, किम् बह्वना, ‘प्रोक्षितः’ एव ‘न’ भवति । यदि ‘सञ्चितम्’
अग्निम् आज्यद्रव्येणाक्तमन्त्रेण प्रोक्षेत्, ‘तेन’ एव आज्यप्रोक्षणेनाग्निः
‘पूतो’ भवति, यज्ञयोग्यश्च भवति, सम्यक् ‘प्रोक्षितः’ स भवति ।
एतच्च “साहस्रवता प्रोक्षति” (५।४।१ अ०) इति ब्राह्मणादूर्ध्वम्
अपूर्वं द्रव्यम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयज्ञः—
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके नवमोऽनुताकः ॥०॥

समीची नामासि प्राची दिक् तस्यास्तेऽग्निरधिपति-
रसितो रक्षिता यश्चाधिपतिर्यश्च गोप्ता ताभ्यां नमस्तौ
नो मृडयतां ते यं द्विषो यश्च नो द्वेष्टि तं वां जम्भे
दधामि ओजस्विनी नामासि दक्षिणा दिक् तस्यास्तु
इन्द्रोऽधिपतिः पृदाकुः प्राची नामासि प्रतीची दिक्
तस्यास्ते ॥ १ ॥

सीमोऽधिपतिः स्वजोऽवस्थावा नामास्युदीची दिक्
तस्यास्ते वरुणोऽधिपतिस्तिरश्च राजिरधिपत्नी नामासि

बृहती दिक् तस्यास्ते बृहस्पतिरधिपतिः श्रिवो वशिनी
नामासीयन्दिक् तस्यास्ते यमोऽधिपतिः कल्माषग्रीवो
रक्षिता यश्चाधिपतिर्यश्च गोप्ता ताभ्यां नमस्ते नो
मृडयतां ते यं द्विषो यश्च ॥ २ ॥

नो द्वेष्टि तं वां जम्भे दधामि^(१) गृता वै देवता अग्निं
क्षितः रक्षन्ति ताभ्यो यदाहुतीर्न जुहुयादध्वर्युश्च
यजमानं च ध्यायेयुर्यदेता आहुतीर्जुहोति भागधेये-
नैवेनाञ्छमयति नार्तिमार्च्छत्यध्वर्युर्न यजमानो^(२)
हेतयो त्वाम् स्थ तेषां वः पुरो गृहा अग्निर्व इषवः
सलिलो निलिम्पा नाम ॥ ३ ॥

स्थ तेषां वो दक्षिणा गृहाः पितरो व इषवः सगरो
वज्रिणो नाम स्थ तेषां वः पश्चाद्गृहाः स्वप्नो व इषवो
गङ्गरोऽवस्थावानो नाम स्थ तेषां व उत्तराद्गृहा आपो
व इषवः समुद्रोऽधिपतयो नाम स्थ तेषां व उपरि
गृहा वर्ष व इषवोऽवस्वान् क्रव्या नाम स्थ पार्थिवा-
स्तेषां व इद्गृहाः ॥ ४ ॥

अन्नं व इषवो निमिषो वातनामं तेभ्यो वो नमस्ते
नो मृडयत ते यं द्विषो यश्च नो द्वेष्टि तं वो जम्भे
दधामि^(१) हुतादो वा अन्ये देवा अहुतादोऽन्ये तानग्नि-
चिदेवोभयान् प्रीणाति दध्ना मधुमिश्रेणैता आहुती-

जुहोति भागधियेनैवैनान् प्रीणात्यथो खस्वाहुरिष्टका
वै देवा अहुताद् इति ॥ ५ ॥

अनुपरिक्रामं जुहोत्यपरिवर्गमेवैनान् प्रीणाति^(१)
इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रप्यातमग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमूर्व समुद्रियः सदनमा विशस्व^(२) ।
यो वै अग्निं प्रयुज्य न विमुञ्चति यथाऽञ्चो युक्तो
ऽविमुच्यमानः क्षुध्यन् पराभवत्येवमस्याग्निः परा भवति
तं पराभवन्तं यजमानोऽनु परा भवति सोऽग्निं क्षित्वा
लूक्षः ॥ ६ ॥

भवतीमं स्तनमूर्जस्वन्तमध्यापामित्याज्यस्य पूर्णां
सुचं जुहोत्येष वै अग्नेर्विमोको विमुच्यैवास्मै अन्नमपि
दधाति^(३) तस्मादाहुयश्चैवं वेद यश्च न सुधायः ह वै
वाजी सुहिता दधातीत्यग्निर्वाव वाजी तमेव तत्
प्रीणाति स एनं प्रीतः प्रीणाति वसीयान् भवति^(४) ॥ ७ ॥

प्रतीची दिक् तस्यास्ते । द्विष्मो यश्च । निलिम्पा
नाम । इहं गृहाः । इति । लूक्षः । वसीयान् भवति ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
दशमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

आज्याहुतीः प्रोक्ष्णं चेत्यादिकं नवमे श्रुतम् ।

अथ दशमे सर्पाहुत्यादिकमुच्यते । यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘समीची नामासि प्राची दिगिति दध्ना मधुमिश्रेण षट्सर्पाहुतीरनुपरिचारम्’ इति । तदेतदिधातुं मन्त्रानुत्पादयति,—“समीची नामासि प्राची दिक् तस्यास्तेऽग्निरधिपतिरसिता रक्षिता यस्याधिपतिर्यश्च गोप्ता ताभ्यां नमस्तौ नो मृडयतां ते यं दिशो यश्च नो देष्टि तं वां जम्हे दधामि[१], ओजस्विनी नामासि दक्षिणा दिक् तस्यास्ते इन्द्रोऽधिपतिः पृदाकुः[२], प्राची नामासि प्रतीची दिक् तस्यास्ते सोमोऽधिपतिः स्वजः[३], अवस्थावा नामासि उदीची दिक् तस्यास्ते वरुणोऽधिपतिस्त्रिरश्वराजिः[४] अधिपत्नी नामासि वृद्धती दिक् तस्यास्ते वृद्धस्यतिरधिपतिः श्वित्रः[५] वशिनी नामासीयं दिक् तस्यास्ते यमोऽधिपतिः कल्माषणीवो रक्षिता यस्याधिपतिर्यश्च गोप्ता ताभ्यां नमस्तौ नो मृडयतां ते यं दिशो यश्च नो देष्टि तं वां जम्हे दधामि[६]^(१)” इति । येयं प्राची दिक् तस्याः समीचीति नामधेयं, सम्यगश्नुतीति प्रातःकालानुष्ठानार्थं प्रवर्तते इति व्युत्पत्तेः । हे ‘प्राची’, त्वं समीच्यभिधा ‘असि’ ‘तस्याः’ तादृश्याः ‘अग्निः’ देवः स्वामी, ‘असितः’ कृष्णसर्पः, स च तव ‘रक्षिता’, ‘ताभ्याम्’ अधिपति-रक्षितभ्यां ‘नमः’ अस्तु, ‘तौ’ उभौ ‘नः’ अस्मान् ‘मृडयतां’ सुखयतां, ‘ते’ सुखिनो वयं ‘यं’ पुरुषं अस्मान् हिंसितुं प्रवर्त्तमानं ‘दिशः’, ‘यश्च’ शत्रुः अस्मानुदासीनानपि ‘देष्टि’, ‘तं’ दिविधं शत्रुं ‘वां’ युवयोः अधिपतिरक्षितोः ‘जम्हे’ विदारितास्ते ‘दधामि’ स्थापयामि । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । ‘ओजस्विनी’ बलवतीति दक्षिणदिशो नाम ।

‘वृदाकुः’ अजगरः सर्पः । ‘रक्षिता’ इत्यादि-शेषोऽनुवच्यते । प्रकर्वेण
 अञ्जतीति सायंसन्ध्यायनुष्ठानाय प्रवर्तते इति पश्चिमदिशः प्राचीति
 नामधेयम् । स्वस्मिन् जायते इति ‘स्वजः’, स्वाधीनबलः सर्पः ।
 मनुष्यान् अवस्थापयति इति व्युत्पत्त्या ‘अवस्थावा’-इति उदक्-दिशो
 नाम । तिरश्चीनाः कटकवलयाकाराः राजयो रेखाः यस्य सर्पस्य
 असौ ‘तिरश्चराजिः’ । अधिपालयतीति व्युत्पत्त्या ‘अधिपक्षी’-इति
 ऊर्ध्वदिशो नाम । सा च प्रौढत्वात् ‘वृहती’ । ‘श्वित्रः’, यस्य
 सर्पस्य श्वासधारणेन स्वशरीरे उच्छ्वनता भवति, दशनेन मनुष्य-
 शरीरेऽप्युच्छ्वनता भवति, सोऽयं श्वित्रः । वशः (प्राणिनामवस्थातुं
 स्वाधीनता) अस्यामस्तीति ‘वशिनी’ । एतच्च भूमिरूपाया अधोदिशो
 नाम । कल्माषाः (कृष्णविन्द्वे) ग्रीवायां यस्य सर्पस्य, सोऽयं
 ‘कल्माषग्रीवः’ । ‘रक्षिता’ इत्यादेः, सर्पस्य वाचकेभ्यः शब्देभ्यः ऊर्ध्वम्
 अनुषङ्गद्योतनाय अन्तिममन्त्रे पुनःपाठः ।

एतन्मन्त्रमाध्या आञ्जतीर्विधत्ते,—“एता वै देवता अग्निं चित्
 रक्षन्ति ताभ्यो यदाञ्जतीर्न जुहुयादध्वर्युं च यजमानश्च ध्यायेद्युधं देता
 आञ्जतीर्जुहेति भागधेयेनैवैनाञ्जमयति नार्तिमार्च्छत्यध्वर्युर्न यज-
 मानः^(१)” इति । ‘एताः’ अग्नीन्द्राद्यधिपतिरूपा अमितादिसर्परूपाश्च
 ‘देवताः’ इष्टकाभिः ‘चितम्’ ‘अग्निं’ ‘रक्षन्ति’ अतस्मात्तां प्राण्यै
 जुहुयात् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण, ‘हेतयो नाम स्येति’ षण्महाञ्जतीर्यथा
 सर्पाञ्जतीः इति । तदेतद्विधातुं मन्त्रानुत्पादयति,—“हेतयो नाम
 स्य तेषां वः पुरो गृहाः अग्निर्व इषवः सलिलो[१] निलिप्ता नाम

स्य तेषां वो दक्षिणा गृहाः पितरो व इषवः सगरो[१] वज्रिणो नाम
 स्य तेषां वः पश्चाद्गृहाः स्वप्नो व इषवो गङ्गारः[२] अवस्थावानो नाम
 स्य तेषां व उत्तराद्गृहाः आपो व इषवः समुद्रः[३], अधिपतयो
 नाम स्य तेषां व उपरि गृहाः वर्षं व इषवोऽवस्वान्[५] क्रव्या नाम
 स्य पार्थिवास्तेषां व इह गृहाः अन्नं व इषवो निमिषो वातनामं
 तेभ्यो वो नमः ते नो मृडयत ते यं द्विषो यश्च नो द्वेष्टि तं वो जश्ने
 दधामि[६]-(१)” इति । ‘हेतयः’ श्रूणां गन्नारः* हे गन्धर्वविशेषाः,
 युधं हेतिनामकाः ‘स्य’, ‘तेषां’ युष्माकं पूर्वस्यान्दिशि ‘गृहाः’ वर्तन्ते ।
 ‘अग्निः’ युष्माकम् ‘इषवः’, अग्निसमाना इत्यर्थः । ‘सलिलो’ वायु-
 विशेषः । ‘चरममन्त्रे पठितं ‘वातनामम्’ इत्यादिकं सर्वेष्वपि मन्त्रेषु
 असुषज्यते । पूर्वस्यान्दिशि सञ्चरतो वायोः ‘सलिलः’ इति नामधेयम् ।
 ‘तेभ्यो वो नमः’ इत्यादिकं विस्पष्टम् । नितरां चन्दनेनानुलिप्ता ये
 गन्धर्वास्तेषां ‘निलिप्ताः’ इति नामधेयम् । ‘पितरः’ पितृसमानाः ।
 ‘सगरः’ इति तत्र स्थितस्य नामधेयम् । वज्रं येषामस्तीति ‘वज्रिणः’,
 तदेतद्गन्धर्वनाम । ‘स्वप्नः’ स्वप्नसमानाः, यथा स्वप्नैः किञ्चिदपि असाध्यं
 नास्ति, एवमेतासामिषूणामित्यर्थः । ‘गङ्गारः’ इति वायोर्नाम । अवस्था
 स्थितिः अवस्थानमेषामस्तीति ‘अवस्थावानः’ तदेतद्गन्धर्वनाम । ‘आपः’
 उदकसमानाः, जलवत् सर्वदा प्रसरन्तीत्यर्थः । ‘समुद्रः’ इति
 वायोर्नाम । अधिकं पालयन्तीति ‘अधिपतयः’ । ‘वर्षं’ वृष्टिसमानाः,
 निरन्तरं पतन्तीत्यर्थः । ‘अवस्वान्’ इति वायोर्नाम । ‘क्रव्याः’
 मांसप्रियाः, तदेतद्गन्धर्वनाम । ते च ‘पार्थिवाः’, पृथिव्यां वर्तन्ते ।

* श्वमेव सर्वत्र पाठः । गन्नारः इति तु भवितुमुचितः ।

‘इह’ भूमौ । ‘अन्नम्’ अन्नहेतवः । ‘निमिषः’ इति वायोर्गोम ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यं होमं विधत्ते,—“ऊतादो वै अन्ये देवा
अऊतादोऽन्ये तानग्निविदेवोभयान् प्रीणाति दध्ना मधुमिन्नेषेता
अऊतीर्जुहेति भागधेयेनैवैवान् प्रीणात्यथो खल्वाऊरिष्टका वै देवा
अऊताद् इत्यनुपरिक्रामं जुहेत्यपरिवर्गमेवैवान् प्रीणाति^(४)” इति ।
“पूर्वं नृषदे वडिति” (५।४।५अ०) इत्यनुवाके दध्ना मधुमिन्नेषावोषणे
अऊतभक्तकदेवप्रीत्यर्थमुक्तम्, इह तु ऊतभक्तकदेवप्रीत्यर्थं तेनैव द्रव्येण
होम उच्यते । अपि च एकेऽभिज्ञा एवम् ‘आऊः’ ‘इष्टका’ एव
‘अऊतादो’ ‘देवाः’, तत्र होमेन ऊतभक्तकाणां प्रीतावप्येतासामिष्टकानां
प्रीत्यर्थं होमकालेऽनुक्रमेण परितः क्रमणीयं, तेनैव परिक्रमणेन कमपि
देवमवर्जयित्वा सर्वानप्येतावतो देवान् ‘प्रीणाति’ । तदेवं होमेनानुप-
रिक्रमणेन च ऊतादामऊतादां च सर्वेषां प्रीतिरुपपद्यते । तदिदं वर्षा-
ऊतिमहाऊतिब्राह्मणं वातनामब्राह्मणात् (५।४।८अ०) ऊर्ध्वं द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘अनुबन्ध्यावपायां ऊतायामौदुम्बरो सुषं
पूरयित्वेमः स्ननमूर्जस्नन्तं धयापामित्यग्नेर्विमोकं जुहेति’ इति ।
तदिदं विधातुं मन्त्रमुत्पादयति,—“इमः स्ननमूर्जस्नन्तं धय अपां
प्रयातम् अग्ने, सरिरस्य मध्ये उत्सं जुषस्व मधुमन्तमूर्व, समुद्रिषः
सदनमा विशस्व^(५)” इति । हे ‘अग्ने’, ‘इमं’ सुचि अवस्थितं द्रव्यविशेषं
‘धय’ पिव । कीदृशं ?—‘अपां’ मातृस्थानीयानां ‘स्ननं’ स्नानस्थानीयं,
घृतस्य गोदारा उदककार्यत्वात् तदीयस्नानत्वोपपत्तयः । ‘जर्जस्नन्तं’
रसवन्तं, ‘प्रयातम्’ अतिप्रवृद्धं, ‘सरिरस्य’ ‘मध्ये’,—यथा जलस्य मध्ये
‘उत्सं’ प्रवाहप्रवृत्तिः, तथा प्रभूतं, घृतं ‘मधुमन्तं’ माधुर्योपेतं ‘जुषस्व’

वेवस्व । हे 'जवं' विसृताग्ने, 'समुद्रियं' समुद्रसन्निधि 'सदनं'
तदीयस्थानम् 'आ विशस्व' प्रविश ।

एतेन मन्त्रेण मार्थं होमं विधत्ते,—“यो वै अग्निं प्रयुज्य न
विमुञ्चति यथाश्वो युक्तोऽविमुच्यमानः क्षुधन् पराभवति, एवमस्याग्निः
परा भवति तं पराभवन्तं यजमानोऽनु परा भवति सोऽग्निं चित्वा लूचो
भवति । इमं स्तनमूर्जस्त्नं धयापामित्याज्यस्य पूर्णां सुचं जुहोति
एष वै अग्नेर्विमोको विमुच्यैवास्मै अन्नमपि दधाति^(१)” इति । ‘यो’
यजमानो “अग्निं युनज्मि” (४।७।१३ अ०) इत्यादिभिर्मन्त्रैरेतम् ‘अग्निं’
कर्मणि ‘प्रयुज्य’ ‘न’ विमुञ्चेत्, ‘अस्य’ यजमानस्य ‘अग्निः’ ‘परा भवति’
विनश्यति, ‘यथा’ लोके ‘अश्वो’ रथे युज्यमानश्चिरम् ‘अविमुच्यमानः’
क्षुधाक्रान्तः पराभूतः पीडितो भवति तदत् । अग्निपराभवम्
‘अनु’ ‘यजमानो’ऽपि ‘परा भवति’ । तादृशः ‘अग्निं’ ‘चित्वा’ ‘लूचः’
सर्वदा लूचो दाहोपेतो ‘भवति’, अतो जुहुयात् । ‘एष’ च होमः
‘अग्नेर्विमोकः’ । ततोऽग्निं ‘विमुच्य’ ‘अस्मै’ ‘अन्नं’ समर्पितवान् भवति ।

पुनः प्रकारान्तरेण प्रशंसति,—“तस्मादाहुर्नृचैव वेद यश्च न सुधाय
ह वै वाजी सुहितो दधातीत्यग्निर्वाव, वाजी तमेव तन्प्रीणाति स एनं
प्रीतिः प्रीणाति वमीयान् भवति^(२)” इति । यस्मादत्राग्निं विमुच्य अन्नं
पदीयते, तस्मात् कारणास्तोके ‘यश्च’ पुरुषः एनं मग्निवृत्तान्तं जानाति,
‘यश्च’ ‘न’ जानाति तादृशाः सर्वेऽप्येवं ‘आहुः’ । ‘सुहितः’ सधुखाद्यादिना
हृत्तो ‘वाजी’ ‘सुधायं’ स्वस्थोपरि धारणीयं पुरुषं पुनः पुनर्धारयित्वा
गन्तव्यस्थले नीत्वा ‘दधाति’ स्थापयतीति । अत्र ह-शब्दः आवाह-

१ एनमित्यत्र ‘एवम्’ इति सुसङ्गतः पठः ।

गोपासप्रसिद्धिं दर्शयति । एवं लौकिकोक्तौ सत्यामचायग्निरिव वाजिस्थानीयः । ‘तमेव’ अग्निं तेन विमोहोमेन ‘प्रीणाति’ । ‘सः’ च ‘प्रीतः’ अग्निः ‘एनं’ यजमानं प्रीणयति । स च यजमानोऽतिशयेन धनवान् ‘भवति’ । एतस्य च ब्राह्मणस्य आन्नातेष्वनुवाकेष्वन्तर्भावात्सम्भवात् अन्ते निवेशः । एवमन्यस्यापि तादृशस्य द्रष्टव्यम् ।

अत्र मीमांसा ।

एकादशाध्यायस्य तृतीयपादे (८अ०) चिन्तितम्,—

“किमग्निमोकः सर्वान्ते मुख्यान्ते वाऽग्निमो, यतः ।

योगं सर्वार्थता, मैवं, मुख्यार्थोऽसौ तदन्तिमः ॥

अग्निचयने योगविमोको अग्नेः श्रूयते,—“अग्निं युनज्मि” (४।७।१३अ०) इतिमन्त्रहोमो योगः । “इमं स्तनम्” (५।५।१०।६) इतिमन्त्रहोमो विमोकः । स च साङ्गप्रधानविषयः सर्वप्रयोगान्ते कर्त्तव्यः । कुतः? योगस्य सर्वार्थत्वेन मध्ये तद्विमोकासम्भवात् । इति प्राप्ते ब्रूमः,— ‘पञ्चभिर्युनक्ति पाङ्क्ता यज्ञो यावानेव यज्ञस्तमाप्नोति’ इत्यनेन यज्ञप्राप्तिवचनेन योगस्य प्रधानार्थत्वावगमात् प्रधानकर्मणोऽन्ते विमोकं कुर्यात्” । तत्रैव वार्तिककारमतेन चिन्तितम्,—

“अत्यस्तेतावुभौ पक्षावुत्पत्तावविशेषतः ।

सर्वार्थत्वं गुणे भाति सर्वान्ते तद्विमोचनम् ॥

‘प्रधानान्ते विमोकः’ इति यो भाष्ये सिद्धान्तः स एवात्र पूर्वः पक्षः । ‘अग्निं युनज्मि शवमा घृतेन इति जुहोत्यग्निमेतदद्युनक्ति’ इत्येतत् योगस्थोत्पत्तिवाक्यम् । ‘पञ्चभिर्युनक्ति’ इति गुणविधिः । तच्च न तावदुत्पत्तौ प्रधानमात्रगामी योग इत्यस्यार्थस्य गमको विशेषोऽस्ति’

गुह्यविधिष्वेऽपि यज्ञशब्दो न प्रधानमात्रमाचष्टे, किन्तु, साङ्गम् ।
तस्मात् योगस्य सर्वार्थत्वादिमोकोऽपि सर्वान्ते कर्तव्य इति” ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके दशमोऽनुवाकः ॥०॥

इन्द्राय राज्ञे सूकरो वरुणाय राज्ञे कृष्णो यमाय
राज्ञे ऋश्यं ऋषभाय राज्ञे गवयः शार्दूलाय राज्ञे गौरः
पुरुषराजाय मर्कटः क्षिप्रश्येनस्य वर्तिका नीलङ्गोः
किमिः सोमस्य राज्ञः कुलुङ्गः सिन्धोः शिशुमारो
हिमवतो हस्ती ॥ १ ॥

इन्द्राय राज्ञेऽष्टाविंशतिः ॥ ११ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
एकादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

सर्पाऊर्तिर्महाहोमो मोकश्च दशमे श्रुताः ।

अथाग्निशेषमवस्थाप्याश्वमेधशेषभूता एकादशिनः पशवो विधीयन्ते ।
एकादशानां पशूनां समूहः एकादशिनी, सा चैकैकस्मिन्ननुवाके
एकैका विधीयते । तत्र प्रथमामेकादशिनीमाह,—“इन्द्राय राज्ञे सूकरो
वरुणाय राज्ञे कृष्णो यमाय राज्ञे ऋश्यः ऋषभाय राज्ञे गवयः शार्दू-
लाय राज्ञे गौरः पुरुषराजाय मर्कटः क्षिप्रश्येनस्य वर्तिका नीलङ्गोः
किमिः सोमस्य राज्ञः कुलुङ्गः सिन्धोः शिशुमारो हिमवतो
हस्ती” इति ।

अत्र चतुर्थ्या षष्ठ्या तद्धितेन च देवतासम्बन्धः प्रतिपाद्यते ।
 'इन्द्राय' देवानां 'राज्ञे' 'सुक्रो' वराहः आलभ्यते । 'वसुणाय'
 अपां 'राज्ञे' 'कृष्णः' कृष्णमृगः । 'यमाय' धर्माणां 'राज्ञे' 'चक्षुः'
 मृगविशेषः । 'ऋषभाय' गवां 'राज्ञे' 'गवयो' गोमदृशः सास्त्रा-
 रहितः । 'शार्दूलाय' आरण्यानां 'राज्ञे' 'गैरो' गौरमृगः, रक्त
 इत्येके, शुक्र इत्यन्ये । पुरुषाणां राज्ञे प्रधानाय 'मर्कटः' वानरः ।
 'क्षिप्रश्चेनस्य' क्षिप्रगतेः शकुनिराजस्य श्वनविशेषस्य 'वर्त्तिका'
 चटकामदृशी । 'नीलङ्गोः' नीलप्रभस्य सर्पविशेषस्य मरीचपाणां
 राज्ञे 'क्रिमीः' गोमयपिण्डकारी । 'सोमस्य' ओषधीनां 'राज्ञे'
 'कुलुङ्गः' चित्रगः कटकस्वरः । 'मिन्धोः' ममुद्रस्य 'शिङ्गुमारः' याहः ।
 'हिमवतः' पर्वतानां राज्ञे 'हस्ती' गजः ॥

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णय-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥०॥

मयुः, प्राजापत्य जलो हलीक्षणो वृषदः शस्ते धातुः
 सरस्वत्यै शारिः श्येता पुरुषवाक सरस्वते शुक्रः
 श्येतः पुरुषवागाग्ण्योऽजो नकुलः शक्रा ते पौष्णा
 वाचे क्रौञ्चः ॥ १ ॥

मयुः । चयोविः शतिः ॥ १२ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
 द्वादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अथाप दग्निमीमाह,—

“मयुः प्राजापत्यः जलो हलीक्षणो वषदंश्रः ते धातुः सरस्वत्यै
 आरिः श्वेता पुरुषवाक् सरस्वते शुकः श्वेतः पुरुषवाक् आरण्योऽजो
 नकुलः श्रका ते पौष्णाः वाचे क्रौञ्चः” इति । ‘मयुः’ किंपुरुष इत्येके,
 आरण्यमथूर इत्यपरे । स ‘प्राजापत्यः’ । जलादयस्त्रयो ‘धातुः’ ।
 ‘जलः’ काकः, जलूक इत्यन्ये, दिव्यकर्ण इत्यपरे । ‘हलीक्षणः’
 वषट्सिंसक इत्येके, हरितषटक इत्यन्ये । ‘वषदंश्रो’ मार्जारः, तप्तदृश्र
 इत्येके । ‘सरस्वत्यै’ ‘आरिः’ शुकस्त्री, कीदृशी? ‘श्वेता’ अरक्तवर्णा ।
 पुनश्च विशेष्यते—‘पुरुषवाक्’,—पुरुषवत् वदितुं समर्था । ‘सरस्वते’
 ‘शुकः’ ‘श्वेतः’ ‘पुरुषवाक्’ । पूर्ववत् व्याख्येयम् । आरण्यजादयस्त्रयः
 ‘पौष्णाः’ । ‘आरण्योऽजः’ अरभः । ‘नकुलः’ प्रसिद्धः । ‘श्रका’
 मलिका इत्येके, दीर्घकर्णो मृगविशेष इत्यन्ये । ‘वाचे’ वाग्देवतायै
 ‘क्रौञ्चो’ हारणस्त्रयः पक्षिविशेषः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छण्यजुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः ॥०॥

अपां नप्चे ज॒षो न॒क्रो म॒करः कु॒लीक॒यस्तेऽकू॒पा-
 र॒स्य वा॒चे प॑ै॒र्राजो भ॒गाय॑ कु॒षीत॑क आ॒ती वा॒ह॒सो
 द॒र्वि॒द्रा ते वा॒य॒व्या दि॒ग्भ्यश्च॑क्रवाकः ॥ १ ॥

अपां नप्चे । एकान्वविंशतिः ॥ १३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
 षोडशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

[का० ५ प्र० ५ अ० १०] तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये ।

दयोरनुवाकयोः एकादश्विनी दश्विनी चेति ।

सुत्तराणां यथायोगं द्रष्टव्यम् ।

अथ तृतीयं सूत्रमाह,—“अपां नग्ने जषो नाव
ते अकूपारस्य वाचे पैङ्गराजो भगाय कुषीतकः आती वाहसो दर्विदा
ते वायव्याः दिग्भ्यश्चक्रवाकः” इति । ‘अपां नग्ने’ अपाम् अविनाशाय
देवविशेषाय ‘जषः’ जषवत्पुण्डो मकरः । नाकादयस्त्रयः ‘अकूपारस्य’
समुद्रस्य । ‘नाकः’ दीर्घतुण्डो ग्राहः, दीर्घपुच्छो मत्स्यविशेष इत्येके ।
‘मकरः’ पर्यस्ततुण्डः । ‘कुलीकयो’ बज्रपात् मत्स्यविशेषः । ‘वाचे’
‘पैङ्गराजः’ रत्नाक्षो भरद्वाजः, समुद्रतरङ्गे-चारी महापत्नी इत्यन्ये,
चकोर इत्यपरे । ‘भगाय’ ‘कुषीतकः’ समुद्रकाकः । आर्त्यादयस्त्रयो
‘वायव्याः’,—‘आती’ कुरङ्गी, चाष इत्यन्ये । ‘वाहसः’ पृष्ठे कुल्लभ-
वाही जन्तुः । ‘दर्विदा’ जलपत्नी, द्रुमकुक्षुट इत्येके । ‘दिग्भ्यः’
दिग्देवताभ्यः । ‘चक्रवाकः’ प्रसिद्धः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके त्रयोदशोऽनुवाकः ॥०॥

बलायाजगुर आखुः सृजया शयण्डक्ते मैचा मृत्यवे
ऽस्मिन्तो मन्थवे स्वजः कुम्भीनसः पुष्करसम्देश
लोहिताहिस्ते त्वाघ्राः प्रतिश्रुत्वायै वाहसः ॥१॥१४॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
चतुर्दशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अथ चतुर्थं सङ्गमाह,—

“बलाय अजगरः आखुः सृजया ग्रयण्डकः ते मैत्राः मृत्यवे
असितो मन्यवे खजः कुम्भीनसः पुष्करसादो लोहिताहिः ते त्राहाः
प्रतिश्रुत्कायै वाहसः” इति । ‘बलाय’ बलाख्याय देवाय ‘अजगरे’
महेरगः । आत्मादयस्त्रयो ‘मैत्राः’ । ‘आखु’ प्रसिद्धः । ‘सृजया’
नीलमखिका, शुक्लसर्प इत्येके, नीलमहिष इत्यपरे । ‘ग्रयण्डकः’
कृकलासः । ‘मृत्यवे’ ‘असितः’ कृष्णसर्पः । ‘मन्यवे’ ‘खजः’
‘सर्पविशेषः’ बिलादिषु यः स्वयमेव जायते । कुम्भीनसादयस्त्रयः
‘लोहिताहिः’ त्राहाः । ‘पुष्करसादः’ स्वापशीलः सर्पविशेषः । ‘पुष्करसादः’
पुष्करसर्पः, भ्रमर इत्येके । ‘लोहिताहिः’ श्वेतलोहितसर्पः ।
‘प्रतिश्रुत्कायै’ प्रतिश्रुत्यै, ‘वाहसः’ कल्पप्रमाणसर्पः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके चतुर्दशोऽनुवाकः ॥

पु० ष० नृ० ग० अ० न्द्र० म० से गोधा कालका दार्वाघाटस्ते
बनस्पतीनामेख्यहे कृष्णो रात्रियै पिकः स्निग्धा
नीलशीर्ष्णी तेऽर्यम्यो धातुः कत्कटः ॥ १ ॥ १५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
चतुर्दशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अथ पञ्चमं सङ्गमाह,—

“पुष्पमृगः चन्द्रमसे गोधा कालका दार्वाघाटः ते वनस्थतीनाम्
एणी अङ्गे कृष्णः रात्रियै पिकः खिङ्गा नीलशीर्ष्णी ते अर्यम्भे
धातुः कत्कटः” इति । ‘पुष्पमृगः’ नरमुखो मृगविशेषः ‘चन्द्रमसे’ ।
गोधादयस्त्रयो ‘वनस्थतीनाम्’ । ‘गोधा’ सुसलिका, महागोधा
इत्येके । ‘कालका’ सरटा । ‘दार्वाघाटः’ द्रुमकुकुटः । ‘एणी’
मृगी ‘अङ्गे’ । ‘कृष्णः’ कृष्णमृगः ‘रात्रियै’ । पिकादयस्त्रयः ‘अर्यम्भे’ ।
‘पिकः’ कोकिलः । ‘खिङ्गा’ रत्नमुखी वांगरी । ‘नीलशीर्ष्णी’
कृष्णशिरस्की । ‘धातुः’ ‘कत्कटः’ विलवासी कर्कटः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके पञ्चदशोऽनुवाकः ॥०॥

सौरी बलाकश्या मयूरः श्येनस्ते गन्धर्वाणां वक्ष्मनां
कपिञ्जलो रुद्राणां तित्तिरी रोहित्कुण्डूणाची
गोसत्तिका ता अप्सुरसामरण्याय स्तमुरः ॥ १ ॥ १६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
षोडशोऽनुवाकः ॥ • ॥

अथ षष्ठं सङ्गमाह,—

“सौरी बलाका ऋक्षो मयूरः श्येनः ते गन्धर्वाणां वक्ष्मनां
कपिञ्जलो रुद्राणां तित्तिरिः रोहित् कुण्डूणाची गोसत्तिका ताः

अप्सरसाम् अरण्याय समरः” इति । ‘सौरी’ ‘बलाका’ प्रसिद्धा ।
 अश्वाद्यस्तयो ‘गन्धर्वाणाम्’, ते तु प्रसिद्धाः । ‘वसुनां’ ‘कपिञ्जलः’
 अधोनिपाती । ‘रुद्राणां’ ‘तित्तिरिः’ परस्परः । रोहिताद्यस्तिस्रः
 ‘अप्सरसाम्’ । ‘रोहित्’ अश्वस्ती । ‘कुण्डूणाची’ गृहगोधिका ।
 ‘गोस्तिका’ खञ्जरीटका, पीतशुक्लेति केचित् । ‘अरण्याय’ अप्रण-
 नामकाय, ‘समरः’ समरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
 संहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके षोडशोऽनुवाकः ॥०॥

पृषतो वैश्वदेवः पित्वो न्यङ्कुः कश्स्तेऽनुमत्या
 अन्यवापोऽर्धमासानां मासां कश्यपः कथिः कुटर-
 दात्यौहस्ते सिनीवाल्म्यै बृहस्पतये शिन्पुटः ॥ १ ॥ १७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
 सप्तदशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अथ सप्तमं सङ्गमाह,—

“पृषतो वैश्वदेवः पित्वो न्यङ्कुः कश्स्तेऽनुमत्यै अन्यवापः
 अर्धमासानां मासां कश्यपः कथिः कुटरः दात्यौहस्ते सिनीवाल्म्यै
 बृहस्पतये शिन्पुटः” इति । ‘पृषतः’ श्वेतविन्दुश्चक्षुःशृङ्गो मृगः ।
 पिलाद्यस्तयः ‘अनुमत्यै’ । ‘पित्वो’ व्याघ्रः । ‘न्यङ्कुः’ हरिणः, अथ
 इत्येके । ‘कश्स्तेऽनुमत्यै’ । ‘कथिः’ कुटरवो मृगविशेषाः ।

• अथ ‘कुटरः,—इत्ये’ इत्येतादृशः कोऽपि पाठो भवितुं युक्तः ।

‘दात्यूहः’ कासकण्ठ इत्येके, पुष्करिणीवसतिरित्यन्ये । ‘दृष्टस्यतये’
‘त्रित्पुटः’ मार्जारसदृशो जातिविशेषः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णसंज्ञः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके सप्तदशोऽनुवाकः ॥०॥

शका, भौमी पांचः कशो मान्थीलवस्ते पितृणां-
मृतूनां जहका संवत्सराय लोपा कपोत उलूकः
शशस्ते नैर्ऋताः हकवाकुः सावित्रः ॥ १ ॥

बलप्रिय । पुरुषमृगः । सौरी । पृषतः । शका ।
अष्टादश । अष्टादश ॥ १८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
अष्टादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अथाष्टमं सप्तमाह,—

“शका भौमी पांचः कशो मान्थीलवः ते पितृणाम्, ऋतूनां
जहका, संवत्सराय लोपा कपोतः उलूकः शशः ते नैर्ऋताः हकवाकुः
सावित्रः” इति । ‘शका’ मलिका । ‘भौमी’ भूमिदेवता । पांचादय-
स्तथः ‘पितृणाम्’ । पांचकशौ पञ्चविशेषौ । ‘मान्थीलवः’ जल-
कुक्षुटः । ‘ऋतूनां’ ‘जहका’ बिलवासी कोष्टा । ‘संवत्सराय’ ‘लोपा’
यज्ञज्ञानशकुनिः । कपोतादयस्तथो नैर्ऋताः, ते च प्रसिद्धाः ।
‘हकवाकुः’ कुसरणकुक्षुटः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छण्ययजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके अष्टादशोऽनुवाकः ॥०॥

रुरुरौद्रः छकलासः शकुनिः पिप्पका ते शरव्यायै
हरिणो मारुतो ब्रह्मणे शार्गस्तरजुः छण्यः श्वा चतुरक्षो
गर्दभस्त इतरजनानाम्मये धूङ्क्षणा ॥ १ ॥

रुरुः । वि०श्रुतिः ॥ १८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
अनविंशोऽनुवाकः ॥ * ॥

मवमं संघमाह,—

“रुरुः रौद्रः छकलासः शकुनिः पिप्पका ते शरव्यायै हरिणो
मारुतो ब्रह्मणे शार्गः तरजुः छण्यः श्वा चतुरक्षो गर्दभः ते इतरजना-
नाम् मये धूङ्क्षणा” इति । ‘रुरुः’ मृगविशेषः । छकलासादयस्त्रयः
‘शरव्यायै’ । शरव्या बाणधारिणी देवता । ‘छकलासः’ कामरूपी ।
‘शकुनिः’ काकः । ‘पिप्पका’ पक्षिविशेषः । ‘हरिणः’ प्रसिद्धः ।
‘शार्गः’ आरण्यचटकः । तरज्जादयस्त्रयः ‘इतरजनानाम्’ । ‘तरजुः’
व्याघ्रविशेषो गर्दभाकारः । छण्यवर्णः ‘चतुरक्षः’ ‘श्वा’ अक्षणेः
उपरि बिन्दुद्वयवान् चतुरक्षः । ‘धूङ्क्षणा’ श्वेतकाकी ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छण्ययजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके एकोनविंशोऽनुवाकः ॥०॥

अलज आनुरिष उद्रो महुः स्रवस्तेऽपामदित्यै
हंससाचिरिन्द्रायै कीर्णा गृध्रः श्रितिकक्षी वार्भा-
णसस्ते दिव्या सावापृथिव्या श्रावित् ॥ १ ॥ २० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
विंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

द्वयमं सप्तमाह,—

“अलज आनुरिष उद्रो महुः स्रवः ते अपाम् अदित्यै हंससाचिः
इन्द्रायै कीर्णा गृध्रः श्रितिकक्षी वार्भाणसः ते दिव्याः सावापृथिव्या
श्रावित्” इति । ‘अलजो’ भासः । ‘आनुरिषः’ प्रसिद्धः । उद्रादेव-
लक्ष्यः ‘अपाम्’ । ‘उद्रो’ जलविंडालः । ‘महुः’ जलकाकः । ‘स्रवः’
तद्यैव अवान्तरजातिविशेषः । ‘हंससाचिः’ सर्वश्रेतो हंसः । ‘कीर्णा’
कुशाक्षी प्रकुनिका । गृध्रादयस्तथो ‘दिव्याः’ । ‘गृध्रः’ प्रसिद्धः ।
‘श्रितिकक्षी’ पाण्डुरोदरो गृध्रः । ‘वार्भाणसः’ खड्गमृगः । ‘श्रावित्’
अलक्षी सूचीरोमा ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके विंशोऽनुवाकः ॥०॥

सुपर्णः पार्जन्यो हृत्सो हृको हृषदंशस्त ऐन्द्रा अपा-
मुद्रोऽर्यम्णो लोपाशः सिंहो नकुलो व्याघ्रस्ते महेन्द्राय
कामायं परस्वान् ॥ १ ॥

अथः* सुपर्णः अष्टादश अष्टादश ॥ २१ ॥

अथैकादशं सप्तमाह,—

“सुपर्णः पार्जन्यो वृक्षो वृक्षो वृषदशः ते ऐन्द्राः अपाः
अर्चन्तो लोपाग्रः सिद्धो नकुलो व्याघ्रः ते महेन्द्राय कामाद्य
परस्मान्” इति । ‘सुपर्णः’ प्रसिद्धः । ‘वृषादयस्तयः’ ‘ऐन्द्राः’ । ‘वृक्षः’
अरण्याया । ‘वृषदशो’ मार्जालसदृशः । ‘उद्रे’ जलविहासः । ‘लोपाग्रः’
कोष्ठा । ‘सिंहादयस्तयो’ ‘महेन्द्राय’ । ते च प्रसिद्धाः । ‘परस्मान्’
मद्विषः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके एकविंशोऽनुवाकः ॥०॥

आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेघी बभ्रुः सौम्यः
पौष्णः श्यामः शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः शिल्पो वैश्वदेव
ऐन्द्रोऽरुणो मारुतः कृत्वाय ऐन्द्राग्रः संहितो
धोरामः सावित्रो वारुणः पेतवः ॥ १ ॥

आग्नेयः द्वाविंशतिः ॥ २२ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
द्वाविंशोऽनुवाकः ॥ * ॥

* A पुस्तके विंशानुवाकप्रदेशे “अथः अष्टादश”, एवं एकविंशा-
नुवाकप्रदेशे “सुपर्णः अष्टादश” इति सूत्रं कृतम् पठितम् । इदमेव सत्यम् ।

उक्ताः सर्वे आरण्याः । अथ याम्बास्तवः सहाः । तत्र प्रथमं
सहमाह,—

“आग्नेयः कृष्णयीवः सारस्वती मेवी बभ्रुः सौम्यः पौष्णः ज्ञानः
श्रितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः त्रिण्यो वैश्वदेवः ऐन्द्रोऽरुणः मादतः कल्माषः
ऐन्द्राग्रः, संहितः अधोरामः सावित्रो वादणः पेतः” इति । कृष्णो
वर्णो यीवार्था यस्य हागस्य असौ ‘कृष्णयीवः’ । ‘बभ्रुः’ पिङ्गसवर्णः ।
‘श्रितिपृष्ठः’ श्वेतपृष्ठः । ‘त्रिण्यो’ वज्ररूपः । ‘कल्माषः’ कृष्णविन्दु-
लाञ्छितः । ‘संहितः’ कृष्णः कृष्णप्रवसः । ‘अधोरामः’ श्वेतकृष्णो-
दरः । ‘पेतो’ गलितरेतस्को मेघः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके सावित्रोऽनुवाकः ॥ • ॥

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्या आग्नेयौ कृष्ण-
ग्रौवौ त्वाग्रौ लोमशसव्यौ श्रितिपृष्ठौ बार्हस्पत्यौ धात्रे
पृषोदरः सौर्यो बलक्षः पेतः ॥ १ ॥

अश्वः षोडश ॥ २३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
षोडशविंशोऽनुवाकः ॥ • ॥

अथ द्वितीयं सहमाह,—

“अश्वः तूपरो गोमृगः ते प्राजापत्याः आग्नेयौ कृष्णयीवौ त्वाग्रौ
लोमशसव्यौ श्रितिपृष्ठौ बार्हस्पत्यौ धात्रे पृषोदरः सौर्यो बलक्षः

अथास्य प्रपाठकस्य विनियोगस्तथाह ।

त्रौपातुवाक्ये ये मन्त्रा आवातास्मान् य इवे ।

आग्नेयीचिष्टुभौ हौत्रे विद्यादायुमतीदयम्^(१) ॥

‘पीवोकाम्’ इति विज्ञेयं ‘हिरण्य’^(१)-इति चतुर्थकम् ।

‘प्रजापतिस्त्वा’^(१)-भूस्वर्गे हि ‘अग्ने युष्वा’^(१)-इत्युज्जतिः ॥

‘चित्रं देवा’ इति सौरा^(१) स्याद् ‘यास्ये यावो’ यजुर्वचम् ।

‘चित्तिं जुहोमि’^(१)-इति होमः स्वर्गेत् ‘चित्तिमचित्तिनः’ ॥

मन्त्रा हिरण्येष्टकानां ‘विश्वकर्मा’^(१) इति पञ्च हि ।

प्राजापत्यादिपदतो मन्त्रभेदोऽवगम्यताम् ॥

इष्टकास्त्रयमाह्वया निदध्याद्वा इति चयात् ।

पुनर्दिक्षु चतस्रस्ताः ‘प्राणाय’^(१) इति चतुष्टयात् ॥

पदभेदान्मन्त्रभेदाः ‘त्वा चतु’^(१) (५।५।०)-इत्यनुवच्यते ।

अर्क्षा रूपाणीष्टकाः स्युः ‘अग्न आ याहि’^(१)-पञ्चकात् ॥

‘लोकं पृणा’^(१) इति मन्त्रस्य नाम्नरोऽनुचरो भवेत् ।

‘इन्द्रं विद्या’ ऋगैश्वरी स्यात् ‘यन्मे’ पञ्चोपतिष्ठते ॥

येऽग्नयो^(१) बह्वभिर्मन्त्रैः प्रयास्यन्नुपतिष्ठते ।

सामनामानि^(१) गाथचं बृहत्तद्वचनम् ॥

अतुस्ता-यज्ञायज्ञीयं वारवन्तीचकं तथा ।

क्षैतं प्रजापतेर्ह्येष पृष्ठं खोचार्यसाम हि ॥

पञ्चाकारं चितं वज्रं तैश्चैवपतिष्ठते ।

आत्मेष्टका उपपादध्यात् ‘प्राच्या त्वा’ इत्यादि मन्त्रतः ॥

‘चये’^(१) होमः पञ्चभिः स्याद्ब्राह्मैर्मन्त्रभेदमम् ।

पित्रारोहे अपेदाकृते धो रद्रों निषिपेचदम् ॥
 वसवस्या पञ्चमन्त्रैः प्रोक्षेदाज्येन सन्धिति ।
 समीची(१०) सर्पहोमः स्याद् 'रक्षिता' इत्यनुषज्यते
 हेतयस्तु महाहोमो 'वातनाम' अनुषज्यते ।
 'दमं क्षमं'(१०।७) पूर्णहोम इति मन्त्रा इहेरिताः ॥
 'इन्द्राय राज्ञे', (११)-इत्युक्ता एकादग्निनामकाः ।
 इग्न्याख्यास्य(११-१४) पञ्चवक्त्रे सर्वेऽप्यश्वमेधकाः ॥
 वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं विनाशयन् ।
 पुमर्थाश्चतुरो देवादिद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबुद्ध-
 भूपाससाय्याज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थ-
 प्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके
 सप्तविंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

समाप्तश्च प्रपाठकः ॥

॥ ० ॥ ॐ तत्सत् ॥ ० ॥

॥०॥ श्रीगणेशाय नमः ॥०॥

तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये ।

पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।

हरिः ओम् ॥

हरिश्चर्याः शुचयः पावका यासु जातः कश्यपो
यास्विन्द्रः । अग्निं या गर्भेन्दधिरे विरूपास्ता न आपः
शः स्योना भवन्तु^(१) । यासाः राजा वरुणो याति
मध्ये सत्यान्ते अवपश्यन् जनानाम् । मधुक्षुतः शुचयो
याः पावकास्ता न आपः शः स्योना भवन्तु^(१) ।
यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भस्त्रं या अन्तरिक्षे बहुधा
भवन्ति । याः पृथिवीं पयसोन्दन्ति ॥ १ ॥

शुक्रास्ता न आपः शः स्योना भवन्तु^(१) । शिवेन
मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तनुवोप स्पृशत त्वचं
मे सर्वाः अग्नीः रसुषदो हुवे वो मयि वर्चो वक्ष्ये भोजो
नि धन^(१) । यदुदः सम्ययतीरद्वावनदता हते । तस्माद्वा

वा म॒घो॑ नामं॒ स्य॒ ता वो॑ नामानि॒ सिन्धवः॑^(८) । यत्
प्रेषिता॑ वरुणे॒न ताः॑ शी॒भः॑ स॒मव॑लगत ॥ २ ॥

तदा॑मोदि॒न्द्रो वो॑ यती॒स्तस्मा॑दापो॒ अन॑ स्यन्^(९) ।
धु॒प॒कामः॑ स्यन्द॒माना॑ अवी॒वरत॑ वो॒ हिक॑म् । इन्द्रो॑
ः शक्ति॑मिर्दे॒वीस्तस्मा॑दा॒र्णाम॑ वो॒ हित॑म्^(१०) । ए॒वो
दु॒वो अ॒प्यति॑ष्ठत् स्यन्द॒माना॑ यथा॒वश॑म् । उ॒दानि॑षु-
र्न॒दीरि॑ति॒ तस्मा॑दु॒दक॑मुच्यते^(११) । आपो॑ भ॒द्रा घृ॑तमि-
हा॒प आ॑सुर॒भीषो॑मौ विभ्र॒त्याप् इ॒त्ताः । ती॒व्रो र॑सो
मधु॒पृ॒षां ॥ ३ ॥

अ॒र॒ज॒म आ॑ मा॒ प्रा॒णेन॑ स॒ह व॑र्षसा गन्^(८) । आदि॒त्
प॒ञ्चा॒म्युत॑ वा॒ शृ॒णो॒म्या मा॒ घोषो॑ गच्छति॒ वाङ् न
म॒ । म॒न्ये भे॒जानो॑ अ॒मृत॑स्य॒ तर्हि॑ हि॒र॒ण्यव॑र्णा
अ॒तृप॑य॒दा वः॑^(१०) । आपो॑ हि॒ ष्टा म॑यो॒भुव॑स्ता न
ऊ॒र्जे द॑धातन । म॒हे र॑णाय॒ चक्ष॑से^(११) । यो वः॑ शि॒वत॑मो
र॒स॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑ । उ॒श॒तो॒रि॒व मा॑तरः^(१२) । तस्मा॑
अ॒र॒ज॒माम॑ वो॒ यस्य॑ क्षयाय॒ जिन्व॑य । आपो॑ ज॒नय॑या
च नः॑^(१३) । दि॒वि अ॒य॒स्वान्तरि॑क्षे॒ यत॑स्व॒ पृथि॑व्या स॒म्व-
ब्र॒ह्मव॑र्षसम॒सि ब्र॒ह्मव॑र्षसाय॒ त्वा^(१४) ॥ ४ ॥

उ॒न्दन्ति॑ । स॒मव॑लगत । मधु॒पृ॒षां । मा॑तरः । द्वावि॒श-

अ॒ति॒थिः ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
प्रथमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

हरिः ओम् ।

यस्य निश्चितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिषं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

उक्ता वायव्यपञ्चाद्याः पञ्चमे हि प्रपाठके ।

कुम्भेष्टकामन्त्रणादीन् षष्ठे मन्त्रानुदीरयेत् ॥

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘हिरण्यवर्णाः इति उपदिता अभिमन्त्रयन्ते’
इति ।

तत्र कुम्भेष्टकाभिमन्त्रणार्थानां त्रयोदशानाम् ऋचां मध्ये प्रथमा-
भाष्य,—“हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः यासु जातः कश्यपो
यासु इन्द्रः । अग्निं याः गर्भं दधिरे विरूपाः ताः नः आपः ब्रह्म
द्योनाः भवन्तु^(१)” इति । आपः तार्वाचर्मलक्ष्णेन भास्वरत्नात्
हिरण्यवद्वर्णोपेताः । तथा ‘शुचयः’ स्वयं शुद्धाः । ‘पावकाः’
क्षानादिना शरीरादिशुद्धिहेतवश्च । ‘यासु’ अस्तु कश्यपाब्जः
प्रजापतिरुत्पन्नः । ‘यासु’ अस्तु ‘इन्द्रः’ अपि उत्पन्नः । ‘अग्निं’ च
‘याः’ आपो गर्भत्वेन ‘दधिरे’ । तदेतत्तथं ब्राह्मणरगतेभ्योऽर्थवादेभ्यो
द्रष्टव्यम् । अत्रापि ‘अग्ने गर्भो अपामसि’ (४ । १ । १) इति षतुर्थकाण्डे

अन्त्याक्षरमाद्यातम् । ईदृशो वा 'आपः', 'ताः' 'स्थोनाः' सुखकारिणः ।
अन्तोऽद्यान् 'न' 'भवन्तु' सुखं प्रापयन्तु ।

अथ द्वितीयाभाह,—“यासां राजा बह्व्यो याति मध्ये
वज्रानृते अवपश्यन् जनानाम् । मधुसुतः शुचयो वाः पावकाश्च नः
आपः नः स्थोनाः भवन्तु^(१)” इति । बह्व्याख्यो 'राजा' अपाम्
अधिपतिः 'यासाम्' अपां 'मध्ये' 'याति' गूढः मस्ररति । किं
कुर्वन् ? 'जनानां' 'वज्रानृते' 'अवपश्यन्' खानपानादौ यत् वज्र-
आस्त्रमाचरति तत्सर्वम् अवपश्यन् । 'ताः' च 'आपः' मधुररसं सोतानि
धारयन्ति इति 'मधुसुतः' । 'शुचयः' इत्यादि पूर्ववत् ।

अथ तृतीयाभाह,—“यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भञ्चं या
अन्तरिक्षे वज्रधा भवन्ति । याः पृथिवीं पयसा उन्दन्ति ब्रह्माः ताः
नः आपः नः स्थोनाः भवन्तु^(१)” इति । 'दिवि' युक्तोक्ते 'देवाः'
'यासाम्' अपां सम्मन्त्रि सारं 'भञ्चं' 'कृण्वन्ति' स्वभोग्यं कुर्वन्ति ।
पीयूषं हि देवैः सेव्यते, तच्च अपां सारभूतम् । 'याः' च आपः
'अन्तरिक्षे' वृष्टिधारारूपेण वज्रप्रकारा 'भवन्ति' । 'याः' च आपः
'पृथिवीं' सर्वा 'पयसा' स्वकीयेन द्रवेण 'उन्दन्ति' कोदयन्ति ।
'ब्रह्माः' निर्मलाः । 'ता नः आपः' इत्यादि पूर्ववत् ।

अथ चतुर्थीभाह,—“त्रिवेण मा चक्षुषा पश्यत आपः त्रिवया
तनुवा उप सृजत त्वचं मे । सर्वाश्च अग्नीश्च असुवदो जवे वः मर्चि
वर्षा वसम् ओजो नि धत्त^(४)” इति । हे 'आपः', यूयं 'त्रिवेण'
'चक्षुषा' ब्रान्तया दृष्ट्या 'मा' 'पश्यत' माम् अवलोकयत । तद्या
'त्रिवया तनुवा' ब्रान्तेन तदीयेन त्ररीरेण 'मे' 'त्वचं' 'उप सृजत' ।

अहमपि 'असुपदः' जलोषु स्थितान् 'सर्वाङ्' अपि अग्नीन् 'उवे' जुहोति;
होमेन तर्पयामि । 'वः' युष्मदीयं यत् 'वर्चः' कान्तिः, यच्च 'वर्चः'
यदपि 'ओजः' बलहेतुरष्टमो धातुः, तत्सर्वं 'मयि' 'नि धत्त' स्थापयतः ।

अथ षष्ठीमाह,—“यत् अदः सम्प्रथतीः अहौ अमदतः
इते । तस्मात् आ नद्यो नाम स्थ ता वो नामानि, सिन्धवः^(१)”
इति । 'यत्' यस्मात्कारणात् 'अदः' युल्लोकस्थानात् 'सम्प्रथतीः'
सम्यक् प्रकर्षेण गच्छन्त्यो हे आपः, यूयं, अहिशब्दो मेघनामधेयः,
यस्मिन् 'इते' युष्माभिस्ताडिते सति 'अमदत' नादं कृतवत्यः ।
प्रवाहगतपाषाणेष्विव मेघेषु जलाघातेन शब्दो जायते । यस्मात्नादं
कृतवत्यः, 'तस्मात्' 'आ' समन्तात् सर्वेष्वपि स्थानेषु 'नद्यो नाम स्थ'
नदीति नामधेयं प्राप्ताः । हे 'सिन्धवः' स्यन्दनग्रीवाः आपः, 'वः'
युष्माकं 'ताः' तानि 'नामानि' तादृशानि निर्वचनसाध्यानि
नामानि विद्यन्ते ।

अथ षष्ठीमाह,—“यत् प्रेषिताः वरुणेन ताः ग्रीभः समवव्रतात् ।
तद् आप्रोत् इन्द्रो वः यतीः तस्मात् आपो अनु स्थन^(२)” इति । हे
आपः, 'यत्' यस्मात्कारणात् 'वरुणेन' 'प्रेषिताः' 'ताः' यूयं 'ग्रीभं
समवव्रत' ब्रुभं यथा भवति तथा सम्यक् वल्लगावत् नृत्तं हर्षेण
कृतवत्यः । 'तत्' तदानीं 'यतीः' प्रसरन्तीः 'वः' युष्मान् 'इन्द्रः' उद्युक्तः
सन् ब्रुम 'आप्रोत्' । 'तस्मात्' कारणात् आप्यन्ते इति व्युत्पत्त्या
'आपः' इति नामधेयं प्राप्य 'अनु स्थन' सर्वेषामनुकूलाः स्यताः* ।

* इदमेव सर्वत्र पाठः । 'स्यत' अथवा 'तिष्ठत' इति पाठो न विद्यते
युक्तः ।

अथ वसमीमाह,—“अपकामं खन्दमाणाः अवीवरत वो हिकम् ।
अने वः शक्तिभिर्देवीः तस्मादार्-णाम वो हितम्^(७)”—इति ।
देवीः’ हे आपो देव्यः, ‘अपकामं खन्दमाणाः’ प्रयोजनविघ्नेष्वमनपेक्ष
कथावत् एव प्रवहन्तीः ‘वः’ युष्मान् ‘इन्द्रः’ परितोषात् ‘अवीवरत’
वृत्तवान् । खन्दनेऽपि युष्माकं न साधनान्तरापेक्षा किन्तु ‘वः शक्तिभिः’
युष्मादीयशक्तिवशादेव खन्दनम् । ‘हिकम्’ इत्यव्ययं प्रसिद्धिवाचकम्,
उदकस्य स्रवत्तयैव खन्दनं सर्वलोकप्रसिद्धमित्यर्थः । यस्मादिन्ध्रेष
कृताः ‘तस्मात्’ युष्माकं ‘वार’ इत्येतत् ‘नाम’ ‘हितं’ सम्यक् ।

अथाष्टमीमाह,—“एको देवो अथतिष्ठत् खन्दमाणा यथावन्नम् ।
उदानिपुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते^(८)”—इति । ‘यथावन्नं’ स्वेच्छयैव
‘खन्दमाणाः’ अपिः ‘एको देवः’ इन्द्रः ‘अपि’-‘अतिष्ठत्’ अथतिष्ठत्
स्वाधीनाः कृतवान् । इन्ध्रेणाधिष्ठितास्ता आपः ‘महीः’ महत्यः प्रभूताः
वत्यः ‘उदानिपुः’ उत्कर्षेण चेष्टितवत्यः । ‘तस्मात्’ ‘उदकम्’ इति
नाम ‘उच्यते’ ।

अथ नवमीमाह,—“आपो भद्राः एतम् इत् आपः आसुः
अग्नीषोमौ बिभ्रति आपः इत् ताः । तीम्रो रसो मधुपृष्ठाम् अरज्जम
आ मा प्राणेन सह वर्चसा गन्^(९)” इति । एताः ‘आपः’ ‘भद्राः’
कक्षाणरूपाः । ‘आपः’ ‘इत्’ आप एव ‘एतम्’ ‘आसुः’ गोमरीर-
द्वारा एतद्रूपेण परिणताः । ‘ताः’ ‘आपः इत्’ तादृशः आपः
एव ‘अग्नीषोमौ’ देवौ ‘बिभ्रति’ धारयन्ति । “अग्निं या गर्भम्”
इत्यग्निधारणं पूर्वमेवोक्तम् (५।६।१।१) । सोमधारणमपि अन्धत-
कारणद्वारा द्रष्टव्यम् । ‘मधुपृष्ठा’ माधुर्ययुक्तानाम् अपां ‘रसः’

सारांशः 'तीव्रः' अत्यन्तस्वादुः । 'अमृतमः' अलं संपूर्णं यथा भवति
तथा गच्छति प्राप्नोति सर्वजनपुष्टिकारीत्यर्थः । तादृशो रसः 'प्राप्तेन'
आसवाद्युना 'वर्चसा' बलेन 'सह' 'मा' मां प्रति 'आ'-'कम्'
आगच्छतु । यावत् अपां रसः अन्नादिरूपेण प्ररीरे तिष्ठति । तादृशं
प्राप्तो न अतिगच्छति । बलस्य न विगच्छति ।

अथ दशमीमाह,—“आत् इत् पश्यामि उत वा शृणोमि आ
मा घोषो गच्छति वाक् नः आसाम् । मन्ये भेजानो अमृतस्य
तर्हि हिरण्यवर्णाः अदपं यदा वः^(१०)” इति । ‘आत् इत्’ अमन्तरनेत्र
‘पश्यामि’; अपां रसे मच्छरीरमागते सति तदानीमेव चक्षुषा द्रष्टुं
शक्नोऽस्मि । ‘उत वा शृणोमि’ अपि च श्रोतुमपि शक्नोऽस्मि ।
‘आसाम्’ अपां ‘घोषः’ नादः ‘आ’-‘गच्छति’ मच्छरीरे वर्तते ।
स एव घोषः ‘नः’ अस्माकं ‘वाक्’ । हे ‘हिरण्यवर्णाः’ तेजस्विन्यः
आपः, यदा ‘वः’ युष्माकं सेवया ‘अदपम्’ अहं दप्नोऽभवम् । ‘तर्हि’
तस्मिन् काले ‘अमृतस्य’ ‘भेजानः’ ‘मन्ये’ पीयूषं सेवितवानस्मीति
तर्कये ।

अथैकादशीमाह,—“आपो हि ह्य मयोभुवः ता नः ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे^(११)” इति । ‘हि’-शब्दः एवकारार्थः प्रसिद्धार्थो
वा । ‘आपः’ यूयमेव ‘मयोभुवः’ ‘स्य’ सुखयिष्यो भवत, ज्ञानपानादि-
हेतुत्वेन सुखोत्पादकत्वं प्रसिद्धम् । ‘ताः’ तादृशो यूयं ‘नः’ अस्मान्
‘ऊर्जे’ रसाय भवदीयरसानुभवार्थं ‘दधातन’ स्थापयत । किं च
‘महे’ महते ‘रणाय’ रमणीयाय ‘चक्षसे’ दर्शनाय ‘दधातन’ अस्मान्
धरतत्पथात्कारणयोगान् कुर्वत इत्यर्थः ।

अथ द्वादशीमाह,—“वो वः श्रिवतमो रवः तस्य भजयन्त इव नः
उग्रतीः इव मातरः^(१२)” इति । ‘वः’ युष्माकं ‘श्रिवतमः’ ज्ञानात्मनः
सुखीकहेतुः ‘यः’ ‘रवः’ अस्ति, ‘इव’ अस्मिन् कर्मणि ‘नः’ अस्मान्
‘तस्य भजयन्त’ तं रवं प्रापयन्त । तच्च दृष्टान्तः,—‘उग्रतीः इव
मातरः’ कल्पयमानाः प्रीतियुक्ताः मातरो यथा स्तनपानं स्वैरपि
प्रापयन्ति तद्वत् ।

अथ त्रयोदशीमाह,—“तस्मै अरक्तमाम वो यस्य जन्मथ
जिन्मथ । आपो जनयथा च नः^(१३)” इति । ‘यस्य’ रसस्य ‘जन्मथ’
जन्मेषु निवासेन ‘जिन्मथ’ यूयं प्रीता भवथ, ‘तस्मै’ रसाय ‘वः’
युष्मान् ‘अरं’ ‘नमाम’ अलं भक्षणं प्राप्नुम । किञ्च हे ‘आपः’, यूयं
‘नः’ अस्मान् ‘जनयथ’ प्रजोत्पादकान् कुरुत ।

कल्पः,—‘दिवि अयस्य’ इति वार्हस्पत्यं नैवारं पयसि स्रष्टुं
मध्ये कुम्भेषुकानामुपदधाति—इति । पाठस्तु,—“दिवि अयस्य
अन्तरिक्षे यतस्य पृथिव्या सम् भव ब्रह्मवर्षमसि ब्रह्मवर्षमाय त्वा^(१४)”
इति । हे नैवार-चरो, ‘दिवि अयस्य’ सुलोके आश्रितो भव ।
‘अन्तरिक्षे’ अपि ‘यतस्य’ प्रयत्नवान् भव । ‘पृथिव्या सम् भव’ संयुक्तो
भव । ‘ब्रह्मवर्षसम् असि’ तत्साधनत्वात् तद्रूपमसि* । अतो
‘ब्रह्मवर्षमाय’ त्वाम् अथ उपदधामि ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कल्पयन्तुः-
मंथिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥२५॥

* इवमेव सर्वत्र पाठः । ‘तद्रूपोऽसि’ इति पाठो नष्टः ।

अपां ग्रहान् गृह्णात्येतद्वाव राजसूयं यद्वेते ग्रहाः
 सुवोऽग्निर्वरुणसुवो राजसूयमग्निस्वश्वित्यस्ताभ्यामेव
 सूयतेऽयो उभावेव लोकावभि जयति यश्च राजसूये-
 नेजानस्य यश्चाग्निचितः^(१) आपो भवन्त्यापो वा अग्ने-
 र्भातव्या यदपोऽग्नेरधस्तादुपदधाति भातव्याभिमूत्यै
 भवत्यात्मना परास्य भातव्यो भवत्यमृतम् ॥ १ ॥

वा आपस्तस्माद्द्विरवतान्तमभि धिञ्चन्ति^(२) नार्ति-
 माच्छति सर्वमायुरेति यस्यैता उपधीयन्ते य उ चैना
 एवं वेद^(३) अन्नं वा आपः पशव आपोऽन्नं पशवो-
 ऽन्नादः पशुमान् भवति यस्यैता उपधीयन्ते य उ
 चैना एवं वेद^(४) द्वादश भवन्ति द्वादश मासाः संवत्सरः
 संवत्सरेणैवास्मै ॥ २ ॥

अन्नमव रुन्धे^(५) पाचाणि भवन्ति पाचे वा अन्नमद्यते
 सयोन्येवान्नमव रुन्ध आ द्वादशात् पुरुषादन्नमत्त्यथो
 पाचान्न ष्छिद्यते यस्यैता उपधीयन्ते य उ चैना एवं
 वेद^(६) कुम्भाश्च कुम्भीश्च मिथुनानि भवन्ति मिथुनस्य
 प्रजात्यै प्र प्रजया पशुभिर्मिथुनैर्जायते यस्यैता उप-
 धीयन्ते य उ ॥ ३ ॥

देवा इव वेद^(९) शुक्ला अग्निः सोऽध्वर्युं यजमानं
 शुक्लाः शुचार्पयति यदप उपदधाति शुचमेवास्य शम-
 नति नार्तिमार्त्तध्वर्युर्न यजमानः शाम्यन्ति प्रजा
 मचेता उपधीयन्ते^(१०) ऽपां वा एतानि हृदयानि यदेता
 आपो यदेता अप उपदधाति दिव्याभिरैवैनाः सः
 सृजति वर्धकः पुर्जन्यः ॥ ४ ॥

भवति^(९) यो वा एतासामायतनं कृत्तिं वेदायतन-
 वान् भवति कल्पतेऽस्मा अनुसीतमुप दधात्येतद्वा
 आसामायतनमेषा कृत्तिः^(१०) य एवं वेदायतनवान्
 भवति कल्पतेऽस्मै^(११) इन्द्रमन्या उपदधाति चतस्रो
 मध्ये धृत्या^(१२) अन्नं वा इष्टका एतत् खलु वै साक्षा-
 दन्नं यदेष चरुयदेनं चरुमुपदधाति साक्षात् ॥ ५ ॥

एवास्मा अन्नमव हन्वे^(१३) मध्यत उप दधाति
 मध्यत एवास्मा अन्नं दधाति तस्मान्मध्यतोऽन्नमद्यते^(१४)
 नार्हस्यत्यो भवति ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिर्ब्रह्मणे-
 वास्मा अन्नमव हन्वे ब्रह्मवर्चसमसि ब्रह्मवर्चसाय
 त्वेत्याह तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति यस्यैव उपधीयते,
 य उ चैनमेवं वेद^(१५) ॥ ६ ॥

अन्नतम् । अस्मै । जायते यस्येता उपधीयन्ते य उ ।
 पुर्जन्यः । उपदधाति साक्षात् । सप्तचत्वारिंशच्च ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

कुम्भेष्टकमन्त्रणार्था मन्त्राः प्रथम ईरिताः ।

अथ द्वितीये तदिष्टकोपधानं विधत्ते ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘कुम्भं कुम्भीं चाङ्गिः पूरयित्वा गर्भं च स्त्र
वर्गं च स्त्र देवः स्य वः सवितुः प्रमवे मधुमतीः सादयामीति
पुरस्तादनुसीतमुपधाय ज्योतिषे वामिति हिरण्यशक्तौ प्रत्यस्येत्येव-
मुत्तरा उत्तरैर्मन्त्रैः प्रतिदिशमनुसीतं चतस्रो मध्ये’ इति ।

तदिदमुपधानं विधत्ते,—“अपां ग्रहान् गृह्णाति एतद्वाव
राजसूयं यदेते ग्रहाः सवः अग्निः वरुणसवो राजसूयम् अग्निसवः
चित्यः ताभ्यामेव सूयते अथो उभौ एव लोकौ अभि जयति यश्च
राजसूयेन ईजानस्य यस्य अग्निचितः^(१)”—इति । गृह्णन्ते आपः एषु
इति ग्रहाः जलाधाराः कुम्भाः कुम्भश्च । ते च अङ्गिः पूरितत्वात्
‘अपां’ ग्रहाः । तान् कुम्भकुम्भीरूपान् ‘गृह्णाति’ । ग्रहणेनोपधानमुप-
लक्ष्यते, ‘यस्यैता उपधीयन्ते’ इत्युपसंहारात् । राजसूये ग्रहसङ्गावात्
तत्साम्यमापादयितुम् इह ग्रहि-धातुना व्यवहारः । ये ‘एते’
‘कुम्भकुम्भीरूपाः’ अपां ‘ग्रहाः’, ‘एतत्’ एव राजसूयस्वरूपं, फलेन
तत्सदृशत्वात् । योऽयं चीयमानः ‘अग्निः’, सोऽयं ‘सवः’,—सूयते
अभिषिष्यते यजमानः अत्र इत्यभिषेकयुक्तो यज्ञः सवः, तत्सदृशोऽयम्
अग्निः । यदेतत् राजसूयाख्यं कर्म, सोऽयं ‘वरुणसवः’ । वरुणो हि
कदाचित् राजसूयं कृत्वा तत्राभिषिक्तः । यस्तु ‘चित्यः’, सोऽयम् *

‘अग्निवः’ । अग्निरपि अग्नौ अभिषेको विद्यते । अतः कुक्षीष्टयोः पधाने सति ‘ताभ्यां’ वरुणसवाग्निसवाभ्याम् उभाभ्यां ‘सृचते’ अर्थं लज्जमानः अनुष्ठितवान् भवति । अपि च ‘राजसूयेन’ दृष्टवतो ‘यः’ लोकः, ‘अग्निचितः’ ‘च’ ‘यः’ लोकः, तौ ‘उभौ’ ‘लोकौ’ एतद्विष्ट-कोपधानेन ‘अभि’-‘जयति’ ‘एव’ ।

कुक्षेषु कुक्षीषु च जले स्थापनं विधत्ते,—“आपो भवन्ति आपो वै अग्नेर्भाहव्याः यद् अपः अग्नेः अधस्तात् उपदधाति भाहव्याभिभृत्यै भवति आत्मना परा अस्य भाहव्यो भवति अमृतं वै आपः तस्मात् अङ्गिः अवतान्तम् अभि पिबन्ति^(९)” इति । जलेन अग्निशान्तेः अपाम् अग्निशत्रुत्वम् । अतस्वीयमानस्य ‘अग्नेः’ ‘अधस्तात्’ भूमौ कुक्षकुक्षीगतानाम् अपाम् उपधाने सति भाहव्याभिभृति-र्भवति । उपधाता स्वयम् ऐश्वर्यवान् ‘भवति’ । ‘भाहव्यः’ ‘परा’-‘भवति’ । किञ्च एताः ‘आपः’ ‘अमृतम्’ एव, अत्र तस्योदकजन्यत्वात् । यस्मात् अमृतं, ‘तस्मात्’ ‘अवतान्तम्’ अत्यन्तान्तानिमापन्नं मूर्च्छितं मूर्च्छानिवारणाय शीतलाभिः ‘अङ्गिः’ ‘अभि’-‘पिबति’ ।

एतदुपधानं तद्देदनञ्च प्रशंसति,—“न आर्तिम् आर्च्छति सर्वम् आयुः एति यस्य गृताः उपधीयन्ते यः उ च एनाः एवं वेद^(१०)” इति ।

‘प्रकारान्तरेण अपः प्रशंसति,—“अन्नं वै आपः पशवः आपः अन्नं पशवः अस्त्रादः पशुमान् भवति यस्यैता उपधीयन्ते यः उ च एनाः एवं वेद^(११)” इति । अन्नस्य उदकजन्यत्वात्, पशूनां च उदकपियोद्यत्वात्

* एवमेव सर्वत्र पाठः । ‘जलस्थापनं’ ‘जलोपधानं’ इति वा पाठो भविष्युं युक्तः ।

अद्-रूपत्वञ्च । श्रीराक्षसहेतुत्वात् पशूनामपि अन्नमम् । अतः अपाम् उपधाता वेदिता च अन्नवान् ‘पशूमान्’ च ‘भवति’ ।

अन्नपाचाणां संख्यां विधत्ते,—“दादन्न भवन्ति दादन्न मावाः संवत्सरः संवत्सरेणैव अन्नं अन्नम् अत्र दन्ने^(५)” इति ।

उपधेयानाम् अपाम् आधारान् विधत्ते,—“पाचाणि भवन्ति पाचे वै अन्नम् अद्यते यद्योनि एव अन्नम् अत्र दन्ने आ दादन्नात् पुद्ब्यात् अन्नम् अस्ति अथो पाचात् न ष्विद्यते यद्येता उपधीयन्ते यः उ च एनाः एवं वेद^(६)” इति । ‘पाचाणि’ कुम्भकुम्भीरूपाणि । ‘पाचे’ कांक्षादिमये, जनैः ‘अन्नं’ भक्ष्यते पच्यते च । अतः पाचस्य अन्नयोगित्वात् तत्सहितमेव ‘अन्नं’ प्राप्नोति । किञ्च उपधाता वेदिता च पाचसंख्याया स्थात्मपुत्रपौत्रादेर्दादन्नपुद्ब-पर्यन्तात् अन्नसम्बद्धो भवति । अपि च ‘पाचात्’ गृहोपकरणसङ्घातात् कदाचिदपि ‘न’ विष्किद्यते ।

पाचाणां परिमाणविशेषं विधत्ते,—“कुम्भाश्च कुम्भीश्च मिथुनानि भवन्ति मिथुनस्य प्रजात्यै प्र प्रजया पशूभिः मिथुनैर्जायते यद्येता उपधीयन्ते य उ च एना एवं वेद^(७)” इति । ‘कुम्भाः’ पुद्बसदृशाः प्रौढा घटाः । ‘कुम्भः’ योषित्समाना अरूपाः । अतो मिथुनसम्पत्त्या प्रजोत्पादनाय ‘भवन्ति’ । उपधातवेदितारौ मिथुन-रूपाः प्रजाः उत्पादयतः ।

प्रकारान्तरेण तदुपधानं प्रशंसति,—“शुक् वै अग्निः सः अन्धर्युं यजमानं प्रजाः शुष्वा अर्पयति यत् अपः उपदधाति शुचमेव अन्नं जमयति न आतिम् आर्चति अन्धर्युर्न यजमानः ब्राह्मन्नि प्रजाः यच

एताः उपधीयन्ते^(८)” इति । अयम् ‘अग्निः’ ‘शुक् वै’ सन्नाप-
हेतुरेव । अतः ‘अः’ अग्निः अध्वर्युप्रधतीन् सन्नापेन योजयति ।
सन्नापपदानेन अग्नेः सन्नापहेतुत्वं ‘ब्रमयति’ । अस्मिन् कर्मणि
‘एताः’ इष्टकाः ‘उपधीयन्ते’, ‘न’ तच्च ‘अध्वर्युः’ ‘चिद्यते’ नापि
‘अजमानः’ । ‘प्रजाः’ च सर्वबाधोपशमयुक्ताः भवन्ति ।

युगः प्रकारान्तरेण प्रशंसति,—“अपां वै एतानि हृदयानि यदेता
आपः यदेता अपः उपदधाति दिव्याभिः एव एताः सः सृजति वर्षुकः
पर्जन्यो भवति^(९)” इति । ‘एताः’ पाचगताः याः ‘आपः’, ‘एतानि’
देवतानां हृदयस्थानानि । अत एव आसाम् उपधानेष्टकारूपोपेताः
‘अपः’ ‘दिव्याभिः’ अग्निः संयोजयति । ततः ‘पर्जन्यः’ वर्षणशीलो
‘भवति’ ।

अथ उपधानस्थानं विधत्ते,—“यो वै एतासाम् आयतनं ऋषिं
वेद आयतनवान् भवति कल्पते अस्मै अनुसीतम् उपदधाति एतत्
आसाम् आयतनम् एषा ऋषिः^(१०)” इति । आयतनं स्थानम् । ऋषिः
सामर्थ्यम् । तदुभयं यो ‘वेद’, स प्रौढगृहाष्टायतनवान् ‘भवति’ ।
एतदर्थं च सर्वभोग्यजातं समृद्धं भवति । अतः अभिन्नः ‘अनुसीतम्’
उपदध्यात्, एकैकस्यां दिशि याः साङ्गसन्ततयः ताः अनुसृत्य
उपदध्यात् । एतत्सीतासमीपमेव एतासां कुम्भेष्टकाणां स्थानम्,
तत्रावस्थितिरेव एतासां सामर्थ्यमुक्तम् ।

वेदनफलमुपसंहरति,—“यः एवं वेद आयतनवान् भवति कल्पते
अस्मै^(११)” इति ।

उपधाने प्रकारविशेषं विधत्ते,—“इदमग्न्याः उपदधाति यतस्तो

मध्ये धृत्यै^(११)” इति । पूर्वदिग्वर्तिनीषु तिसृषु सीतास कुम्भं कुम्भीं चेति द्वन्द्वम् । एवं दिगन्तरेष्वपि । तदिदमुच्यते,—“द्वन्द्वम् अन्याः” इति । द्वादशानां मध्ये दिक्चतुष्टये अष्टौ गताः, अवशिष्टाः ‘चतस्रः’ ‘मध्ये’ स्थापयेत् । तच्च ‘धृत्यै’ दार्ढ्याय भवति ।

अथ “दिवि अयस्त्र” (५।६।१।४) इति मन्त्रसाध्यां चरूपधानं विधत्ते,—“अन्नं वै इष्टका एतत् खलु वै साक्षात् अन्नं यत् एषः चरुः यत् एतं चरुम् उपदधाति साक्षादेव अस्मै अन्नम् अत्र हन्धे^(१२)” इति । ‘इष्टका’ अन्नहेतुत्वात् ‘अन्नम्’ । ‘चरुः’ ‘साक्षात्’ एव ‘अन्नम्’ । अतः चरूपधानेन व्यवधानं विनैव मुख्यम् ‘अन्नं’ प्राप्नोति ।

उपधानस्यानं विधत्ते,—“मध्यतः उप दधाति मध्यतः एव अस्मै अन्नं दधाति तस्मात् मध्यतः अन्नम् अद्यते^(१३)” इति । इष्टकानां मध्ये चरुस्थापनं यत् यजमानस्य मध्ये उदरे ‘अन्नं’ स्थापितं भवति । मध्यमे वयसि भूयिष्ठम् ‘अन्नम्’ ‘अद्यते’ ।

चरोर्देवतां विधत्ते,—“बार्हस्पत्यो भवति ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः ब्रह्मणा एव अस्मै अन्नम् अत्र हन्धे^(१४)” इति । ‘ब्रह्मणा एव’ ब्राह्मणवृत्त्या एव, याजनादिना न तु सेवादिना इत्यर्थः ।

मन्त्रे ब्रह्मवर्चमशब्दद्वयस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“ब्रह्मवर्चसमसि ब्रह्मवर्चसाय त्वा इति आह तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति यस्मै च उपधीयते यः उ च एनम् एवं वेद^(१५)” इति । तेजः कान्तिः । ब्रह्मवर्चसम् अध्ययनादिमन्यन्ति ।

अथ मीमांसा ।

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे (७४०) चिन्तितम् ।

चरुर्भवति नैवारः उपधत्ते चरुमिति ।

यागः स्यादुपधानं वा ? यागः श्रेष्ठोक्तदेवतः ॥

यागस्थानिश्चये श्रेष्ठो नापेक्ष्योऽतो यजिः कृतः ।

किं त्वुपधानमाचक्ष्वं यावदुक्तं चरोः स्थितम् ॥

अग्नौ श्रूयते,—“नैवारचरुर्भवति” “चरुमुपदधाति” इति च । तच्च नैवारचरुद्रव्यको यागो विधीयते । न चात्र देवताया अभावः । “हृदस्यतेर्वा एतदन्नं यज्ञोवाराः” इति वाक्यशेषेण देवतामिद्वेः । उपधानं तु यागोपयुक्तस्य प्रतिपत्तिः स्मिष्टकृतिवदिति प्राप्ते ब्रूमः,— यागविधौ निश्चिते सति पश्चाद्देवतायामपेक्षितायां वाक्यशेषवत्त्वात् देवताकृत्तिः ; इह तु देवताकल्पनेन यागविधिवनिश्चयः इत्यन्यो-
न्याश्रयः । तस्मादिहोपधानमात्रं विधीयते ॥

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके द्वितीयोऽनुवाकः ॥०॥

भूतेष्टका उप दधात्यच्चाच्च वै मृत्युर्जायते यच्च यच्चैव
मृत्युर्जायते - तत् एवैनमव यजते तस्मादग्निचित्
सर्वमायुरेति सर्वे ह्यस्य मृत्यवो वेष्टास्तस्मादग्निचि-
त्त्वाभिचरितवै प्रत्यगेनमभिचारः स्तृणते^(१) सूयते वा
एष योऽग्निच्चिनुते देवसुवामेतानि ह्रवीऽपि भव-
न्येतावन्तो वै देवानां स्वास्त एव ॥ १ ॥

अस्म सवान् प्र यच्छन्ति त एनं सुवन्ते^(१) सुवोऽग्नि-
 र्वैरसुवो राजसूयं ब्रह्मसवश्चित्यो^(२) देवस्य त्वा सवितु
 प्रसव इत्याह सवितुप्रसूत एवैनं ब्रह्मणा देवताभिरभि
 पिच्यत्य^(३) - अस्यान्नस्याभि पिच्यत्यन्नस्यान्नस्यावदधौ^(४)
 पुरस्तात् प्रत्यञ्चमभि पिच्यति पुरस्ताद्भि प्रतीचीनुमन्-
 मयते शीर्षतोऽभि पिच्यति शीर्षतो ह्यन्नमयत्^(५) - आ
 मुखादन्ववसावयति ॥ २ ॥

मुखत एवास्मा अन्नाद्यं दधात्य^(६) - ग्रस्त्वा साम्राज्ये-
 नाभि पिच्यामीत्याहैष वा अग्नेः सवस्तेनैवैनमभि
 पिच्यति बृहस्पतेस्त्वा साम्राज्येनाभि पिच्यामीत्याह
 ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनमभि पिच्यतीन्द्रस्य
 त्वा साम्राज्येनाभि पिच्यामीत्याहेन्द्रियमेवास्मिन्नुप-
 रिष्टादधात्ये^(७) - तत् ॥ ३ ॥

वै राजसूयस्य रूपं य एवं विद्वानग्निं चिनुत उभा-
 वेव लोकावभि जयति यश्च राजसूयेनेजानस्य यश्चाग्नि-
 चित^(८) - इन्द्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्यं पराऽपतु-
 तद्देवाः सौषामण्या समभरन्सूयते वा एष योऽग्निं
 चिनुतेऽग्निं चित्वा सौषामण्या यजेतेन्द्रियमेव वीर्यं
 सन्भृत्यात्मन्भते^(९) ॥ ४ ॥

त एव । अन्ववसावयति । एतत् । अष्टाध्यायिः-
॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
तृतीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

कुभेष्टकास्रद्वेति द्वितीये दद्यमीरितम् ।

अथ द्वितीये भूतेष्टकादिकमुच्यते* । यदक्तं सूत्रकारेण,—
‘प्रसवाय त्वा उपयामाय त्वा काटाय त्वा अर्णवाय त्वा धर्षसाय त्वा
द्रविणाय त्वा सिन्धवे त्वा समुद्राय त्वा सरस्वते त्वा विश्वयसवे त्वा
सुभृताय त्वा अन्तरिक्षाय त्वेति द्वादश भूतेष्टकाः’ इति । एते
मन्त्राः शाखान्तरगताः ।

तस्याध्यमुपधानं विधत्ते,—“भूतेष्टका उप दधाति अचाच वै मृत्यु-
र्जायते यत्रयत्रैव मृत्युर्जायते तत एव एनम् अव यजते तस्मात् अग्नि-
चित् सर्वम् आयुः एति सर्वे हि अस्म्य मृत्यवः अवेष्टाः तस्माद् अग्नि-
चित् न अभिचरितवै प्रत्यक् एनम् अभिचारः कृणुते(१)” इति ।
‘देश-काल-निमित्तविशेषान् अपेक्ष्य ‘अचाच’ इति वीक्षा । सर्व-
व्याघ्रचोराकुलाः देशाः मृत्युहेतवः । मन्ध्यामध्यानादिः चक्षु-
राक्षसादिप्रयुक्तमृत्युकालः । दुराहारभोजनादीनि मृत्युनिमित्तानि ।
भूतेष्टकोपधानेन ‘तत एव’ देशप्रयुक्तात् कालप्रयुक्तात् निमित्त-

* “भूतेष्टकादिकं सर्वमुच्यते” इति का० ब्री० ४० पाठः ।

प्रयुक्ताश्च सर्वस्मादपि मृत्योः 'एनं' यजमानम् अवगयति । 'तस्मात्' अयम् 'अग्निचित्' स्वस्य प्राप्तम् 'आयुः' 'सर्वम्' एव प्राप्नोति । यस्मात् 'अस्य' 'सर्वे' अपि अपमृत्यवो विनाशिताः, किञ्च अयम् अग्निचित् अभिचारविषयोऽपि न भवति, एवं सति यो मूर्खः अभिचरति, 'एनं' मूर्खं सः 'अभिचारः' प्रत्याप्नुयो भूत्वा दिनसि ।

यदुक्तं सूत्रकारेण, — 'अग्नीषोमीयस्य पशुपुरोडाशमष्टौ देवसुवां हवींश्चानुनिर्वपति समानं स्विष्टकृदिडम्' इति ।

तदिदं विधत्ते,—“सूच्यते वै एष यः अग्निं चिनुते देवसुवाम् एतानि हवींषि भवन्ति एतावन्तो वै देवानां सवाः ते एव अस्मै सवान् प्र यच्छन्ति ते एनं सुवन्ते^(१)” इति । 'यः' यजमानः 'अग्निं' 'चिनुते,' सः 'एषः' देवैः 'सूच्यते' प्रेर्यते । अतः प्रेरणाय हवींषि निर्वपेत् । “अग्नये गृहपतये पुरोडाशम्”—इत्यादिराजसूयाकातानि 'देवसुवां' 'हवींषि,' तत्र श्रुताः ये अन्यादयो देवाः 'एतावन्तः' एव 'देवानां' मध्ये प्रेरकाः । 'ते' 'एव' देवाः 'अस्मै' यजमानाय स्वकीयाः सर्वाः अनुज्ञाः प्रयच्छन्ति । तेन च अनुज्ञाप्रदानेन 'एनं' यजमानं प्रेरयन्ति ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘दक्षिणं प्रत्यपि पञ्चमौदुम्बरीमास्यन्दीं प्रतिष्ठाप्य तस्यां क्षणाजिनं प्राचीनयीवसुत्तरलोमास्तीर्थं तस्मिन्प्राचीनं यजमानम् अग्निम् अन्वारब्धं सन्पातैरभिषिञ्चति’ इति ।

तदिदं विधातुं प्रकौति,—“सवः अग्निः वरुणसवः राजसूयं ब्रह्म-सवः चित्यः^(१)” इति । अभिवेकयुक्तो यागः सवः इति हि उक्तम् । स च द्विविधः, वरुणसवः ब्रह्मसवश्च । राजकर्तृणात् राजसूयं वरुण-

अतः, वक्ष्यो हि राजाभिमानो देवः । सितप्रियं ब्राह्मणैरप्रतुष्टे-
भ्यात् ब्रह्मसवः, अग्निः ब्राह्मणाभिमानो देवः । अतः सवत्वात् अन्नम्
अभिषेकयोग्यः इत्यर्थः ।

सम्पन्नपूर्वकमभिषेकं विधत्ते,—“देवस्य त्वा सवितुः प्रसव इति
ज्ञात् सविद्वप्रभृतः एव एनं ब्रह्मणा देवताभिः अभि विषति^(१)” इति ।
‘ब्रह्मणा’ मन्त्रेण, प्रतिपाद्याभिरिति शेषः ।

सर्वोपधीरसम् अभिषेकद्रव्यत्वेन विधत्ते,—“अन्नस्यान्नस्य अभि
विषति अन्नस्यान्नस्य अवदधी^(२)” इति ।

प्रकारविशेषं विधत्ते,—“पुरस्तात् प्रत्यक्षम् अभि विषति पुरस्तात्
हि प्रतीचीनम् अन्नम् अद्यते शीघ्रतः अभि विषति शीघ्रतः हि अन्नम्
अद्यते^(३)” इति ।

पूर्वस्थां दिशि पश्चिमाभिमुखः अवस्थाय ‘प्रत्यक्षं’ स्नाभिमुखं
अन्नमागम् अभिविषेत् । लोके ‘हि’ ‘पुरस्तात्’ पात्रे अवस्थितम्
‘अन्नं’ स्नाभिमुखत्वेन ‘अद्यते’* ।

क्षिर आरभ्य अभिविषेत् । ‘अन्नम्’ अपि शिरोदेशावस्थिते मुखे
भुष्यते† ।

गुणान्तरं विधत्ते,—“आ मुखात् अन्ववस्त्रावद्यति सुक्षतः एव

* इत्येव का० जी० पु० पाठः । आदर्शपुस्तके इ उ पङ्क्तिः—‘प्रति-
पाद्याभिः’ इत्यनन्तरमेव ‘पूर्वस्थां दिशि’ इत्यादिरयं सन्दर्भो दृश्यते,
प्रकारविशेषप्रदर्शनात् पूर्वं तद्याख्यानं न युक्तमिति गायं साधुपाठः ।

† का० जी० पुस्तके अयं सन्दर्भो नास्ति ।

अग्नेः अन्नाद्यं दधाति^(७)” इति । अत्र आरभ्य आनुलोम्येन सुवर्णं पथं नमेव स्थावयेत्, न अधः ।

मन्त्रेषु अग्निदृष्टसतीन्द्रशब्दतात्पर्यं व्याख्ये,—“अग्नेः त्वं साक्षाज्येन अभि विद्मामि इति आह एषः वै अग्नेः सवः तेन एव एनम् अग्निं विद्मति दृष्टस्यतेः त्वा साक्षाज्येन अभि विद्मामि इति आह ब्रह्मा वै देवानां दृष्टस्यतिः ब्रह्मणा एव एनम् अग्निं विद्मति इन्द्रस्य त्वा साक्षाज्येन अभि विद्मामि इति आह इन्द्रियम् एव अस्मिन् उपरिष्ठात् दधाति^(८)” इति । ‘एषः’ ओषधिरसः ‘अग्नेः’ ‘सवः’ अग्निना प्रेरितः । अतः अग्निशब्दम् उपधारयन् अग्निसन्ध्येन तेन-तेन ‘एव’ रसेन ‘अभि विद्मति’ । ‘एष वै दृष्टस्यतेः सवः, एष वै इन्द्रस्य सवः’—इत्यपि अनुसन्धेयम् । एते अभिषेकमन्त्राः शाखागारे आचिताः । इह ब्राह्मणेन व्याख्याताः ।

राजसूयसाम्येन अभिषेकं प्रशंसति,—“एतत् वै राजसूयस्य रूपं यः एवं विद्वान् अग्निं चिनुते उभौ एव लोकौ अभि जयति यश्च राजसूयेन ईजानस्य यश्च अग्निचितः^(९)” इति । ‘एतत्’ अभिषेकम् एव अग्नेः चित्यस्य ‘राजसूयस्य’ स्वरूपम् । एवंविदः चित्वाग्नेस्ते उभयफलं भवति ।

अतः चयनाङ्गत्वेन सौचामणीं विधत्ते,—“इन्द्रस्य सुषुवाणस्य इन्द्रधा इन्द्रियं वीर्यं परा अपतत् तत् देवाः सौचामण्या समम् अभरणं स्रयते वै एषः यः अग्निं चिनुते अग्निं चित्वा सौचामण्या चजेत इन्द्रियम् एव वीर्यं संभृत्य आत्मन् धत्ते^(१०)” इति । सोमम् अभिपुतवतः ‘इन्द्रस्य’ ‘इन्द्रियं’ सोमोपद्रवपापेन ‘इन्द्रधा’ भूत्वा

पतितम् अभूत् । ‘तत्’ एतत् इन्द्रियं ‘देवाः’ ‘सौचामण्या’ “स्नादी
त्वा” इत्यादिपञ्चप्रतिपाद्येन धागेन सम्यक् सम्पादितवन्तः । एवं सति
अपि ‘यः’ ‘अग्निं’ ‘चिनुते’, ‘एषः’ अपि सोमाभिषवे प्रेर्यते ।
तस्मात् अयम् अपि इन्द्रियसामर्थ्यसम्पादनाय सौचामण्याख्यं धानम्
अनुतिष्ठेत् । सौचामण्याः चयनाङ्गत्वं न बोध्यते, किन्तु कालविधि-
रयम्* ; तस्मादिदं वाक्यं प्रकरणात् उत्कर्षव्यम्† ॥

अथ मीमांसा ।

चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे (१८ अ०) चिन्तितम्,—

अग्निं चित्वा यजेत् सौचामण्यङ्गेष्टिरुतेदुग्धी ।

अङ्गिकाले स्वकाले वा स्याद् आद्यो ऽन्याङ्गवत् मतः ॥

निर्वृत्ते चयनादौ तु कर्मान्तरविधानतः ।

स्वकाले चोदकप्राप्ते तदनुष्ठानमास्थितम् ॥

“अग्निं चित्वा सौचामण्या यजेत्”, “वाजपेयेनेष्टा दृहस्यतिसवेन
यजेत” इत्यत्र सौचामणीदृहस्यतिसवयोरङ्गत्वं पूर्वमुक्तम् । तच्चाङ्गम्
अङ्गिकाले अङ्गिना सह प्रयोक्तव्यम्, इतरेषाम् अङ्गानां तथा
प्रयुज्यमानत्वादिति चेत् । मैवं, त्वा-प्रत्ययेन पूर्वकालवाचिना साङ्गे
चयनादौ निर्वृत्ते सति, पश्चात् कर्मान्तरत्वेन सौचामण्यादेर्विहित-
त्वात्, यदि अङ्गिना सह एकप्रयोगः स्यात्, तदा प्रत्ययप्रापितः
पूर्वोत्तरकालविभागो! बाधेत ! न हि अङ्गिना सह प्रयोक्तव्यानाम्

* “काले विधिरयम्” इति का० ब्री० पु० पाठः ।

† आदर्शपुस्तके ‘उत्कृष्टम्’ इति पाठः । उत्कृष्टं,—इति का० ब्री०
पु० पाठः ।

‡ “पूर्वोत्तरकालः” इति आदर्शपुस्तके पाठः ।

उखासभरणादीनां चयने निवृत्ते पश्चाद्विधानं भुतम् । तत्रः दृष्टम् ।
 प्रयोगे अवश्यभाविनि सति स्वस्वचोदकप्रापिते काले तदनुष्ठानं भुतम् ।
 सौचामण्याः दृष्टिप्रकृतिकत्वात् पर्वकालस्योदकप्राप्तः । चयनेन स
 प्रयोगे तु पर्वणि उखासभरणादिविधानात् अन्यस्मिन् दिने सौचा-
 मणी प्रसज्येत । तथा बृहस्पतिसवस्य ज्योतिष्टोमविष्णुतत्वात् वस-
 न्तकालस्योदकप्राप्तः । वाजपेयेन सह प्रयोगैक्ये शरदि वाजपेयस्य
 विहितत्वात् बृहस्पतिसवोऽपि शरदि प्रसज्येत ! तस्मात् अतिदिष्टे पर्वणि,
 वसन्ते तदनुष्ठानम् । ननु सर्वत्र अङ्गापूर्वैः प्रधानापूर्वं जनयितव्यम् ।
 इह तु पूर्वकालीनेन साङ्गप्रधानानुष्ठानेन फलापूर्वस्य निष्पत्त्यात्
 तदुत्तरकालीनम् अङ्गं निरर्थकमिति चेत् । न, तस्यैव अपूर्वस्य अनेन
 अङ्गेन प्राबल्यदशायाः कल्पनीयत्वात् । तस्मात् न अङ्गिनः काले
 अनुष्ठानम् । किन्तु स्वकाले इति स्थितम् ।

पूर्वानुवाकोक्तनुष्ठीष्टकाचरूपधानस्य प्राणभृद्भ्यः अपानभृद्भ्यश्च
 ऊर्जभावितात् इदं ब्राह्मणम् अभिमन्त्रणमन्त्रसहितं “पशुर्वा एव
 च दग्निः” (५।२।१०) इत्यनुवाकान्ते द्रष्टव्यम् । भूतेष्टकोपधानं तु
 बाणखिद्योपधानादूर्जं भवति । अभिषेकस्तु “अग्निर्वै देवाना-
 मभिषिक्तः” (५।४।८) इत्यस्मात् पूर्वं द्रष्टव्यः । सौचामणीब्राह्मणं तु
 कृत्स्नात् ब्राह्मणात् ऊर्जं द्रष्टव्यम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णसूक्तः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके तृतीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

सजूरब्दोऽयावमिः सजूरुषा अरुणीभिः सजूरुः सूर्य्य
 एतन्नेन सजोषावश्विना दशसौभिः सजूरभिर्वैश्वानर
 इवाभिर्घृतेन स्वाहा^(१) संवत्सरो वा अब्दो मासा
 अयावा उषा अरुणी सूर्य्य एतश्च इमे अश्विना
 संवत्सरोऽभिर्वैश्वानरः पशव इडा पशवो घृतश्च संवत्सरं
 पशवोऽनु प्र जायन्ते संवत्सरेणैवास्मै पशून् प्र जन-
 यति^(२) दर्भस्तम्बे जुहोति यत् ॥ १ ॥

वा अस्या अमृतं यद्दीर्यं तद्दर्भास्तस्मिन् जुहोति
 प्रैव जायतेऽन्नादो भवति यस्यैवं जुह्वत्येता वै देवता
 अग्नेः पुरस्ताद्वागास्ता एव प्रोणात्यथो चक्षुरेवाग्नेः
 पुरस्तात् प्रति दधात्य^(३) नन्धो भवति य एवं वेदा-^(४)
 पो वा इदमग्रे सलिलमासीत् स प्रजापतिः पुष्करपर्णे
 वातो भूतोऽस्त्रेलायत्सः ॥ २ ॥

प्रतिष्ठान्नाविन्दत् स एतदुपां कुलायमपश्यत्
 तस्मिन्निमिषिचिनुत् तदियमभवत्ततो वै स प्रत्यति-
 हृद्^(५) यां पुरस्तादुपादधात् तच्छिरोऽभवत्सा प्राची
 दिग्वां दक्षिणत उपादधात् स दक्षिणः पश्चोऽभवत्सा
 दक्षिणा दिग्वां पश्चादुपादधात् तत्पुच्छमभवत्सा
 प्रतीची दिग्यामुत्तरत उपादधात् ॥ ३ ॥

स उत्तरः पश्चोऽभवत्सोदीची दिग्यामुपरिष्टादुपा-

इडाभिः एतेन स्वाहा^(१)” इति । ‘अब्दः’ संवत्सरः । अथाभाः मासाः । स च संवत्सरः तैर्मासेः सह समानप्रीतिः । अथ सर्वेषु मन्त्रेषु ‘एतेन स्वाहा’ इत्यनुवच्यते । तस्मै मासवर्षिताय संवत्सराय ‘एतेन’ द्वयेण ‘स्वाहा’ जुहोमि । ‘उषाः’ या इयम् उषःकास्तदेवता, या इयम् ‘अरुणीभिः’ रक्तवर्णाभिः ‘सजूः’ समानप्रीतिः । ताम् उद्दिश्य ‘एतेन स्वाहा’ जुहोमि । ‘सूर्यः’ देवः ‘एतश्चेन’ स्वकीयाश्चेन ‘सजूः’ समानप्रीतिः । तम् उद्दिश्य ‘एतेन स्वाहा’ जुहोमि । ‘अश्विना’ यौ एतौ अश्विनौ, तौ ‘दक्षोभिः’ दंशनैः व्याधिनिर्वाकरणव्यापारेः ‘सजोषौ’ परस्परसमानप्रीति । तौ उद्दिश्य एतेन जुहोमि । ‘वैश्वानरः’ सर्वमनुव्यप्रियः यः ‘अग्निः,’ सः ‘इडाभिः’ पशुभिः ‘सजूः’ समानप्रीतिः । तमुद्दिश्य एतेन जुहोमि ।

मन्त्रान् व्याचष्टे,—“संवत्सरो वै अब्दे मासाः अयावाः उषाः अरुणी सूर्यः एतश्च इमे अश्विना संवत्सरः अग्निः वैश्वानरः पशवः इडा पशवः एतश्च संवत्सरं पशवः अनु प्र जायन्ते संवत्सरेण एव अस्मै पशून् प्र जगयति^(१)” इति । मन्त्रगतस्य अब्दशब्दस्य ‘संवत्सरः’ एव अर्थः । अयावशब्देन ‘मासाः’ अभिधीयन्ते । उषःशब्दादयस्त्वारः प्रसिद्धाः । ‘इमे’ चावापृथिव्यौ अश्विनाश्चेन विवक्षिते । ‘अग्निः वैश्वानरः’ इत्यनेन ‘संवत्सरः’ विवक्षितः । इडा-शब्देन ‘पशवः’ विवक्षिताः । घृत-शब्देनापि तत्कारणत्वात् ‘पशवः’ एव विवक्षिताः । तात्पर्यार्थस्तु,—गर्भभूताः* ‘पशवः’ ‘संवत्सरम्’ अनुसृत्य ‘प्र’-‘जायन्ते’ ।

* आदर्शशब्दे तु “वात्सर्ग्यतस्तु गर्भभूताः” इत्येवं पाठः ।

अतः एतन्मन्त्रपाठेन 'अस्मै' यजमानाय संवत्सरकालेन 'पशून्' उत्पादयति ।

अथ होमं विधत्ते,—“दर्भस्तम्बे जुहोति यत् वै अस्याः अमृतं यत् वीर्यं तत् दर्भाः तस्मिन् जुहोति प्र एव जायते अन्नादः भवति यस्य एवं जुहति एताः वै देवताः अग्नेः पुरस्तात् भागाः ताः एव प्रीणाति अथो चक्षुः एव अग्नेः पुरस्तात् प्रति दधाति^(१)” इति । ‘अस्याः’ पृथिव्याः सम्बन्धि ‘यत्’ ‘अमृतं’ स्वादुद्रव्यं, ‘यत्’ च तत्सम्बन्धि ‘वीर्यं’ सामर्थ्यं, ‘तत्’ उभयमेव एते ‘दर्भाः’ । अतः ‘तस्मिन्’ अमृते वीर्यं दर्भरूपे ऊतवान् भवति । तेन होमेन प्रजाः उत्पादयति ‘एव’ । ‘यस्य’ यजमानस्य कर्मणि ‘एवं’ ‘जुहति’, स यजमानो न केवलं प्रजोत्पादकः किन्तु ‘अन्नादः’ च ‘भवति’ । ‘एताः’ एव मन्त्रोक्ताः संवत्सरमासादयः सर्वाः ‘देवताः’ ‘अग्नेः’ अपि पूर्वभागिनः । अतः ‘ताः’ प्रीणयति ‘एव’ । किञ्च पूर्वकालीनेन होमेन ‘अग्नेः’ ‘चक्षुः’ ‘एव’ सत्पादयति । तदेव* दर्भस्तम्बहोमो देवता कालश्च प्रशस्तः ।

अथ वेदनं प्रशंसति,—“अनन्धो भवति य एवं वेद^(२)” इति ।

अथ चित्तियोग्या भूमिः बज्रधा स्त्रयते, तच्च तावत् आदौ भूमि-निष्पत्तिप्रकारं दर्शयति,—“आपो वै इदम् अग्रे मलिलम् आसीत् सः प्रजापतिः पुष्करपर्णे वातः भूतः अलेलायत् सः प्रतिष्ठां न अविन्दत सः एतत् अपां कुलायम् अपश्यत् तस्मिन् अग्निम् अचिनुत तत् इयम् अभवत् ततो वै सः प्रति अतिष्ठत्^(३)” इति । यत् ‘इदं’ जगत् इदानीं दृश्यते, तच्च सर्वम् उत्पत्तेः पूर्वम् ‘आपः’ एव ‘आसीत्,’ न तु देव-

* एवमेव सर्वत्र पाठः । ‘तदेवं’ इत्येवंरूपः कश्चन पाठो भवितुं युक्तः ।

मनुष्यादिकम् । तस्मिन् अणु* पृथिव्यादिभूतान्तरमेतन्नं वारयितुं
 सलिलमिति विशेयते । शुद्धजलमेव आसीत् इत्यर्थः । इदानीं
 ‘प्रजापतिः’ स्वन्नरीरमवस्थापयितुं मूर्त्तस्य कस्यचित् आधारस्य
 अभावात् स्वयं वायुरूपः अभूत् । तदुदकमध्यवर्त्तिनि कस्मिंश्चित्
 पद्मपत्रे समाश्रितः । तस्य चलत्वात्, स्वयं च वायुरूपत्वात्, ‘अले-
 लायत्’ इतस्ततो डोलायमानः अभूत् । तादृशः कुत्रापि स्थिरां स्थितिं
 न अलभत । ‘सः’ पुनः आधारं पर्यालोचयन् ‘अपां’ मध्ये कुलाय-
 त्रैवालम् ‘अपश्यत्’ । ‘तस्मिन्’ त्रैवाले ‘अग्निम्’ दृष्ट्वाभिः चितवान् ।
 सोऽयम् दृष्ट्वाचितः अग्निः ‘इयं’ दृश्यमाना भूमिः ‘अभवत्’ । ‘ततः’
 ऊर्द्धं ‘सः’ प्रजापतिः तस्यां भूमौ प्रतिष्ठितः अभूत् ।

अथनेन भूम्युत्पत्तिप्रकारं प्रपञ्चयति,—“यां पुरस्तात् उपादधात्
 तत् शिरः अभवत् सा प्राची दिक् यां दक्षिणतः उपादधात् स
 दक्षिणः पक्षः अभवत् सा दक्षिणा दिक् यां पश्चात् उपादधात् तत्
 पुच्छम् अभवत् सा प्रतीची दिक् याम् उत्तरतः उपादधात् स उत्तरः
 पक्षः अभवत् सा उदीची दिक् याम् उपरिष्ठात् उपादधात् तत्
 पृष्ठम् अभवत् सा ऊर्द्धा दिक्^(१)” इति । स प्रजापतिः ‘यां’
 प्रौढाम् दृष्ट्वा स्वस्य पुरतः? ‘उपादधात्,’ ‘तत्’ दृष्ट्वा रूपं शीय-
 मानस्य अग्नेः शिरस्थानम् ‘अभवत्’ । लोके तु भूम्येकदेशरूपा ‘पूर्वा’
 दिक् सम्यक् । एवं दक्षिणाद्युर्द्धान्तेषु योजयितव्यम् ।

* एवमेव सर्वत्र पाठः । ‘तासु अणु’ इत्येवं पाठो भवितुं युक्तः ।

† ‘प्रकारान्तरं’ इति का० जी० पु० पाठः ।

‡ ‘पुरस्तात्’ इति का० जी० पु० पाठः ।

भूमेऽस्त्याग्निरूपत्वं ब्राह्मीयलौकिकदृष्टिभ्यां दृढीकरोति,—
 “इयं वै अग्निः पञ्चेष्टकः तस्मात् यत् अस्यां खनन्ति अभि दृष्ट्वा
 हवन्ति अभि प्रर्कराः सर्वा वै इयं वयोभ्यः नक्तं दृष्ट्वा दीप्यते तस्मात्
 इमां वयाःसि नक्तं न अधि आसते^(७)” इति । या इयं भूमिः
 अस्ति, सा ‘इयं’ पञ्चभिः दृष्टकाभिश्चितः ‘अग्निः’ । ‘तस्मात्’ अग्निनात्
 यदि अनभिज्ञाः प्राणिनः ‘अस्यां’ भूमौ कश्चित् ‘खनन्ति’, तदानीं
 ते मूर्खाः प्रजापतिना उपहिताम् ‘दृष्टकाम्’ अभितो हंसन्ति
 पूर्णकुर्वन्ति । तथा या इयं प्रर्करा तेन उपहिता, ताम् अपि ‘अभि’
 ‘हवन्ति’ सर्वतस्मूर्णयन्ति ; तथाविधः प्रत्यवायः तेषां भवति
 इत्यर्थः,—सा इयं ब्राह्मीयदृष्टिः । अथ लौकिकदृष्टिः उच्यते,—
 ‘वयोभ्यः’ ‘दृष्ट्वा’ पक्षिणां दृष्टौ भूमिः ‘सर्वा’ अपि रात्रौ अग्नि-
 क्त्वा दीप्ता भवति । यस्मात् एवं, ‘तस्मात्’ रात्रौ पक्षिणः भूमिं
 ‘न’ आश्रयन्ति, किन्तु वृक्षाद्याणि आश्रयन्ति । तस्मात् ब्राह्मीय-
 लौकिकदृष्टिभ्याम् इयं भूमिः अग्निरेव ।

एतत् वेदं प्रशंसति,—“यः एवं विद्वान् अग्निं चिनुते प्रति
 एव तिष्ठति अभि दिशः जयति^(८)” इति ।

अथ ब्राह्मणद्वारा सर्वदिगुपेतायाः भूमेः अग्नित्वं द्रढयति,—
 “आग्नेयो वै ब्राह्मणः तस्मात् ब्राह्मणाय सर्वासु दिक्षु अर्धकः स्वाम् एव
 सत् दिशम् अनु एति^(९)” इति । अग्निब्राह्मणयोः प्रजापतिसुखसत्त्व-
 सन्धेन ‘ब्राह्मणः’ ‘आग्नेयः’ । यस्मात् अयम् अग्निसन्धः ‘तस्मात्’
 अग्निरूपभूत्ववयवव्यापासु ‘सर्वासु’ अपि ‘दिक्षु’ ब्राह्मणस्य सन्निविष्टं
 जीवनं भवति । सन्निधौ हव परदेशेषु अपि देवदत्तः ब्राह्मणभिः

कृष्णो । अयं हि सक्तीयां 'दिग्भ्यम्' 'अनु' मध्यति । तस्मात् पुनश्च
एतत् ।

इदानीं लौकिकजलद्वारा पुनरपि अग्नित्वं द्रढयति, — “अपां वै
अग्निः कुलायं तस्मात् आपः अग्निः हारुकाः स्वाम् एव तत् योनिं
प्र विगच्छन्ति^(१)” इति । योऽयं भूमिरूपः ‘अग्निः’, सोऽयं नदी-
झूपादिगतानाम् ‘अपां’ ‘कुलायं’ स्थानम् । भूमौ अवस्थितत्वात्
योनिश्च अपां, भूमिरूपः अग्निरेव । यस्मात् अग्निकार्याः आपः,
‘तस्मात्’ मध्यतो यहादिदाहिनः अग्नेः अपहरणाय मंतुष्येः वेचिताः*
‘आपः’ अग्निम् अपहरन्[†] स्वयमपि शुष्यन्ति । यस्मात् एव अग्निरूपां
स्वयोनिं ‘प्र’-‘विगच्छन्ति’, तस्मात् अवगम्यते जलकारणाग्निरूपा इयं
भूमिः इति । अत्रोक्तस्य होमस्य वेदिभिमानात् पूर्वभावित्वात्
“पुरुषमात्रेण” (५।२।५।१) इत्यनुवाकात् पूर्वमिदं ब्राह्मणं द्रष्टव्यम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयज्ञः-
संहिताभाष्ये षष्ठमकाण्डे षष्ठप्रपाठके चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

संवत्सरमुख्यं भृत्वा द्वितीयैः संवत्सर आग्नेयमष्टा-
कपालं निर्वपेद्वैन्द्रमेकादशकपालं वैश्वदेवं द्वादश-
कपालं बार्हस्पत्यं चरुं वैष्णवं त्रिकपालं^(१) तृतीयं
संवत्सरेऽभिजिता यजेत्^(२) यद्दृष्टकपालो भवत्यष्टाक्षरा

* ‘वेचिताः’ इति का० श्री० पु० पाठः ।

† यस्मिन् सञ्चल्य पाठः । ‘अपहरन्तः’ इत्येवं पाठो न विदुः युक्तः ।

गाय॒त्र्याग्ने॒यं गा॒य॒त्रं प्रा॒तःस॒व॒नं प्रा॒तःस॒व॒नमे॒व तेन॑
दा॒धार गा॒य॒त्रीं छन्दो॑^(१) यदे॒काद॒शक॒पालो भ॒वत्ये॒का-
द॒शाक्ष॒रा चि॒ष्टुगै॒न्द्रं चैष्टु॑भं मा॒ध्यन्दि॒नः स॒व॒नः
मा॒ध्यन्दि॒नमे॒व स॒व॒नं तेन॑ दा॒धार चि॒ष्टुभं॑ ॥ १ ॥

छन्दो यद्वा॒दश॒कपालो भ॒वति॒ द्वाद॒शाक्ष॒रा ज॒गती
वैश्व॒देवं जा॒गतं तृ॒तीयस॒व॒नं तृ॒तीयस॒व॒नमे॒व तेन॑
दा॒धार ज॒गतीं छन्दो॑ यद्वा॒र्हस्प॒त्यश्च॒रुर्भ॒वति॒ ब्रह्म॒ वै
दे॒वानां बृ॒हस्प॒तिर्ब्रह्मै॒व तेन॑ दा॒धार यद्वैष्ण॑वस्त्रि॒कपालो
भ॒वति॒ यज्ञो वै विष्णु॑र्य॒ज्ञमे॒व तेन॑ दा॒धार यत्तृ॒तीये
सं॒वत्स॒रेऽभि॒जिता यज॑तेऽभि॒जित्यै॑^(२) यत् सं॒वत्स॒रमुखं॑
बि॒भर्ती॑ममे॒व ॥ २ ॥

तेन॑ लो॒कः स्पृ॒णोति॒ यद्द्वि॒तीये सं॒वत्स॒रेऽग्निं चि॒नुते॑
ऽन्त॒रिक्ष॑मे॒व तेन॑ स्पृ॒णोति॒ यत्तृ॒तीये सं॒वत्स॒रे यज॑ते
ऽमु॒मे॒व तेन॑ लो॒कं स्पृ॒णोति॑^(३) एतं॑ वै पर॑ आ॒ट्णारः
क॒क्षीवाः॑ औ॒शि॒जा दी॒तह॒व्यः आ॒य॒सस्त्र॑स॒दस्युः पौरु॒-
कु॒त्स्यः प्र॒जा॒कामा॑ अ॒चि॒न्वत् ततो॑ वै ते स॒हस्रं॑ स॒हस्रं
पु॒षान॑वि॒न्दन्त॑^(४) प्रथ॑ते प्र॒जया॑ प॒शुभि॑स्तां मा॒चामा॑प्नोति
यान्तेऽग॑च्छन् य एवं, वि॒द्वाने॒तम॒ग्निं चि॒नुते॑^(५) ॥ ३ ॥

दा॒धार चि॒ष्टुभं॑ । इ॒ममे॒व । एवं । च॒त्वारि॑ च ॥५॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

क्षेत्रं मातुं* पुरा होमस्तुर्थे समुदीरितः ।

अथ पञ्चमे-कानिचित् हवींषि विधीयन्ते ।

पूर्वस्मिन् प्रपाठके संवत्सर-व्यह-षडह-द्वादशाहामिधारणपञ्चा-
ख्यारोऽभिहितः । तत्र तापस्विताम् अयनाख्यस्य संवत्सरस्यैवा
अङ्गभूते चयने संवत्सरम् उख्यधारणं नियतम् । अत एव सूचकार
आह,—‘तापस्वितेऽग्नौ संवत्सरं दीताः संवत्सरमुपसदः पुरस्तादुपस-
दामाग्नेयमष्टाकपालमिति पञ्च’ इति ।

तदिदं सूत्रोक्तं हविःपञ्चकं विधत्ते,—“संवत्सरम् उख्यं भूत्वा
द्वितीये संवत्सरे आग्नेयम् अष्टाकपालं निर्वपेत् ऐन्द्रम् एकादशकपालं
वैश्वदेवं द्वादशकपालं वार्हस्पत्यं चरुं वैष्णवं चिकपालम्^(१)” इति ।

यदपि उक्तं सूत्रकारेण,—‘तृतीये संवत्सरेऽभिजिता विश्वजिता
वा यजेत सर्ववेदमं ददाति’ इति ।

तत्र आद्यं पक्षं विधत्ते,—“तृतीये संवत्सरे अभिजिता यजेत^(२)”
इति । ‘अभिजित्’ इति सोमयागविशेषः ।

तत्र पञ्चसु हविःषु प्रथमहविः प्रशंसति,—“यत् अष्टाकपालः
भवति अष्टाक्षरा गायत्री आग्नेयं गायत्रं प्रातःसवनं प्रातःसवनम् एव
तेन दत्तं गायत्रीं हन्ति^(३)” इति । गायत्रीपादस्य अष्टाक्षरत्वं
प्रसिद्धम् । ‘प्रातःसवनं’ च गायत्रीच्छन्दसा निष्पाद्यत्वात् ‘गायत्रं’ ।
गायत्र्या सह अग्नेः उत्पन्नत्वात् तत् ‘आग्नेयम्’ अपि । अतः ‘तेन’
हविषा प्रातःसवनफलं ‘गायत्रीं’ ‘हन्ति’ देवतां च प्राप्नोति ।

* ‘क्षेत्रमातुः’ इति च पाठान्तरम् ।

† ‘संवत्सरस्यस्य’ इति का० क्री० पु० पाठः ।

इतराणि चत्वारि हवींषि, अभिजिदाख्यं सोमयागं च क्रमेण प्रशंसति,—“यत् एकादशकपालः भवति एकादशाक्षरा चिष्टुक् ऐकं चैष्टुभं माध्यं दिनम् सवनं माध्यं दिनम् एव सवनं तेन दाधार चिष्टुभं हृन्दः यत् द्वादशकपालो भवति द्वादशाक्षरा जगती वैश्वदेवं जामतं तृतीयसवनं तृतीयसवनम् एव तेन दाधार जगतीं हृन्दः यत् वार्हस्पत्यः चरुः भवति ब्रह्म वै देवानां वृहस्पतिः ब्रह्म एव तेन दाधार यत् वैष्णवः त्रिकपालो भवति यज्ञो वै विष्णुः यज्ञम् एव तेन दाधार यत् तृतीये संवत्सरे अभिजिता यज्ञते अभिजित्यै^(४)” इति । अथ सर्वत्र हविःप्रशंसा देवताप्रशंसा अभिजि-
द्यागप्रशंसा च विस्पष्टा ।

अथ उख्यधारणं, पञ्चहविर्युक्तधनम्, अभिजिदाख्यम् एकादश क्रमेण प्रशंसति,—“यत् संवत्सरम् उख्यं विभर्ति इमम् एव तेन लोकः स्पृणोति यत् द्वितीये संवत्सरे अग्निं चिनुते अन्तरिक्षम् एव तेन स्पृणोति यत् तृतीये संवत्सरे यज्ञते असुम् एव तेन लोकः स्पृणोति^(५)” इति । यद्यपि अयम् अभिजित् एकादशः, न तु संवत्सरसाध्यम् अयनं, तथापि तापसिताम् अयने अङ्गभूतो यः अग्निः, तद्धर्मः संवत्सरोख्यधारणं संवत्सरोपसदस्यः सः अभिजिदङ्गेऽपि अतिदिश्यते । तस्मात् अयम् अङ्गभूतः अग्निः धर्माति-
देवायै ‘तापसितः’ इत्युच्यते । पञ्च हवींषि अभिजिदङ्गभूते अग्नौ विशिष्यन्ते ।

तदिदं पञ्चहविरूपेतं ययनं प्रकारान्तरेण प्रशंसति,—“एतं वै परः आट्णारः कक्षीवान् यौग्विजः वीतहव्यः आचसः चसदसुः

पौदकुल्यः प्रजाकामाः अचिन्वन्त ततो वै ते सहस्रं सहस्रं पुत्रान्
अचिन्वन्त^(१)—इति । परब्रह्माभिधेयः कश्चित् अविः, सोऽयम्
अवधारण्य पुत्रः । ‘कक्षीवान्’ अन्यः अविः, स च उन्निजः पुत्रः ।
‘वीतहयः’ अन्यः अविः, स च अयसः पुत्रः । ‘वसदस्यः’ अन्यः,
स च पुदकुल्यस्य पुत्रः । ‘ते’ एते ‘प्रजाकामाः’ सन्तः तम् ‘एतं’
संवत्सरधारणेन पञ्चहविर्भिस्त्र उपेतम् अग्निं चित्वा प्रत्येकं ‘सहस्रं’
‘पुत्रान्’ अलभन्त ।

अथ एतस्य चयनस्य फलं दर्शयति,—“प्रथते प्रजया पश्युभिः तां
माचाम् आप्नोति यां ते अगच्छन् यः एवं विद्वान् एतम् अग्निं
चिनुते^(२)” इति । पूर्वोक्ताः महर्षयः ‘यां’ माचां सहस्रपुत्ररूपम्
ऐश्वर्यप्रमाणम् ‘अगच्छन्’, ‘तां’ ‘माचाम्’ अयमपि ‘एतम्’ ‘अग्निं’
चिन्वानः प्राप्नोति ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छण्डोग्यजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके पञ्चमोऽनुवाकः ॥०॥

प्रजापतिरग्निमचिनुत् स ह्युरपविर्भूत्वाऽतिष्ठत्तं
देवा विभ्यतो नोपायन्ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वो-
पायन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वं ब्रह्म वै छन्दांसि ब्रह्मण
एतद्भूयं यत् छण्डाजिनं काष्ण्यो^१ उपानहावुप^२ मुञ्चते

अन्धोभिरेवात्मानं द्वादयित्वाग्निमुप चरत्यात्मनो-
ऽहिःसायै^(१) देवनिधिर्वा एष नि धीयते यदग्निः ॥ १ ॥

अन्ये वा वै निधिमगुप्तं विन्दन्ति न वा प्रति प्र-
जानात्युत्तमा क्रामत्यात्मानमेवाधिपां कुरुते गुप्त्यै^(२)
अथो खस्वाहूर्नाक्रम्येति नैर्ऋत्युखा यदाक्रामेन्निर्यत्या
आत्मानमपि दध्यात् तस्मान्नाक्रम्या पुरुषशीर्षमुप
दधाति गुप्ता अथो यथा ब्रूयादेतन्मे गोपायेति ताह-
गेव तत्^(३) ॥ २ ॥

प्रजापतिर्वा अथर्वाग्निरेव दध्यङ्ङायवर्णस्तस्येष्टका
अस्थान्येतः ह वाव तद्विर्भ्यनूवावेन्द्रो दधीषो
अस्थभिरिति यदिष्टकाभिरग्निं चिनोति सात्मान-
मेवाग्निं चिनुते^(४) सात्मागुप्तिं लोके भवति य
एवं वेद^(५) शरीरं वा एतदग्नेर्यच्चित्य आत्मा
वैश्वानरो यच्चिते वैश्वानरं जुहोति शरीरमेव
संस्तृत्य ॥ ३ ॥

अभ्यारौहति^(६) शरीरं वा एतत् यजमानः सः
स्मरते यदग्निं चिनुते यच्चिते वैश्वानरं जुहोति शरीर-
मेव संस्तृत्यात्मनाभ्यारौहति तस्मात्तस्य नाव यन्मि-
जीवन्नेव देवान्येति^(७) वैश्वानुर्यथा पुरीषमुप दधातोयं
वा अग्निर्वैश्वानरस्तस्यैषा चितिर्यत्पुरीषमग्निमेव वैश्वान-

मूर्त्तिं चिनुत एषा वा अग्निः, प्रिया तनूर्यद्वैद्यामूर्त्तिः
प्रियामेवास्य तनुवमव सन्धे^(८) ॥ ४ ॥

अग्निः । तत् । स्रस्कृत्य अग्नेः । दर्श च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

पञ्चमेऽभिजितोऽङ्गं यत् चयने तत् विधेयितम् ।

अथ च ब्राह्मणस्य पूर्वमेवलाभावाच्च तच्चात्मभावः । किञ्चने
निवेद्यः ।

अथ षष्ठे पूर्वप्रकरणोक्तानेव विधीन् कानिचित् अनुद्य प्रशंसति ।
तच्च “अक्षसूर्जमिति परि विज्ञति” (५।४।४।१) इत्यनुवाके “कार्ष्णी
उपानहावुप मुञ्चते” इति यदिहितं, तस्य प्रशंसां दर्शयति,—
“प्रजापतिः अग्निम् अचिनुत सः सुरपतिः भूत्वा अतिष्ठत् तं देवा
विभक्तः न उपायन् ते हन्द्वाभिः आत्मानं ह्लादयित्वा उप आयन्
तत् हन्द्वा हन्द्वां ब्रह्म वै हन्दाश्मि ब्रह्मणः एतत् रूपं
यत् हन्द्वाजिनं कार्ष्णी उपानहौ उप मुञ्चते • हन्द्वाभिः एव
आत्मानं ह्लादयित्वा अग्निम् उप चरति आत्मनः अहिष्वायै^(१)”
इति । यदा ‘प्रजापतिः’ ‘अग्निं’ चितवान्, तदा ‘सः’ अग्निः
‘सुरपतिः’ ‘भूत्वा’ केनापि अगम्यः ‘अतिष्ठत्’ । सुरधारायमाना
धारा यच्च यच्च सोऽयं सुरपतिः ; तथाविधवत्तत् अत्युपः

इत्यर्थः । 'तं' तादृशम् अग्निं दृष्ट्वा 'देवाः' भीताः सन्तः तत्-
 समीपं 'न' प्राप्ताः । ततः प्रतीकारं विचार्य कन्दोयुनैर्मनैः खगरीरम्
 आच्छाद्य मन्त्रजपेन रक्षां कृत्वा वज्रिसमीपमागताः । आदयन्ति
 एभिः—इति व्युत्पत्त्या 'कन्दस्त्रं' सम्पन्नम् । तेषां च कन्दर्वा वेदे
 अन्तर्भूतत्वात् वेद एव तद्रूपम् । 'कृष्णाजिनं' च वेदस्य स्वरूपम् ।
 "अक्षसामे वै देवेभ्यो यज्ञायातिष्ठमाने कृष्णो रूपं कृत्वा" (६।१।
 ३।१) इत्युक्त्वात् तस्मात् कृष्णाजिननिर्मिते 'उपानहौ' 'उप'—
 'सुञ्चते' । तथा सति 'कन्दोभिः एव' खगरीरमाच्छाद्य अग्नेः
 उपचरणात् स्वस्य हिंसा न भवति । यद्यपि "मृत्युर्वा एष यदग्नि-
 र्नेष्ट्य एतद्रूपं यत् कृष्णाजिनम्" (५।४।४।४) इति प्रशंसापि तत्रैव
 कृता, तथापि तस्या एवायं प्रपञ्च इत्यविरोधः ।

"एषां वा एतन्नोकानाम्" (५।१।६।१) इत्यस्मिन् अनुवाके
 यद्विहितं "मध्ये पुरुषशीर्वसुप दधाति सवीर्यलायोखायामपि दधाति"
 इति, तदेतत् पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां प्रशंसितुं पूर्वपक्षं तावद्भ्रमयति,—
 "देवनिधिः वै एषः नि धीयते यत् अग्निः अन्ये वा वै निधिम्
 अगुप्तं विन्दन्ति न वा प्रति प्र जानाति उखाम् आक्रामति
 आत्मानम् एव अधिपां कुर्वते गृह्ये^(१)" इति । योऽयं वीर्यमानोऽग्निः,
 योऽयं देवानां निधिस्थानीयः । एवं सति लोके यो निधिः अगुप्तो
 भवति, तं 'निधिम्' 'अन्ये' 'वा' विरोधिनो लभन्ते, स्वयं वा
 कदाचित् तदीयस्यानविसरणेन तं निधिं 'न' 'प्र'—'जानाति' ।
 अतो दोषद्वयपरिहाराय पूर्वम् उपदिष्टां 'उखां' संपादेन
 आक्रामेत् । तथा सति यजमानः स्वात्मानम् 'एव' निधेः 'अधिपां'

पादकं करोति । तच्च रक्षणाय भवति । आक्रमणेन खलुऋ
दृडीकृतत्वात् न कदाचित् विस्मरति, खेन रक्षितत्वादेव वैरिणोऽपि
तं निधिं न लभन्ते ।

अथ सिद्धान्तं दर्शयति,—“अथो खलु आज्ञः न आक्रम्या इति
निर्णयती उखा यत् आक्रामेत् निर्णयत्यै आत्मानम् अपि दध्यात्
तस्मात् न आक्रम्यां पुरुषशीर्षम् उप दधाति गुप्त्यै अथो यथा
ब्रूयात् एतत् मे गोपाय इति तादृक् एव तत्^(१)” इति । अभिज्ञाः
खलु तं पक्षम् अनादृत्य एवम् ‘आज्ञः’* पादेन सा इयम् उखा
‘न आक्रम्या इति’ । तत्रायं हेतुः,—इयम् ‘उखा’ राजसदेवताया
निर्णयतेः सम्बन्धिनी । अतः उखायाः आक्रमणे ‘निर्णयत्यै’
स्वप्नरीरं समर्पयेत् । ‘तस्मात्’ सर्वथा ‘न’ आक्रमणीया । यदि
निधेर्गुप्तिः अपेक्षिता, तर्हि ‘पुरुषशीर्षम्’ उखायामं उपरि
स्थापयेत् । तथा मति, ‘यथा’ लोके कश्चित् पुरुषं रक्षकं
निधिसमीपे अवस्थाप्य मदीयम् ‘एतत्’ द्रव्यं ‘गोपाय’ इति स्वामी
‘ब्रूयात्’, ‘तादृक् एव’ ‘तत्’ पुरुषशीर्षस्थापनं द्रष्टव्यम् ।

पञ्चमप्रपाठके “य एवं विद्वानग्निं चिनुते अघ्नोत्येव” (१।५।१।१)
इति यज्ञयनविधिः उक्तः, तं पुनः प्रशंसति,—“प्रजापतिः वै अथर्वा
अग्निः एवं दध्यङ् आथर्वणः तस्य इष्टकाः अस्थानि एतं ह वाव तत्
अग्निः अभ्यनुवाच इन्द्रः दधीचः अस्थभिः इति यत् इष्टकाभिः अग्निं
चिनुति सात्मानम् एव अग्निं चिनुते^(२)” इति । अत्र कश्चित्

* ‘अनादृत्यैव आज्ञः’ इति आदर्शमुक्तके पाठः ।

अग्नौ वैश्वानरपुरोडाग्रं 'जुहोति' इति 'यत्', तेन अग्निदेवतायाः
'शरीरम् एव' 'संस्कृत्य' पश्चात् आकूटो भवति ।

तस्य एतस्य वैश्वानरपुरोडाग्रस्य चोदकप्राप्तम् अवदानं निवेधति;—
“शरीरं वै एतत् यजमानः संस्कुरुते यत् अग्निं चिनुते यत्
चिते वैश्वानरं जुहोति शरीरम् एव संस्कृत्य आत्मना अभ्यारोहति
तस्मात् तस्य न अत्र अग्निं जीवन् एव देवान् अपि एति^(१)” इति ।
‘यजमानः’ ‘अग्निं’ ‘चिनुते’ इति ‘यत्’, तेन अग्नौ स्वशरीरमेव
संस्करोति । एवं सति, ‘चिते’ अग्नौ वैश्वानरपुरोडाग्रं ‘जुहोति’
इति ‘यत्’, तेन स्वशरीरमेव ‘संस्कृत्य’ तस्मिन् शरीरे जीवरूपेण
आकूटो भवति । ‘तस्मात्’ ‘तस्य’ जीवात्मस्थानीयस्य पुरोडाग्रस्य
अवदानं ‘न’ कुर्यात् । तदकरणे च स्वयं ‘जीवन् एव’ ‘देवान्’
प्राप्नोतीति ।

“यावन्तौ वै पृथिवी” (५।२।१।१) इत्यनुवाके “पुरीषेषाभ्युचति”
इति यत् विहितं, तच्च “पृष्ठो दिवि (१।५।११।१) इत्येताम् अक्षम
अन्यथाकामां विनियुङ्क्ते, “वैश्वानर्या अक्षो पुरीषम् उप दधाति
इयं वै अग्निः वैश्वानरः तस्य एषा चितिः यत् पुरीषम् अग्निम्
एवं वैश्वानरं चिनुते एषा वै अग्नेः प्रिया तनूः यत् वैश्वानरः प्रियाम्
एव . अक्ष तनुवम् अव हन्ते^(२)” इति । “पृष्ठो दिवि” इति
मन्त्रप्रतिपाद्यो यः ‘वैश्वानरः’ ‘अग्निः’, स भूमिस्वरूप एव ।
‘पुरीष’ च चित्तिस्वरूपम् । अतः पुरीषोपधानेन भूमिरूपं वैश्वानरा-
ग्निमेव चित्तवान् भवति । किञ्च वैश्वानरशब्दोदितः सर्वपुरुष-

* ‘यच्च’ इति आर्यभट्टकवे, आ० श्री० पुष्पके च पाठो न खनीचीनः ।

हितकारी यो विग्रहः, 'एषा' एव 'अग्नेः' 'प्रिया' 'तनुः' । ततो
वैश्वानरमन्त्रेण उपधाने सति अग्नेः 'प्रियाम्' 'एव' 'तनुवं' प्राप्नोति ।
एतानि च ब्राह्मणवाक्यानि विधिप्रेषत्वात् तद्विधिसमीपे एव
द्रष्टव्यानि ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छान्दोग्यजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अग्नेर्वै द्वांश्या देवा विराजमान्बुवन्^(१) तिस्रो
रात्रीर्दीक्षितः स्यान्निपदा विराड्विराजमाप्नोति
षड्भ्रात्रीर्दीक्षितः स्यात् षड्वा ऋतवः संवत्सरः संवत्सरो
विराड्विराजमाप्नोति दश रात्रीर्दीक्षितः स्यात् दशा-
क्षरा विराड्विराजमाप्नोति द्वादश रात्रीर्दीक्षितः स्यात्
द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो विराड्विराजमा-
प्नोति चयौदश रात्रीर्दीक्षितः स्यान्नयौदश ॥ १ ॥

मासाः संवत्सरः संवत्सरो विराड्विराजमाप्नोति
पञ्चदश रात्रीर्दीक्षितः स्यात् पञ्चदश वा अर्धमासस्य
रात्रयोऽर्धमासशः संवत्सर आप्यते संवत्सरो विराड्-
विराजमाप्नोति सप्तदश रात्रीर्दीक्षितः स्यात् द्वादश
मासाः पञ्चतवः स संवत्सरः संवत्सरो विराड्विराज-
माप्नोति चतुर्विंशतिः रात्रीर्दीक्षितः स्याच्चतुर्विंशति-

रर्धमासाः संवत्सरः संवत्सरो विराड्विराजमाप्नोति
चिःशतः राचीर्दीक्षितः स्यात् ॥ २ ॥

चिःशदक्षरा विराड्विराजमाप्नोति मासं दीक्षितः
स्यात् यो मासः स संवत्सरः संवत्सरो विराड्विराज-
माप्नोति चतुरो मासो दीक्षितः स्याच्चतुरो वा एतं
मासो वसवोऽविभरुस्ते पृथिवीमाजयन् गायत्रीं
छन्दोऽष्टौ रुद्रास्तोऽन्तरिक्षमाजयन् चिष्टुभं छन्दो
द्वादशादित्यास्ते दिवमाजयन् जगतीं छन्दस्ततो वै
ते, व्यावृत्तमगच्छन् अथ देवानां^(१) तस्माद्द्वादश
मासो भूत्वाऽग्निं चिन्वीत द्वादश मासाः संवत्सरः
संवत्सरोऽग्निश्चित्यस्तस्याहोरात्राणीष्टका आनेष्टकमेवं
चिनुतेऽर्थो व्यावृत्तमेव गच्छति अथः समाना-
नाम्^(१) ॥ ३ ॥

स्यान्नयोदश । चिःशतः राचीर्दीक्षितः स्यात् । वै
ते । अष्टाविःशतिश्च ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पष्ठप्रपाठके
सप्तमोऽनुवाकः ॥ • ॥

षष्ठे प्रशंसाः कथितास्तत्तद्विधनुवादतः ।

अथ सप्तमे दीक्षाविकल्पान् विधातुं प्रसूति,—“अग्नेः वि दीक्षया देवाः विराजम् आप्नुवन्^(१)” इति । मौण्ड्यमौनादिमिथुन-स्त्रीकाररूपा दीक्षा । शीयमानस्य “अग्नेः” सम्बन्धिन्या तादृश्या ‘दीक्षया’ ‘देवाः’ ‘विराजं’ प्राप्ताः । विराट्कन्द-शब्दः प्रशस्त-कन्दोविशेषं ब्रूते । तेन च विशिष्टं राज्यम् उपलब्ध्यते । तत् राज्यं प्राप्ताः इत्यर्थः । अतो विधास्यमानेषु दीक्षाकालविकल्पेषु सर्वत्र विराट्प्राप्तिः उपन्यस्यते ।

तानेतान् विकल्पितपक्षान् विधत्ते,—“तिस्रो रात्रीः दीक्षितः स्यात् त्रिपदा विराट् विराजम् आप्नोति षट् रात्रीः दीक्षितः स्यात् षट् वै ऋतवः संवत्सरः संवत्सरो विराट् विराजम् आप्नोति दश रात्रीः दीक्षितः स्यात् दशाक्षरा विराट् विराजम् आप्नोति द्वादश रात्रीः दीक्षितः स्यात् द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो विराट् विराजम् आप्नोति त्रयोदश रात्रीः दीक्षितः स्यात् त्रयोदश मासाः संवत्सरः संवत्सरो विराट् विराजम् आप्नोति पञ्चदश रात्रीः दीक्षितः स्यात् पञ्चदश वै अर्धमासस्य रात्रयः अर्धमासश्च संवत्सरः आयते संवत्सरो विराट् विराजम् आप्नोति सप्तदश रात्रीः दीक्षितः स्यात् द्वादश मासाः पञ्च ऋतवः सः संवत्सरः संवत्सरो विराट् विराजम् आप्नोति चतुर्विंशतिः रात्रीः दीक्षितः स्यात् चतुर्विंशतिः अर्धमासाः संवत्सरः संवत्सरो विराट् विराजम् आप्नोति चिह्नतः रात्रीः दीक्षितः स्यात् चिह्नदक्षरा विराट् विराजम् आप्नोति मासं दीक्षितः स्यात् सः मासः सः संवत्सरः संवत्सरो विराट् विराजम् आप्नोति चतुरः मासः

दीक्षितः स्यात् चतुरो वै एतं मासः वसवः अविभक्तः, ते पृथिवीम्
 वा अजयन् गायत्रीं कन्दः अष्टौ रुद्राः ते अन्नरिक्तम् वा अजयन्
 चिष्टुम् कन्दः द्वादश आदित्याः ते दिवम् वा अजयन् जगतीं कन्दः
 मतो वै ते व्यावृत्तम् अगच्छन् औष्ठ्यं देवानाम्^(१) इति । चिराच-वत्-
 राच-दशराच-द्वादशराच-त्रयोदशराच-पञ्चदशराच-सप्तदशराच-चतु-
 विंशतिराच-चिंशद्वाच-मास-चतुर्मासाष्टमास-द्वादशमासरूपान्त्योदश
 पक्षा विकल्पिताः । दशाक्षरैस्त्रिभिः पादैरुपेतं विराडाख्यं कन्दः । अतः
 चित्-सङ्ख्याया तत्प्राप्तिः । षट्सङ्ख्यानाम् षट्त्रिंशत्संवत्सरावयवत्वेन
 संवत्सरस्वरूपत्वात्, संवत्सरस्य च षट्त्रिंशद्भिर्दिनदशकैः निष्पाद्यत्वात्,
 दशमङ्ख्यायाश्च विराट्पदाक्षरगतत्वात् संवत्सरद्वारा तत्प्राप्तिः । एवं
 सर्वत्र द्रष्टव्यम् । अधिकमासेन* सह 'त्रयोदश मासाः' । सावनमासस्य
 चिंशद्वाचनियमेऽपि चान्द्रमासस्य तन्नियमाभावात् तदपेक्षया पृथग्-
 मासोपन्यासः । 'वसवः' मासचतुष्टयम् उल्ल्याप्तिं भूत्वा 'पृथिवीं' गायत्री-
 कन्दोदेवताञ्च वशीकृतवन्तः । 'रुद्राः' तु मासाष्टकं भूत्वा 'अन्नरिक्तं'
 चिष्टुपकन्दो देवताञ्च वशीकृतवन्तः । 'आदित्याः' तु मासद्वादशकं
 भूत्वा द्युलोकं जगतीकन्दो देवताञ्च वशीकृतवन्तः । एतेषु पक्षेषु
 संवत्सरपक्षस्य अत्यन्तं प्रशस्तत्वात् आदित्याः इतरेभ्यो व्यावृत्तिं प्राप्य
 'देवानीं' मध्ये 'औष्ठ्यं' प्राप्ताः ।

अतः एतमेव पक्षम् आदरेण पुनः प्रशंसति,—“तस्मात्
 द्वादश मासः भूत्वा अग्निं चिन्वीत द्वादश मासाः .संवत्सरः

* एवमेव सर्वत्र पाठः । 'अधिकमासेन' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† एवमेव सर्वत्र पाठः । 'भूत्वा' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

संवत्सरः अग्निः चित्वाः तस्य अहोरात्राणि दृष्टकाः प्राप्तेष्टकम् एनं
 चितुते अथो व्यावृत्तम् एव गच्छति अष्टयः समानानाम्^(१)” इति ।
 द्वादशमासानुपस्थानकाले नैरन्तर्येण उक्त्याग्निं ‘भूत्वा’ ‘अग्निं’
 चितुयात् । मासद्वादशकस्य संवत्सररूपत्वात् चित्वाग्निरपि धारणद्वारा
 संवत्सरात्मकः । ‘तस्य’ संवत्सरात्मनः अग्नेः ‘दृष्टकाः’ एव ‘अहोरात्राणि’ ।
 ततः संवत्सरधारणेन सम्पूर्णत्वेन प्राप्तेष्टकम् इमम् अग्निं चितवान्
 भवति । अपिच इतरेभ्यः अग्निचिद्भ्यो व्यावृत्तः ‘समानानां’ मध्ये
 ‘अष्टयः’ प्राप्नोति । यद्यपि “तस्मात् संवत्सरं भार्यः” (५।५।२।५)
 इत्यादौ संवत्सर-चिराच्च-षड्राच्च-द्वादशराच्चपक्षाः विहिताः, तथापि
 अर्थवादसम्बन्धार्थम् अत्र पुनरुपन्यासः ।

एतच्च ब्राह्मणं अग्नावैष्णवविधिवत् “षड्भिर्दीक्षयति” (५।१।८ अ०)
 इत्यनुवाकसमीपे द्रष्टव्यम् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥०॥

सुवर्गाय वा य एष लोकाय चोयते यदग्निस्तं यन्ना-
 न्वारोहेत् सुवर्गाल्लोकाद् यजमानो ह्यीयेत पृथिवी-
 माऽक्रमिषं प्राणो मा मा हासोदन्तरिक्षमाऽक्रमिषं
 प्रजा मा मा हासोद्विमाऽक्रमिषः सुवर्गन्मृत्याह्वेष
 वा अग्नेरन्वारोहस्तेनैवैनमन्वारोहति सुवर्गस्य लोकस्य
 समष्टौ^(१) यत्पक्षसंमितां मिनुयात् ॥ १ ॥

कनीयाऽसं यज्ञक्रतुमुपेयात्पापीयस्यस्यात्मनः प्रजा
 स्याद्देदिसंमितां मिनेति ज्यायाऽसमेव यज्ञक्रतुमुपैति
 नास्यात्मनः पापीयसी प्रजा भवति^(१) साहसं चिन्वीत
 प्रथमं चिन्वानः सहस्रसंमितो वा अयं लोक इममेव
 लोकमभिजयति द्विषाहसं चिन्वीत द्वितीयं चिन्वानो
 द्विषाहसं वा अन्तरिक्षमन्तरिक्षमेवाभि जयति
 त्रिषाहसं चिन्वीत तृतीयं चिन्वानः ॥ २० ॥

त्रिषाहसो वा असौ लोकौऽमुमेव लोकमभि
 जयति^(१) जानुद्वयं चिन्वीत प्रथमं चिन्वानो गायत्र्ये-
 वेमं लोकमभ्यारोहति नाभिद्वयं चिन्वीत द्वितीयं चि-
 न्वानस्त्रिष्टुभैवान्तरिक्षमभ्यारोहति ग्रीवद्वयं चिन्वीत
 तृतीयं चिन्वानो जगत्त्रैवामुं लोकमभ्यारोहति^(१)
 नामिं चित्वा रामामुपेयादयो नौ रेतो धास्यामीति न
 द्वितीयं चित्वा न्यस्य स्त्रियम् ॥ ३ ॥

उपेयान्न तृतीयं चित्वा काञ्चनोपेयाद्रेतो वा
 शतानि धत्ते यद्विं चिनुते यदुपेयाद्रेतसा व्यूध्यते^(१)
 अथो खल्वाहुरप्रजस्यन्तद्यन्नोपेयादिति यद्रेतःसिचा-
 बुपदधाति ते एव यजमानस्य रेतो बिभृतस्तस्मादु-
 पेयाद्रेतसोऽस्कांदाय^(१) चीणि वाव रेतोऽसि पिता पुत्रः
 पौत्रः ॥ ४ ॥

यद्दे रेतःसिचावुपदध्याद्रेतोऽस्य वि ष्विष्यात्
 तिस्र उप दधाति रेतसः सन्तत्यै^७ इयं वाव प्रथमा
 रेतःसिग्वाग्वा इयं तस्मात्पश्यन्तीमां पश्यन्ति वाचं
 वदन्तीमन्तरिक्षं द्वितीया प्राणो वा अन्तरिक्षं
 तस्मान्नान्तरिक्षं पश्यन्ति न प्राणमसौ तृतीया चक्षुर्वा
 असौ तस्मात्पश्यन्त्यमूं पश्यन्ति चक्षुः^(८) यजुषेमाच्च ॥ ५ ॥

अमूञ्चोप दधाति मनसा मध्यमामेषां लोकानां
 कृत्वा अथो प्राणानाम्^(९) इष्टो यज्ञो ध्रुगुभिराशीर्दा
 वसुभिस्तस्य त इष्टस्य वीतस्य द्रविणेह भक्षीय^{१०} इत्याह
 स्तुतशस्त्रे एवैतेन दुहे^(११) पिता मातरिश्वाऽच्छिद्रा पदा
 धा अच्छिद्रा उशिजः पदाऽनु तक्षुः सोमो विश्वविस्त्रेता
 नेषदृष्टहस्यतिरुक्थामदानि शःसिषदित्याहैतद्वै, अग्ने-
 रुक्थन्तेनैवैनमनु शःसति^(१२) ॥ ६ ॥

मिनुयात् । तृतीयं चिन्वानः । स्त्रियम् । पौचः ।
 च । वै । सप्त च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
 अष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

दीक्षाकालविकल्पा ये ते मग्नम उदीगिताः ।

अथ अष्टमे अग्नारोहणादिकमुच्यते । यदुक्तं सूचकारेण 'नमसो

हरये प्रोचिष इति दाभ्यामग्निमधिरोहति पृथिवीमाक्रमिषमित्येते-
 यजमानः इति । तद्विधिमिहोन्नयति,—“सुवर्गाय वै एष लोकाश्च
 चीयते यत् अग्निः तं यत् न अन्वारोहेत् सुवर्गात् लोकात् यजमानः
 चीयेत पृथिवीम् आ अक्रमिषं प्राणः मा मा हासीत् अन्तरिक्षम् आ
 अक्रमिषं प्रष्टा मा मा हासीत् दिवम् आ अक्रमिषं सुवः अग्न्य
 इति आह एषः वै अग्नेः अन्वारोहः तेन एव एनम् अन्वारोहति सुवर्गस्य
 लोकस्य समक्षे^(१)” इति । योऽयं चीयमानः ‘अग्निः’, ‘एषः’ सुवर्ग-
 लोकार्थे ‘चीयते’; अतः तस्य अन्वारोहाभावे ‘सुवर्गात्’ ‘हीयते’, तन्मा
 भूदिति पृथिवीमित्यादिभिरन्वारोहनिधुन्येयः । मन्वार्थान्त,—
 यजमानोऽहं ‘पृथिवी’ पादेन ‘आ’-‘अक्रमिषम्’, अतः ‘प्राणः’ ‘मा’
 माम् परित्यजतु । अन्तरिक्षातिक्रमणेन पुत्रादिप्रजा ‘मा’ परित्यजतु ।
 दिवः आक्रमणेन स्वर्गं प्राप्नुमः । एतन्मन्त्रपाठ एव अग्नेरन्वारोहण-
 हेतुः । अतः ‘तेनैव’ ‘अन्वारोहति’, तच्च स्वर्गप्राप्तौ भवति ।

अथ यूपैकादशिन्यां कस्मिदिशेषं विधत्ते,—“यत् पक्षमस्मितां
 मितुयात् कनीयाऽं यज्ञक्रतुम् उपेयात् पापीयसी अस्य आत्मनः
 प्रजा स्यात् वेदिसस्मितां मिनोति ज्यायाऽमम् एव यज्ञक्रतुम्
 उपेति न अस्य आत्मनः पापीयसी प्रजा भवति^(२)” इति ।
 पक्षद्वैत्यपरिमिते एव देशे यदि एकादशिन्याम् अवस्थावयेत्, तदानीम्
 अत्यल्पं ‘यज्ञक्रतुं’ प्राप्नुयात् । ‘अस्य’ यजमानस्य स्वकीया ‘प्रजां’
 ‘पापीयसी’ च भवेत् । अतः पक्षपरिमाणादधिके वेदिप्रमाणयुक्तदेशे

• ‘एवमेव सर्वत्र पाठः । ‘विधिवन्नेयः’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

यूपान्तरालानि त्रिलिख्य एकादशिनो मितुयात् । तथा सति प्रभृतम् 'एव' 'यज्ञकृतुं' प्राप्नोति । 'अस्य' 'प्रजा' च 'पापीयसी' 'न' 'भवति' । पूर्वस्मिन् प्रपाठके "वज्र एकादशिनी" (५।५।७) इत्येष प्रकृतिभूते चयने पञ्चेकादशिनीपक्षेऽपि एक एव यूपः न तु यूपैकादशिनीति उक्तम् ; इह तु चयनविकृतिषु यूपैकादशिनी अभ्युपगम्यते इत्यविरोधः ।

अथ पक्षसु अपि चितिषु सभूय दृष्टकासङ्ख्यां विधत्ते,—“साहस्रं चिन्वीत प्रथमं चिन्वानः सहस्रसंमितो वै अयं लोकः इमम् एव लोकम् अभि जयति दिवाहस्रं चिन्वीत द्वितीयं चिन्वानो दिवाहस्रं वै अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षम् एव अभि जयति त्रिवाहस्रं चिन्वीत तृतीयं चिन्वानः त्रिवाहस्रो वै असौ लोकः असुम् एव लोकम् अभि जयति^(१)”—इति । सहस्रसङ्ख्याकानाम् दृष्टकानां समूहः साहस्रम् । अथ वा सहस्रसङ्ख्याकाभिः दृष्टकाभिः निष्पाद्यः अग्निः साहस्रः । यः प्राथमिकम् अग्निं 'चिन्वीत', स तु 'साहस्रं' कुर्यात् । द्वितीयवारं 'चिन्वानो' द्विगुणम् । तृतीयवारं 'चिन्वानः' त्रिगुणम् । पृथिव्यन्तरिक्षलोकोक्त्य उत्तरोत्तरभूयस्त्वात् तत्तच्चितिसंमिताः । अतः तैः चयनैः तत्प्राप्तिः ।

पक्षत्रयेऽपि क्रमेणोऽर्द्धपरिमाणं विधत्ते,—“जातुदन्नं चिन्वीत प्रथमं चिन्वानो गायत्रियै एव इमं लोकम् अभ्यारोहति नाभिदन्नं चिन्वीत द्वितीयं चिन्वानः क्षिपुभा एव अन्तरिक्षम् अभ्यारोहति पीवदन्नं चिन्वीत तृतीयं चिन्वानो जगती एव असुं लोकम् अभ्यारोहति^(२)” इति । यथा प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चिनीनाम्

उत्तरोत्तरम् औक्त्यम्, अत एव गायत्री-चिदुक्-जगतीनाम्
उत्तरोत्तरम् अक्षराधिक्यम् । अतः क्रमेण गायत्र्यादिद्वारा
लोकत्रयम् अधिरोहति ।

त्रिविधचयने क्रमेण नियमविशेषान् विधत्ते,—“न अग्निं चित्वा
रामाम् उपेयात् अयोनौ रेतो धाम्नामि इति न द्वितीयं चित्वा
अन्यस्य स्त्रियम् उपेयात् न तृतीयं चित्वा काश्चन उपेयात् रेतो
वै एतत् नि धत्ते यत् अग्निं चिनुते यत् उपेयात् रेतसा व्युत्थेत^(१)”
इति । यः प्राथमिकम् अग्निचयनं करोति, सः ‘रामां’ ‘न’
‘उपेयात्,—स्वकीयासु भार्यासु मध्ये रमणीया इयम् इति मत्वा
कामुको न प्रवर्त्तेत, पुत्रार्थं तस्याम् ईप्सिता अनुज्ञा । रामोपगमना-
भावे अयं हेतुः,—‘अयोनौ’ पुत्रोत्पत्त्यनुपयुक्तायां दृष्टेव ‘रेतः’
स्थापयिष्यामीति तस्मा भृदित्यनुपगमनम् । द्वितीयचयनानुष्ठायी
सार्वत्रर्णिकत्रिवाहोपेतः ‘अन्यस्य’ वर्णान्तरस्य दुहितरं ‘न’ ‘उपेयात्’
सर्वर्णायाम् ईप्सितस्यानुज्ञा* । तृतीयचयनानुष्ठायी सर्वर्णाम् असर्वर्णां
रमणीयां पुत्रार्थिनीं वा कामपि ‘न’ ‘उपेयात्’ । तत्रार्थं हेतुः,—
‘अग्निं चिनुते’ इति ‘यत्’, तद्वेतसो गुप्तत्वेन स्थापनम् ; तथा सति
उपगमने ‘रेतसा’ वियुक्तो भवति ।

तमिमम् अगमनपत्रं दूषयित्वा सर्वत्र गमनमभ्यनुजानाति,—
“अथो खलु आहुः अप्रशस्यं तत् यत् न उपेयात् इति यत्
रेतःसिद्धौ उपदधाति ते एव यजमानस्य रेतो विभ्रतः तस्मात्

* पूर्वञ्च ‘ईप्सितानुज्ञा’ अत्र च ‘ईप्सितस्यानुज्ञा’ इति विभिन्नपाठो
न समीचीन इव प्रतिभाति ।

उपेयात् रेतसः अस्कन्दाय^(१)” इति । अभिज्ञाः ‘खलु’ एवम्
 ‘आहुः’ । अनुपगमनम् ‘अप्रजस्यं’ प्रजोत्पादनहेतुर्न भवति । न
 च उपगमने रेतोद्धानिः शङ्कनीया । “विराट् ज्योतिः” (४।२।८।४)
 इत्यादिमन्त्राभ्यां ‘रेतःसिचौ’ इष्टके अनेन उपहिते । तस्मात् ‘ते
 एव’ अस्य ‘यजमानस्य’ ‘रेतः’ पालयतः । अतो ‘रेतसः’
 विनाशाभावाय प्रजोत्पत्त्यर्थम् ‘उपेयात्’ । साहस्रादिविधीनाम्
 आह्वातब्राह्मणोक्तावपि(?) अत्रकाशाभावात् सर्वान्ते निवेशः* । पूर्वस्य
 तु अन्वारोहणविधेः “नमस्ते हग्ने” इत्याद्यधिरोहणादूर्ध्वभावितात्
 ‘अग्निरूर्ध्वमिति परिषिञ्चति” (५।४।४।२) इत्यनुवाकान्ते निवेशः ।

पूर्वस्मिन् प्रपाठके “यदिराजावुपदधाति” (५।५।४।२) इत्यादिना
 रेतःसिचो विधानमुक्तं, तत्रैव कश्चिद्विशेषं विधत्ते,—“त्रीणि वाव
 रेतांसि पिता पुत्रः पौत्रः यत् द्वे रेतःसिचौ उपदध्यात् रेतः
 अस्य विच्छिन्धात् तिस्रः उप दधाति रेतसः सन्तत्यै^(२)” इति ।
 योऽयं ‘पिता’ इदानीं वर्त्तते, सः अतीतस्य कस्यचित् रेतः ।
 अस्य पितुः ‘पुत्रः’ रेतः । ‘पौत्रः’ तु पुत्रस्य रेतः । एवं
 पितृपुत्रपौत्राणां ‘त्रीणि’ ‘रेतांसि’ । तथा सति द्वयोरेव रेतःसिचोः
 उपधाने सति अवशिष्टं ‘रेतः’ ‘वि’-‘च्छिन्धात्’ तस्मात् ‘तिस्रः’
 रेतःसिचः उपदध्यात् । तच्च रेतः ‘सन्तत्यै’ सम्यद्यते ।

तिस्रोऽपि रेतःसिचः क्रमेण प्रशंसति,—“इयं वाव प्रथमा
 रेतःसिक् वाक् वै इयं तस्मात् पश्यन्ति इमां पश्यन्ति वाचं वदन्तीम्
 अन्तरिक्षं द्वितीया प्राणो वै अन्तरिक्षं तस्मात् न अन्तरिक्षं

* ‘आह्वातः ब्राह्मणोक्तावपि’ इत्येवं सर्वत्र पाठः न समीचीनः ।

पश्यन्ति न प्राणम् असौ तृतीया चक्षुः वै असौ तस्मात् पश्यन्ति
 अमूं पश्यन्ति चक्षुः^(८)” इति । या ‘प्रथमा’ ‘रेतःसिक्’ सा
 भूमिरेव प्राथम्यमाभ्यात् । भूमिश्च वायूपैव अधोऽवृत्तित्वमाभ्यात् ।
 आस्ये हि वाग्दृत्तित्वम्, नासिकायां प्राणः, तत उपरि चक्षुः;
 ततो वाचः, अधोऽवृत्तित्वम् । यस्मात् भूमिवासौ अधोऽवृत्तित्वेन
 समानरूपे, ‘तस्मात्’ न केऽपि नानाविधशस्यादिपूर्णम् ‘इमां’
 भूमिं मादृशरूपेण ‘पश्यन्ति’ । तथा विदत्सभायां मय्यक् ‘वदन्ती’
 ‘वाचं’ ‘पश्यन्ति’ आद्रियन्ते । येयं ‘तृतीया’ रेतःसिक्, सा च
 अन्तरिक्षरूपा मध्यमत्वमाभ्यात् । तच्च ‘अन्तरिक्षं’ प्राणस्वरूपम्
 प्राणस्यापि वाक्चक्षुषोः मध्यवर्तित्वात् । यस्मात् अन्तरिक्षप्राणयोः
 साम्यं, ‘तस्मात्’ अमूर्तम् ‘अन्तरिक्षं’ चक्षुषा न ‘पश्यन्ति’ । ‘प्राणं’
 च नासिकासञ्चारिणं चक्षुषा न पश्यन्ति । येयं ‘तृतीया’ रेतःसिक्
 दृष्टका, सा सुलोकस्वरूपा उपरिवर्तित्वमाभ्यात् । सा च द्यौः
 चक्षुःस्वरूपा, चक्षुरपि हि वाक्प्राणाभ्यामूर्ध्वं वर्तते । यस्माद्धि
 चक्षुषा साम्यं, ‘तस्मात्’ लोके जनाः सूर्यचन्द्रनक्षत्राद्यङ्गिताम्
 ‘अमूं’ दिवं प्रत्यक्षेण ‘पश्यन्ति’ । ‘चक्षुः’ अपि शुक्लकृष्णकनीनकोपेतं
 परकीयमुखस्य न प्रत्यक्षतः ‘पश्यन्ति’ ।

तदेवं तिष्ठः प्रशस्य तासु कश्चिदिशेषं विधत्ते,—“यजुषा
 इमां च अमूं च उपदधाति मनसा मध्यमाम् एषां लोकानां कृष्यै
 अथो प्राणानाम्^(९)” इति । “विगाड् ज्योतिरधारयत्”(४।१।८।४)
 इति ‘यजुषा’ उच्चारितेन ‘इमां’ प्रथमां रेतःसिक्म् उपदधात् ।
 तथा “मवाड् ज्योतिरधारयत्”(४।१।८।५) इति यजुषा उच्चारितेन

‘अमू’ द्वितीयां रेतःसिचम् उपदध्यात् । “स्वराङ् ज्योतिरधारयत्” (४।२।८।५) इत्येतत् यजुः अतुष्टार्थं ‘मनसा’ सूत्रा ‘मध्यमां’ रेतःसिचम् उपदध्यात् । अयं च प्रकारः ‘एषां’ पृथिव्यादिलोकानां स्वस्वव्यापारसामर्थ्याय सम्पद्यते । अपि च वाक्प्राणश्चक्षुराख्यानां ‘प्राणानाम्’ अपि स्वस्वव्यापारसामर्थ्याय सम्पद्यते । तदिदं रेतःसिचां ब्राह्मणं “यद्विराजावुपदधाति” इत्यनेन सह “स्वयमादृष्टानुप दधाति” (५।२।८) इत्यनुवाके द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण “एकादश सभिष्टयजूषि जुहोति न वाध्वरि-
काणि ऊत्तेष्टो यज्ञो भृगुभिरिति दशमैकादशे जुहोति” इति । तमेतम् विधातुं मन्त्रावुत्पादयति,—“इष्टो यज्ञो भृगुभिः
आशीर्दाः वसुभिः तस्य ते इष्टस्य वीतस्य द्रविणा इह भवीय^(१)”
इति । ‘भृगुभिः’ भृगुसमानैः श्वलिग्भिः, ‘वसुभिः’ निवासहेतुभिः
देवैश्च ‘इष्टः’ अयं ‘यज्ञः’ ‘आशीर्दाः’ यजमानस्य फलप्रदः अस्तु ।
सोऽयम् एको मन्त्रः । हे यज्ञ, ‘तस्य’ तादृशस्य भृगुभिरिष्टस्य
‘ते’ तव ‘द्रविणा’ फलभृताणि धनानि ‘इह’ कर्मणि ‘भवीय’ भजे
यथा प्राप्नुयाम् । सोऽयं द्वितीयो मन्त्रः ।

एतन्मन्त्रमाध्यं होमविधिमुन्नयति,—“इत्याह स्तुतशक्ते एव एतेन
दुहे^(१)” इति । इत्युक्तमन्त्रद्वयं होमकाले पठेत् । तेन स्तुतशक्ते*
उभे अपि दुग्धवान् भवति । तदिदं ब्राह्मणम् अन्ते द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण “पिता मातरि श्येति मञ्जितोऽग्रेन होतानु-
ब्रूयति होतर्यकामं यमानेऽध्वर्युः” इति । तत्र मन्त्रमुत्पाद्य
विधत्ते,—“पिता मातरि श्या अश्विद्रा पदा धाः अश्विद्राः उभिजः

* ‘स्तुते शक्ते’ इति आदर्शश्लोके पाठः ।

पदा अनु तत्तुः सोमो विश्ववित् नेता नेषत् दृश्यतिः उक्थामदानि
 शंसिषत् इति आह एतत् वै अग्नेः उक्तं तेनैव एनम् अनु शं-
 सति^(१९) इति । 'पिता' पालकः 'मातरिश्वा' वायुः 'अच्छिद्रा
 पदा' विनाशरहितानि स्थानानि 'धाः' दधातु मत्पादयतु । तथा
 'उग्निजः' कमनीया महर्षयः 'अच्छिद्राः' स्वयं विनाशरहिताः सन्तः
 पदानि स्थानानि 'अनु'-तत्तुः' सम्यक् मत्पादयन्तु । 'विश्ववित्' सर्वज्ञः
 'नेता' जगतः प्रवर्त्तकः 'सोमः' 'नेषत्' नयतु, कामानि प्रापयतु ।
 'दृश्यतिः' च 'उक्थामदानि' श्रुताणि हर्षकारणानि 'शंसिषत्'
 शंसतु । 'इति' एतादृशं मन्त्रं पठेत् । 'एतत्' एव मन्त्रस्वरूपम्
 'अग्नेः' प्रियम् 'उक्तं' श्रुतम् । 'तेनैव' मन्त्रपाठेन 'एनम्' अग्निम्
 अनुक्रमेण 'शंसति' । एतच्च ब्राह्मणं गायत्रादिमामोपम्यानेन सह
 विकर्षणादूर्ध्वं द्रष्टव्यम् ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छण्डोग्यजुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठकेऽष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

सूयते वा एषोमीनां य उखायां भ्रियते यदधः
 सादयेद्गर्भाः प्रपादुकाः स्युरथो यथा स्वात् प्रत्यव-
 रोहति तादृगेव तदासन्दी सादयति गर्भाणां धृत्या
 अप्रपादायाथो स्वमेवैनं करोति^(२०) गर्भो वा एष
 यदुख्यो योनिः शिष्यं यच्छिक्पादुखं निरुह्योनेर्गर्भं
 निर्हय्यात् षडुद्यामः शिष्यं भवति षोढाविहितो वै
 ॥ १ ॥

पुरुष आत्मा च शिरश्च चत्वार्यङ्गान्यात्मदेवैर्न
विभर्ति^(१) प्रजापतिर्वा एष यद्मिस्तस्योखा चोलू-
खलश्च स्तनौ तावस्य प्रजा उप जीवन्ति यदुखाश्चोलू-
खलश्चोपदधाति ताभ्यामेव यजमानोऽमुष्मिन् लोकै-
ऽग्निं दुहे^(२) संवत्सरो वा एष यद्मिस्तस्य चेधा-
विहिता इष्टकाः प्राजापत्या वैष्णवीः ॥ २ ॥

वैश्वकर्मणीरहोरात्राण्येवास्य प्राजापत्या यदुखं
बिभर्ति प्राजापत्या एव तदुप धत्ते यत् समिध
आदधाति वैष्णवा वै वनस्पतयो वैष्णवीरेव तदुप
धत्ते यदिष्टकाभिरग्निं चिनोतीयं वै विश्वकर्मा वैश्व-
कर्मणीरेव तदुप धत्ते तस्मादाहुस्त्रिष्टुप्त्रिरिति^(१)
तं वा एतं यजमान एव चिन्वीत् यदस्यान्यः, चिनुया-
द्यत्तं दक्षिणाभिर्न राधयेद्ग्निस्य वृञ्जीत् योऽस्याग्निं
चिनुयात्तं दक्षिणाभीराधयेद्ग्निस्येव तत् स्पृणोति
॥ ३ ॥

षोढाविहितो वै । वैष्णवीः । अन्यः । विशतिश्च
॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
नवमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अन्वार्गोहादिविधयो ह्यष्टमे समुदीरिताः ।

अथ नवमे आसन्द्यादिकमभिधीयते । “विष्णुमुखा वै देवाः” (५।२।१) इत्यस्मिन् अनुवाके ‘चतसृभिः सादयति’ इति यद्विहितं, तच्च सादनाधारं विधत्ते,—“स्रयते वै एषः अग्नीनां यः उखायां भ्रियते यत् अधः सादयेद् गर्भाः प्रपादकाः स्युः अथो यथा मवात् प्रत्यवरोहति तादृक् एव तत् आसन्दी सादयति गर्भाणां धृत्यै अप्रपादाय अथो मवम् एव एनं करोति^(१)” इति । ‘यः’ अथम् अग्निः ‘उखायां’ धार्यते, ‘एषः’ अग्निः अन्येषाम् ‘अग्नीनां’ मध्ये ‘स्रयते’ अभिषिच्यते, ईश्वरत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । यदि एतादृशम् अग्निम् ‘अधः’ भूमौ ‘सादयेत्’, तदानां प्राणिनां ‘गर्भाः’ भूमौ ‘प्रपादकाः’ पतिताः ‘स्युः’ । अपि च ‘यथा’ लोके ‘मवात्’ ऐश्वर्यपदात् ‘प्रत्यवरोहति’ भ्रम्यति । ‘तादृक् एव’ ‘तत्’ अधः-सादनम् । तस्मात् आसन्दीम् आसादयति, महत्याम् आसन्द्याम् उख्यं स्थापयेत् । तच्च स्थापनं प्राणिगर्भधारणाय पतनराहित्याय च भवति । अपि च ‘एनं’ ‘मवम्’ अभिषिक्तम् ईश्वरमेव ‘करोति’ । एतच्च सादनविधिसमीपे एव द्रष्टव्यम् ।

“न ह स्म ज्ञै पुराग्निः” (५।२।१०) इत्यनुवाके यद्विहितं ‘षडुद्यामं शिखं भवति इति’, तदेतदनूद्य प्रशंसति,—“गर्भा वै एषः यत् उख्यो योनिः शिखं यत् शिखात् उखां निरूहेत् योनेः गर्भं निर्वह्यात् षडुद्यामः शिखं भवति षोढाविहितो वै पुरुषः आत्मा च शिरस्य चत्वारि अङ्गानि आत्मन् एव एनं विभर्त्ति^(२)” इति । योऽयम् ‘उख्यः’ अग्निः, स गर्भस्थानीयः । ‘शिखं’ च योनिस्थानीयम् ।

यदि 'शिक्षात्' 'उखां' 'निरुहेत्' निर्गमयेत् विसृतेन उद्यामराक्ष-
त्येन अधः पातयेत् इत्यर्थः, तदा 'द्योनेः' सकाशात् 'गर्भं' निःशेषेण
हतवान् भवति । अतस्तत्परिहारार्थं 'शिक्षं' षड्भिः उद्यामैः ऊर्ध्व-
प्रसृतरज्जुविशेषैर्युक्तं कर्तव्यम् । लोके 'पुरुषः' 'षोढाविहितः'
षड्भिः अवयवैरुपेतः । 'आत्मा' मध्यगरीरम् एकोऽवयवः, 'शिरः'
द्वितीयावयवः, द्वौ हस्तौ, द्वौ पादौ इति 'चत्वारि' 'अङ्गानि' ।
अतः षडुद्यामे मति षडवयवयुक्तस्त्रगरीरे 'एव' 'एनम्' अग्निं धार-
यति । एतच्च वाक्यं षडुद्यामविधिममीषे द्रष्टव्यम् ।

“एषां वा एतस्माकानाम्” (५।१।८) इत्यनुवाके यत् 'उखामुप-
दधाति' इति विहितं यच्च “स्वयमावृत्ताम्” (५।२।८) इत्यनुवाके
'उलूखलमुपदधाति' इति विहितं, तदुभयमत्र सह प्रशंसति,—
“प्रजापतिः वै एष यत् अग्निः तस्य उखा च उलूखलं स्तनौ तौ
अस्य प्रजाः उप जीवन्ति यत् उखां च उलूखलं च उपदधाति
ताभ्याम् एव यजमानः असुप्तिन् लोके अग्निं दुहे^(१)” इति ।
यक्षीयमानः 'अग्निः', 'एषः' प्रजापतिस्वरूपः । तेन चितत्वात्
उखोलूखलयोः फलसाधनत्वात् स्तनसादृश्यम् । एतदनुष्ठानजन्यं
फलं 'प्रजाः' 'उप'-'जीवन्ति' । एतदुपधानेन 'यजमानः' अपि स्वर्गे
तत् फलं 'दुहे' । एतच्च उदाहृतयोः अनुवाकयोः एकत्र द्रष्टव्यम् ।

अथ उख्यधारण-समिदाधानेष्टकोपधानानि प्रशंसति,—“सं-
वत्सरो वै एषः यत् अग्निः तस्य त्रेधाविहिताः इष्टकाः प्राजापत्याः
वैष्णवीः वैश्वकर्मणीः अक्षोराचाणि एव अस्य प्राजापत्याः यत् उखं
विभर्ति प्राजापत्याः एव तत् उप धत्ते यत् समिधः आदधाति

वैष्णवाः वै वनस्पतयः वैष्णवीः एव तत् उप धने यत् द्रष्टृकाभिः
 अग्निं चिन्तति इयं वै विश्वकर्मा वैश्वकर्माणीः एव तत् उप धने
 तस्मात् आहुः चिदत् अग्निः इति^(४)” इति । योऽयं चीयमानः ‘अग्निः’
 स एव संवत्सरधारणात् संवत्सरात्मकः । ‘तस्य’ च संवत्सररूपस्य
 अग्नेः सम्बन्धित्यः ‘द्रष्टृकाः’ ‘त्रेधा विहिताः’ त्रिप्रकाराः सम्पादिताः ।
 कास्त्राः ? इति, ताः उच्यन्ते—‘प्राजापत्याः’ वैष्णव्यो वैश्वकर्माश्च ।
 यानि एतानि ‘अहोरात्राणि,’ तानि ‘एव’ ‘अस्य’ संवत्सररूपस्य
 अग्नेः प्राजापतिनिर्मितत्वात् ‘प्राजापत्याः’ द्रष्टव्याः । अत्र उच्यमानधारण
 प्राजापत्याः उपहिता भवन्ति । तदेवं प्राजापत्यादिभिः तिसृभिः
 निष्पादितत्वात् ‘अग्निः’ त्रिगुणः इति अभिज्ञाः ‘आहुः’ ।

अथ उपधानकर्तारं विधत्ते,—“तं वै एतं यजमानः एव चिन्तति
 यत् अस्य अन्यः चिनुयात् तं दक्षिणाभिः न राधयेत् अग्निम् अथ
 वृञ्जात यः अस्य अग्निं चिनुयात् तं दक्षिणाभिः राधयेत् अग्निम्
 एव तत् स्पृणोति^(५)” इति । यजमान एव चयनस्य कर्मा, न
 अध्वर्युः । यदि अध्वर्युः कुर्यात्, तदानीम् अध्वर्युः दक्षिणाभिः
 परितोषाभावे सति अग्निं नाशयेत् । अथ स्वयमशक्तः अध्वर्युणा
 कारयेत्, तदा ‘तं’ ‘दक्षिणाभिः’ तोषयेत् । तत्र ‘अग्निम्’ ‘एव’
 तोषयति । तदिदं ब्राह्मणद्वयं मन्त्रव्याख्यानमध्ये श्रवकात्राभावेन
 निवेशनीयम् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे क्षणायजुः-
 मंहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके नवमोऽनुवाकः ॥०॥

प्रजापतिरग्निमचिनुतर्तुभिः संवत्सरं वसन्तेनैवास्य
 पूर्वार्धमचिनुत ग्रीष्मेण दक्षिणं पक्षं वर्षाभिः पुच्छः
 शरदोत्तरं पक्षः हेमन्तेन मध्यं^(१) ब्रह्मणा वा अस्य
 तत् पूर्वार्द्धमचिनुत श्रुचेण दक्षिणं पक्षं पशुभिः पुच्छं
 विशोत्तरं पक्षमाशया मध्यं^(२) य एवं विद्वानग्निं चिनुत
 ऋतुभिरेवैनं चिनुतेऽथो एतदेव सर्वमव ॥ १ ॥

रुन्धे शृण्वन्त्येनमग्निं चिक्यानमच्यन्^(३) रोचते^(४) इयं
 वाव प्रथमा चित्तिरोषधयो वनस्पतयः पुरीषमन्त-
 रिक्षं द्वितीया वयाःसि पुरीषमसौ तृतीया नक्षत्राणि
 पुरीषं यज्ञश्चतुर्थी दक्षिणा पुरीषं यजमानः पञ्चमी
 प्रजा पुरीषं^(५) यन्निचितिकं चिन्वीत यज्ञं दक्षि-
 णामात्मानं प्रजामन्तरियात्तस्मात्पञ्चचितिकश्चेत्य-
 एतदेव सर्वं स्पृणोति^(६) यन्तिस्त्रिचतयः ॥ २ ॥

चिदृद्यग्निर्यद्दे हि पाद्यजमानः प्रतिष्ठित्यै^(७) पञ्च
 चितयो भवन्ति पाङ्क्तः पुरुष आत्मानमेव स्पृणोति
 पञ्च चितयो भवन्ति पञ्चभिः पुरीषैरभ्युहति दश
 सम्पद्यन्ते दशाक्षरो वै पुरुषो यावानेव पुरुषस्त-
 स्पृणोत्यथो दशाक्षरा विराडङ्गं विराड् विराज्ये-
 वान्नाद्ये प्रति तिष्ठति^(८) संवत्सरो वै षष्ठी चितिः क्रतवः
 पुरीषः^(९) षट् चितयो भवन्ति षट् पुरीषाणि षादश

सम्पद्यन्ते द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सर एव प्रति
तिष्ठति^(८) ॥ ३ ॥

अथ । चितयः । पुरीषः । पञ्चदश च ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पष्ठप्रपाठके
दशमोऽनुवाकः ॥०॥

आमन्वृष्ट्याममुख्यानि नवमे वर्णितानि हि ।

अथ दशमे चयनं वज्रधा प्रशस्यते । तत्र वसन्ताद्युतुद्गा
प्रशंसामाह,—“प्रजापतिः अग्निम् अचिनुत ऋतुभिः संवत्सरं वसन्तेनैव
अस्य पूर्वार्धम् अचिनुत यौष्णेन दक्षिणं पक्षं वर्षाभिः पुष्कः
शरदा उत्तरं पक्षं हेमन्तेन मध्यम्^(१)” इति । अत्र संवत्सरो
दृष्टान्तः । ऋतुभिर्यथा संवत्सरो निप्याद्यते, तथा ‘अग्निम्’ अपि
‘ऋतुभिः’ ‘प्रजापतिः’ ‘अचिनुत’ । ऋतुमयोऽयं यज्ञः इति मङ्गल्य
एव चयनं, तत्र वसन्तः शिरोभागः । एवं दक्षिणपक्षादयो योज्याः ।

अथ ब्राह्मणादिरूपत्वं मङ्गल्येन प्रशंसति,—“ब्राह्मणा वै अस्य
तत् पूर्वार्धम् अचिनुत क्षेत्रेण दक्षिणं पक्षं पशुभिः पुष्कं विशा
उत्तरं पक्षम् आशया मध्यम्^(२)” इति । आशा मानमी तृणादिः ।

अथ वेदनं प्रशंसति,—“य एवं विदाम् अग्निं चिनुते ऋतुभिः
एव एनं चिनुते अथो एतत् एन सर्वम् अत्र दन्धं गृह्णावन्ति एनम्
अग्निं चिक्ष्यानम् अन्ति अन्नं रोचते^(३)” इति । ‘यः’ यजमानः ‘एवं’
वसन्ताद्यात्मकत्वं ब्राह्मणाद्यात्मकत्वं च ‘विदाम्’ तथैव सर्वदा

भावयन् 'अग्निं' 'चिनुते', सः प्रजापतिवत् 'चतुभिः' ब्राह्मणा-
दिभिश्च चितवान् भवति । अपि च 'एतत्' चतुर्णां ब्राह्मणादीनां
च स्वरूपं 'सर्वम्' अधीनं करोति । किञ्च 'अग्निं' चितवन्तम् 'एनं'
यजमानं सर्वे जनाः 'शृण्वन्ति', "अग्निचित् कपिला मन्त्री" इत्यादि-
स्थितिविषयत्वेन सर्वत्र प्रसिद्धो भवतीत्यर्थः । किञ्च 'अन्नं' समृद्धं
स्वादु च सर्वदा 'अन्ति' । अपि च सर्वेभ्यः 'रोचते' प्रीतिविषयो
भवति ।

अथ चित्तिपञ्चकं पुरीषपञ्चकं च भूम्यादिरूपेण प्रशंसति,—
“इयं वाव प्रथमा चितिः ओषधयो वनस्पतयः पुरीषम् अन्तरिक्षं
द्वितीया वयांसि पुरीषम् असौ तृतीया नक्षत्राणि पुरीषं यज्ञः
चतुर्थी दक्षिणा पुरीषं यजमानः पञ्चमी प्रजा पुरीषम्^(४)” इति ।
या 'इयं' 'प्रथमा चितिः', सा भूमिरेव । यच्च तस्या उपरि
प्रसारितं 'पुरीषं', तत् ओषधि-वनस्पतिस्वरूपम् । एवमुत्तरत्रापि
द्रष्टव्यम् ।

अथ शाखान्तरगतं चित्तित्रयपञ्चकं निराकृत्य स्वकीयं चित्ति-
पञ्चकपञ्चकं स्थापयति,—“यत् त्रिचित्तिकं चिन्वीत यज्ञं दक्षिणाम्
आत्मानं प्रजाम् अन्तः इयात् तस्मात् पञ्चचित्तिकः चेतव्यः एतदेव
सर्वं स्पृणोति^(५)” इति । चतुर्थचित्ति-तत्पुरीषयोर्यज्ञ-दक्षिणा-
रूपत्वमुक्तम्, पञ्चमचित्ति-तत्पुरीषयोर्यजमान-प्रजारूपत्वम् । एवं
सति त्रिचित्तिपञ्चे यज्ञादीनाम् अन्तराधः स्यात् । 'तस्मात्'
पञ्चचित्तियुक्त एव अग्निः 'चेतव्यः' । तथा सति 'एतत्' भूम्यादिकं
'सर्वम्' अपि प्रीणयत्येव ।

आद्यं चितित्रयम् उत्तरद्वयञ्च विभज्य प्रशंसति,—“यत् तिस्रः
चितयः चिद्वत् हि अग्निः यद् द्वे द्विपाद् यजमानः प्रतिष्ठितौ^(१)”
इति । या एता आद्याः ‘तिस्रः’ ‘चितयः’, ताभिः अग्नेस्त्रैगुण्यं
सम्पादितं भवति । त्रैगुण्यञ्च प्राजापत्यादिभिरिष्टकाभिः पूर्वमुक्तम् ।
ये च उत्तरे ‘द्वे’ चितौ, ताभ्यां ‘द्विपाद् यजमानः’ प्रतिष्ठितो भवति ।

अथ समूहरूपेण प्रशंसति,—“पञ्च चितयो भवन्ति पाङ्क्तः
पुरुषः आत्मानम् एव स्पृणोति पञ्च चितयो भवन्ति पञ्चभिः पुरीषैः
अभ्युक्षति दश सम्पद्यन्ते दशाक्षरो वै पुरुषः यावान् एव पुरुषः तं
स्पृणोति अथो दशाक्षरा विराट् अन्नं विराड् विराजि एव अन्नाद्ये
प्रति तिष्ठति^(२)” इति । पुरुषस्य दशाक्षरत्वं छिद्राभिप्रायेण
द्रष्टव्यम् । यानि शिगमि मप्र छिद्राणि, ये च अधो द्वे छिद्रे, या च
नाभिः, तानि सर्वाणि यावज्जीवम् अविनाशात् अक्षराणीत्युच्यन्ते ।
एतदेवाभिप्रेत्य तत्र तत्र आन्नायते,—“मप्र वै शीर्षण्याः प्राणा
द्वाववाञ्चो । नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी” इति । अतो
दशमक्षया पुरुषं साकन्धेन प्रीणयति । किं च विराड्द्वारा अन्नं
‘प्रति’-‘तिष्ठति’ ।

अथ षष्ठ्यति तत्पुरीषञ्च प्रशंसति,—“मंवत्सरो वै षष्ठी चितिः
क्षतवः पुरीषः^(३)” इति । अत्र सर्वत्र प्रशंसारूपत्वात् मंवत्सरादि-
रूपतार्या न विस्मैतव्यम् ।

अथ सर्वे मिलित्वा(?) प्रशंसति,—“षट् चितयो भवन्ति षट्
पुरीषाणि द्वादश सम्पद्यन्ते द्वादश मामाः मंवत्सरः मंवत्सरे एव प्रति
तिष्ठति^(४)” इति । तदेतद् ब्राह्मणं सर्वान्ते द्रष्टव्यम् ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके दशमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

रोहि॑तो धूम्र॑रोहितः क॑र्कन्धु॒रोहित॑स्ते प्रा॒जाप॒त्या
बभ्रु॑र॒रुण॑बभ्रुः शु॒कब॑भ्रुस्ते रौ॒द्राः श्ये॑तः श्ये॒ताश्वः
श्ये॑तग्रीवस्ते पि॒तृदे॒वत्या॑स्ति॒क्षः कृ॒ष्णा व॒शा वा॒रुण्य॑-
स्ति॒क्षः श्वे॒ता व॒शाः सौ॒र्यो मै॒त्रावा॑र्हस्प॒त्या धूम्र॑-
ल॒लामा॑स्तूप॒राः ॥ ११ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
एकादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

चयनस्य प्रशंसा च दशमे वज्रधेरिता ।

अथाष्टादशनामानः पशवो ह्यश्वमेधिकाः ॥

अष्टादशसङ्ख्याकानां पशूनाम् एकैकः सङ्घातः । तत्र अस्मिन्
एकादशे अनुवाके प्रथमं सङ्घमाह,—“रोहितो धूम्ररोहितः कर्कन्धु-
रोहितः ते प्राजापत्याः बभ्रुः अरुणबभ्रुः शुकबभ्रुः ते रौद्राः श्येतः
श्येताश्वः श्येतग्रीवः ते पितृदेवत्याः तिक्षः कृष्णाः वशाः वारुण्यः
तिक्षः श्वेताः वशाः सौर्यः मैत्रावाहस्पत्याः धूम्रललामाः त्वपराः^(१)”
इति । पूर्वप्रपाठके “इन्द्राय राज्ञे सुकरः” (५।५।११) इत्यादौ
जातिभेदा उक्ताः, इह तु वर्णभेदा उच्यन्ते । ‘रोहितः’
लोहितवर्णः ‘धूम्ररोहितः’ अस्यष्टलोहितः । ‘कर्कन्धुरोहितः’ सौवीर-

वर्णः । 'ते' एते चयः 'प्राजापत्याः' प्रजापतिदेवताकाः । एवमुत्तर-
चापि एकैकस्य देवस्य चयस्तयो विज्ञेयाः । 'बभ्रुः' पाण्डुरकपिलः ।
'अरुणबभ्रुः' रक्तकपिलः । 'शुकबभ्रुः' हरितशुकममानवर्णः । 'श्वेतः'
अरक्तकवर्णः, शुकैरक्त इत्येके । 'श्वेताक्षः' रक्तदृष्टिः । 'श्वेतग्रीवः'
प्रसिद्धः । 'बृहत्' इत्यादिकं स्पष्टम् । 'धूम्रललामाः' धूम्रवर्णपुण्ड्राः ।
'तपराः' गृह्णहीनाः ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीयं वेदार्थप्रकाशे कृष्णयज्ञः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

पृश्निस्तिरश्चीनपृश्निरूद्धेपृश्निस्ते मारुताः फल्गू-
र्लोहितोर्णी बलक्षी ताः सारस्वत्यः पृषती स्थूलपृषती
क्षुद्रपृषती ता वैश्वदेव्यस्तिस्रः श्यामा वशाः पौष्णाय-
स्तिस्रो रोहिणीर्वशा मैत्रिय ऐन्द्राबाहस्पत्या अरुण-
ललामास्तूपराः ॥ १ ॥

रोहितः पृश्निः षड्विंशतिः षड्विंशतिः ॥ १२ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
द्वादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अथ द्वितीयं महामाह, -

“पृश्निः तिग्मश्चीनपृश्निः ऊर्द्धपृश्निः ते मारुताः फल्गूः लोहितोर्णी
बलक्षी ताः सारस्वत्यः पृषती स्थूलपृषती क्षुद्रपृषती ताः वैश्वदेव्यः

तिस्रः श्यामाः वशाः पौष्णिथः तिस्रो रोहिणीः वशाः मैत्रिचः
 ऐन्द्रावार्हस्यत्याः अरुणललामाः त्वपराः” इति । ‘पृश्निः’ शुक्ल-
 विन्दुचितश्चित्रवर्णः । तिर्यक्प्रवृत्तपृश्निवर्णः* । एतेन ‘ऊर्द्धपृश्निः’
 व्याख्यातः । ‘फलगूः’ लवणवर्णः । ‘लोहितोर्णी’ लोहितलोमा ।
 ‘बलची’ शुक्लावयवा । ‘पृषती’ शुक्लविन्दुभिश्चिता । ‘स्यूतपृषती’
 स्यूतशुक्लविन्दुभिश्चिता । ‘नुद्रपृषती’ सूक्ष्मशुक्लविन्दुभिरुपेता ।
 ‘श्यामाः’ श्यामवर्णाः । ‘रोहिणीः’ रोहितवर्णाः । ‘अरुणललामाः’
 मन्ध्यावर्णपुण्ड्राः ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
 संहिताभाष्ये षष्ठप्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः ॥०॥

श्रि॒ति॒बा॒हुर॒न्यतः॑ श्रि॒ति॒बा॒हुः॑ स॒मन्त॑ श्रि॒ति॒बा॒हुस्त॑
 ऐ॒न्द्रवा॒य॒वाः श्रि॒ति॒र॒न्ध्रोऽन्यतः॑ श्रि॒ति॒र॒न्ध्रः॑ स॒मन्त॑ श्रि॒ति॒-
 र॒न्ध्रस्ते॑ मै॒त्राव॑रुणाः शु॒द्धवा॑लः स॒र्वशु॑द्धवा॒लो म॒णि-
 वा॒ल्स्त आ॒श्विना॑स्ति॒स्रः श्रि॒ल्पा व॒शा वैश्व॑दे॒व्यस्ति॒स्रः
 श्येनीः॑ परमे॒ष्ठिनै॑ सोमापौ॒ष्णाः श्या॑मल॒लामा॑
 स्त॒पूराः॑ ॥ १३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
 त्रयदशोऽनुवाकः ॥०॥

* एवमेव सर्वत्र पाठः । ‘तिर्यक्षीनपृश्निः’ तिर्यक्प्रवृत्तपृश्निवर्णः—इत्थेवं
 पाठो भवितुं युक्तः ।

तृतीयं सङ्गमाह,—

“श्रितिवाङ्गः अन्यतःश्रितिवाङ्गः समन्तश्रितिवाङ्गः ते ऐन्द्रवाचवाः
श्रितिरन्ध्रः अन्यतःश्रितिरन्ध्रः समन्तश्रितिरन्ध्रः ते मैत्रावरुणाः
शुद्धवाङ्गः सर्वशुद्धवाङ्गः मणिवाङ्गः ते आश्विनाः तिस्रः शिन्धाः
वशाः वैश्वदेव्यः तिस्रः श्येनीः परमेष्ठिने सोमापौष्णाः श्यामललामा-
स्तुपराः” इति । श्रितिः शुक्रो वाङ्मैकदेशो यस्य असौ ‘श्रितिवाङ्गः’ ।
‘अन्यतःश्रितिवाङ्गः’ यत् प्रथमस्य श्रितित्वं, ततोऽन्यचैकदेशे श्रितित्वं
यस्य सः अन्यतःश्रितिः, तादृशो वाङ्मयस्य स तयोक्तः । ‘समन्तश्रिति-
वाङ्गः’ सर्वशुक्रवाङ्गः । ‘श्रितिरन्ध्रः’ शुक्रच्छिद्रः । अन्यतःश्रितिरन्ध्र-
ममन्तश्रितिरन्ध्रौ च पूर्ववत् । ‘शुद्धवाङ्गः’ शुक्रपुष्पावयवः । ‘सर्वशुद्ध-
वाङ्गः’ शुक्रमवपुष्कः । ‘मणिवाङ्गः’ शुक्राशुक्रचितवाङ्गः । ‘शिन्धाः’
नानावर्णाः । श्येन्यः शुक्रमवर्णाः । ‘श्यामललामाः’ श्यामवर्णपुष्पाः ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कण्वयजुः-
मंहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके चयोदशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

उन्नत ऋषभो वामनस्त ऐन्द्रावरुणाः श्रिति-
ककुच्छ्रितिपृष्ठः श्रितिभस्त ऐन्द्रा वाईस्पत्याः श्रिति-
पाच्छ्रित्योष्ठः श्रितिमुस्त ऐन्द्रावैष्णवास्त्रिस्तः सिन्धा
वशा वैश्वकर्मस्थस्त्रिस्तो धावे पृषोदरा ऐन्द्रापौष्णाः

श्वेतललामास्तूपराः । १ । २ । श्रित्तिबाहुदन्तः पञ्च-
विंशतिः पञ्चविंशतिः ॥ १४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
चतुर्दशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अथ चतुर्थं महामह,—

“उन्नतः ऋषभो वामनः ते ऐन्द्रावरुणाः श्रितिककुत् श्रितिपृष्ठः
श्रितिभमत् ते ऐन्द्रावार्हस्पत्याः श्रितिपात् श्रित्योष्ठः श्रितिभ्रुः ते
ऐन्द्रावैष्णवाः तिस्रः सिन्धाः वशाः वैश्वकर्मण्यः तिस्रो धात्रे पृषोदराः
ऐन्द्रापौष्णाः श्वेतललामास्तूपराः” इति । ‘उन्नतः’ उन्नतपृष्ठः
‘ऋषभः’ युवा । ‘वामनः’ ह्रस्वाङ्गः । श्रितिः शुक्रः ककुत् यस्य स
तथोक्तः । ‘श्रितिपृष्ठः’ श्वेतपृष्ठः । ‘श्रितिभमत्’ शुक्रजघनः ।
‘श्रितिपात्’ स्पष्टम् । ‘श्रित्योष्ठः’ श्वेतोष्ठः । ‘श्रितिभ्रुः’ श्वेतभ्रुः ।
‘सिन्धाः’ सिन्धलाङ्गाः, पादे श्रिताः श्वेत्याङ्गितदेहाः । ‘पृषोदराः’
पृषन्ति उदरे यासां ताः पृषोदराः । ‘श्वेतललामाः’ स्पष्टाः ।

इति माधवाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके चतुर्दशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

कर्णास्त्रयो यामाः सौम्यास्त्रयः श्रितिङ्गा अग्रये
यविष्ठाय त्रयो नकुलास्त्रिस्तो रोहिणीश्चय्यस्ता
वसूनां त्रिस्तोऽरुणा दित्यौह्यस्ता रुद्राणां सोमैन्द्रा
बभ्रुललामास्तपराः । १ । कर्णाः त्रयो विंशतिः ॥ १५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
पञ्चदशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

पञ्चमं सङ्गमाह,—

“कर्णाः त्रयो यामाः सौम्याः त्रयः श्रितिङ्गाः अग्रये यविष्ठाय
त्रयो नकुलाः त्रिस्तो रोहिणीः चय्यः वसूनां त्रिस्तो अरुणाः
दित्यौह्यः ताः रुद्राणां सोमैन्द्राः बभ्रुललामाः तपराः” इति ।
‘कर्णाः’ द्विचकर्णाः । ‘यामाः’ यमदेवत्याः । ‘श्रितिङ्गाः’ श्रितपादाः ।
‘यविष्ठाय’ युवतमाय । ‘नकुलाः’ नकुलवर्णाः । ‘चय्यः’ मातृवर्णाः ।
‘रोहिणीः’ लोहितवर्णाः । ‘दित्यौह्यः’ द्विवर्णाः । ‘अरुणाः’ अरुणवर्णाः ।
‘बभ्रुललामाः’ पिङ्गलपुण्ड्राः ।

‘इति मायुनाचार्यविरचिते माधवीयं वेदार्थप्रकाशे कृष्णयज्ञः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके पञ्चदशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

शरदास्त्रयो वैष्णवा अधीलोधकर्णास्त्रयो विष्णव
शरदमाय लक्ष्मिदिनस्त्रयो विष्णव उरुगायाय पञ्चावी-

स्ति॒स्र आदि॒त्यानां॑ चि॒वत्सा॒स्ति॒स्रोऽङ्गि॑रसामैन्द्रावैष्ण॒वा
गौर॑ल॒लामा॒स्तूप॒राः । १ ।

शु॒ण्डाः वि॒ंश॒तिः ॥ १६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
षोडशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

षष्ठं सप्तमाह,—

“शुण्डाः त्रयो वैष्णवाः अधीलोधकर्णाः त्रयो विष्णवे उरुक्रमाय
लक्ष्मुदिनः त्रयो विष्णवे उरुगायाय पञ्चावाः तिस्रः आदित्यानां
चिवत्साः तिस्रः अङ्गिरसाम् ऐन्द्रावैष्णवाः गौरललामाः त्वपराः”
इति । ‘शुण्डाः’ अवेष्टितकर्णाः, अल्पकायाः इत्येके । ‘अधीलोध-
कर्णाः’ कर्णोपरिप्रकूटकर्णाः । ‘उरुक्रमाय’ विस्तीर्णपादाय ।
‘लक्ष्मुदिनः’ लम्बमानपुच्छः । ‘उरुगायाय’ उरुभिर्महर्षिभिर्गात-
व्याय । पञ्चाव्यः अर्धतृतीयवर्षाः त्रिवत्सराः । ‘गौरललामाः’
स्यष्टाः ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके षोडशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

इन्द्राय॒ राशे॑ चयः॑ श्रि॒तिपृ॑ष्ठा इन्द्रा॒याधि॑राजाय॒
चयः॑ श्रि॒तिक॑कु॒द इन्द्रा॒य स्व॑राशे॑ चयः॑ श्रि॒तिभ॑सदस्ति॒स्र-
स्तु॒र्यो॒क्षाः सा॒ध्याग्ना॑न्ति॒स्रः प॑ष्टौ॒ष्टौ वि॒श्वेषां॑ दे॒वाना॑-

माग्नेन्द्राः कृष्णललामास्तूपराः । १ । इन्द्राय द्वाविंशतिः ॥ १७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके सप्तदशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

सप्तमं महिमाह,—

“इन्द्राय राज्ञे त्रयः श्रितिपृष्ठाः इन्द्राय अधिराजाय त्रयः श्रितिककुदः इन्द्राय स्तराज्ञे त्रयः श्रितिभमदः तिस्रः तुर्योऽह्यः माध्यानाम् तिस्रः पष्ठ्यौह्यः विशेषां देवानाम् आग्नेन्द्राः कृष्णललामास्तूपराः” इति । श्रितिपृष्ठश्रितिककुच्छ्रितिभमच्छ्रिन्द्रा व्याख्याताः । ‘तुर्योऽह्यः’ सार्धचतुर्वर्षाः । ‘माध्यानां’ देवविशेषाणाम् । ‘पष्ठ्यौह्यः’ चतुर्वर्षाः ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके सप्तदशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अदित्यै चयो रोहितैता इन्द्रायै चयः कृष्णैताः कृष्णै चयो रुरुणैतास्तिस्त्रो धेनवो राकायै चयोऽनङ्गाहः सिनीवाल्या आग्नावैष्णवा रोहितललामास्तूपराः । १ । अदित्यै अष्टादश ॥ १८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके अष्टादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अष्टमं सङ्गमाह,—

“अदित्यै त्रयः रोहितैताः इन्द्राण्यै त्रयः कृष्णैताः कुक्ष्यै त्रयः
अरुणैताः तिस्रो धेनवः राकायै त्रयः अनङ्गाहः सिनीवात्यै आग्ना-
वैष्णवाः रोहितललामाः त्वपराः” इति । ‘एताः’ हरिताः
हरितवर्णाः ; ते च रोहितेन अत्यन्तरक्तेन युक्ताः ‘रोहितैताः’ ।
कृष्णेन युक्ताः ‘कृष्णैताः’ । ईषद्रक्तेन युक्ताः ‘अरुणैताः’ । धेन्वादयः
प्रसिद्धाः* ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके अष्टादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

सौम्यास्त्रयः पिशङ्गाः सोमाय राज्ञे त्रयः सारङ्गाः
पार्जन्या नभोरूपास्तिस्त्रैः सौम्या इन्द्राण्यै तिस्रो
मेघ्य आदित्या द्यावापृथिव्या मालङ्गास्तूपराः । १ ।
सौम्याः एकान्नविंशतिः ॥ १६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
ऊनविंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

नवमं सङ्गमाह,—

“सौम्यास्त्रयः पिशङ्गाः सोमाय राज्ञे त्रयः सारङ्गाः पार्जन्याः

* अत्र ‘ते च’ इत्यत्र ‘स च’ इति, एवं ‘कृष्णेन युक्ताः’ इत्यत्र ‘कृष्णेन
युक्तः’ इति सर्वत्र पाठः प्रामादिक इव प्रतिभाति ।

नभोरूपाः तिस्रः अजाः मल्हाः इन्द्रायै तिस्रो मेघः आदित्याः
 द्यावापृथिव्याः मालङ्गाः तृपराः” इति । ‘पिन्नङ्गाः’ गोरोचनवर्णाः ।
 ‘सारङ्गाः’ सारङ्गवर्णाः । ‘पाजेन्याः’ पर्जन्यदेवत्याः । ‘नभोरूपाः’
 अञ्जनवर्णाः । ‘मल्हाः’ गलस्तनाः । ‘मालङ्गाः’ महाकायाः ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयज्ञः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके ऊनविंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

वारुणास्त्रयः कृष्णललामा वरुणाय राज्ञे त्रयो
 रोहितललामा वरुणाय रिशादसे त्रयोऽरुणललामाः
 शिल्पास्त्रयो वैश्वदेवास्त्रयः पृश्नयः सर्वदेवत्या ऐन्द्रा-
 सूराः श्येतललामास्तूपराः । १ । वारुणा विं-
 शतिः ॥ २० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
 विंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

दशमं सङ्गमाह,—

“वारुणास्त्रयः कृष्णललामाः वरुणाय राज्ञे त्रयो रोहितललामाः
 वरुणाय रिशादसे त्रयः अरुणललामाः शिल्पाः त्रयः वैश्वदेवाः
 त्रयः पृश्नयः सर्वदेवत्याः ऐन्द्रासूराः श्येतललामाः तृपराः” इति ।
 रिशानां लोकहिंसकानां नाशयित्रे ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयज्ञः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके विंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

सोमाय खराज्ञेऽनोवाहावनङ्गाहाविन्द्राग्निभ्या-
मोजोदाभ्यामुष्टाराविन्द्राग्निभ्यां बलदाभ्यां सीरवाहा-
ववी दे धेनू भौमी दिग्भ्यो वडवे दे धेनू भौमी वैराजो
पुरुषो दे धेनू भौमी वायवे आरोहणवाहावनङ्गाहौ
वारुणी कृष्णे वशे अराद्यौ दिव्याष्टभौ परिमरौ । १ ।
सोमाय चतुस्त्रिंशत् ॥ २१ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
एकविंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

एवमेतैर्दशभिरनुवाकैः अष्टादशिनः पञ्चवः आन्वाताः । अथैकेना-
नुवाकेन दन्दिनः पशूनाह,—

“सोमाय खराज्ञे अनोवाहौ अनङ्गाहौ इन्द्राग्निभ्याम्
ओजोदाभ्याम् उष्टारौ इन्द्राग्निभ्यां बलदाभ्याम् सीरवाहौ अवी दे
धेनू भौमी दिग्भ्यो वडवे दे धेनू भौमी वैराजो पुरुषो दे धेनू
भौमी वायवे आरोहणवाहौ अनङ्गाहौ वारुणी कृष्णे वशे
अराद्यौ दिव्यौ षष्टभौ परिमरौ” इति । ‘अनोवाहौ’ शकटवहन-
मर्थे । ‘अनङ्गाहौ’ बलीवर्द्धौ । ‘ओजोदाभ्याम्’ अष्टमधातुप्रदा-
तृभ्याम्* । ‘उष्टारौ’ शकटवाहिनोः सहकारित्वेन पुरोगामियुग-
वोढारौ । ‘सीरवाहौ’ लाङ्गलवाहिनौ । ‘अवी’ अत्रिषदृशौ द्वलौ
अनङ्गाहौ इत्यर्थः । भूमेर्धेनुद्वयम् । दिशां वडवाद्वयम् । पुन-

* ‘पदातारौ’ इति सञ्ज्ञा पाठः ।

भूमेर्धेनुद्वयम् । विराट्-देवतायाः 'पुरुषी' मनुष्यस्त्रियौ । पुनर्भूमे-
र्धेनुद्वयम् । 'आरोहणवाहौ' मनुष्यारोहणार्थं निर्मितं शकटं वहन्तौ
बलीवर्दौ । पूर्वन्तु धान्यादिवाहिकशकटार्थावुक्तौ ; अत्र तु
ारजकुमारादिविनोदार्थं शकटवाहिनावित्यर्थः । वरुणस्य तु कृष्णमृग-
जातीये स्त्रियौ बन्धे । द्युदेवतायाम् 'अराज्ञौ' उच्छ्रितशृङ्गौः
'ऋषभौ' मेचकौ ; 'परिमरौ' उभयतो मरणयुक्तौ, यस्य पशोः
अयजोऽपि मृतः अनुजोऽपि मृतः तादृशौ ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके एकविंशोऽनुवाकः ॥०॥

एकादश प्रातर्गव्याः पशव आ लभ्यन्ते कृगलः
कल्माषः किकिदीविर्विदीगयस्ते त्वाष्ट्राः सौरीर्नव श्वेता
वशा अनूबन्ध्या भवन्त्यामेय ऐन्द्राम आश्विनस्ते
विशालयूप आ लभ्यन्ते ॥ १ ॥

एकादश पञ्चविंशतिः ॥ २२ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके
द्वाविंशोऽनुवाकः ॥०॥

अथ उक्तमं ज्ञ्यतिरात्रंऽनुष्ठयान् कांश्चित्पशूनाह,—

“एकादश प्रातर्गव्याः पशवः आ लभ्यन्ते कृगलः कल्माषः
किकिदीविः विदीगयः ते त्वाष्ट्राः सौरीः नव श्वेताः वशाः अनूबन्ध्याः

भवन्ति आग्नेयः ऐन्द्राग्नः आश्विनस्ते विशालयूपे आ-लभ्यन्ते” इति ।
 तृतीयेऽङ्गि प्रातःकाले गोजातीया एकादश पशवः । ते च देवता-
 विशेषस्य अनुकृतात् प्राजापत्याः । कृगलादयस्तयः ‘त्वाद्वाः’ । ‘कृगलः’
 कृगागर्भकः, स च ‘कल्माषः’ कृष्णवर्णमिश्रः । ‘किकिदीविः’ तित्तिरिः ।
 ‘विदीगयः’ कुक्कुटविशेषः । एते च तस्मिन्नेवाहनि, आलभ्यन्ते ।
 ‘मौरीः’ सूर्यदेवताकाः । ‘अनूबन्ध्याः’ चरमकालीनाः पशवः । ताश्च
 ‘वशाः’ बन्ध्याः, ‘शेताः’ श्वेतवर्णाः, नवमङ्ख्याकाश्च ‘भवन्ति’ । पुनरपि
 आग्नेयादयस्तयः पशवः आलभ्यन्ते । ‘ते’ च त्रयो मध्यमे यूपे
 अतिविस्तृताग्निष्ठास्ये यूपे ‘आ’-‘लभ्यन्ते’ ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवाये वेदार्थप्रकाशे कृष्णजगुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके द्वाविंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

पि॒शङ्गा॑स्त्रयो॒ वास॑न्ताः सार॒ङ्गास्त्रयो॒ ग्रैष्माः॑
 पृ॒षन्त॑स्त्रयो॒ वा॒र्षि॒काः पृ॒श्न॒यस्त्रयः॑ शार॒दाः पृ॒श्नि-
 स॒व॒थास्त्रयो॒ हैम॑न्तिका अवलि॒प्तास्त्रयः॑ शैशि॒राः
 सं॒वत्स॑राय॒ निव॑क्षसः ॥ १ ॥

पि॒शङ्गाः॑ वि॒श्रुतिः॑ ॥ २३ ॥

हिर॑ण्यवर्णाः । अ॒पां ग्र॑हान् । भू॒तेष्ट॑काः । स॒जूः ।
 सं॒वत्स॑रमु॒ख्यं । प्र॒जाप॑तिः, -स क्षुर॑पविः । अ॒ग्नेव॑
 दी॒क्षया॑ । सुव॑र्गाय, -तं यत् । सू॒यते॑ । प्र॒जाप॑तिः, -ऋ॒तुभिः॑

रोहितः । पृश्निः । शितिबाहुः । उन्नतः । कर्णाः ।
 शुण्ठाः । इन्द्राय । अदित्यै । सौम्याः । वारुणाः । सोमाय ।
 एकादश । पिशङ्गाः । त्रयोविंशतिः ॥ २३ ॥

हिरण्यवर्णाः (१।१) । भूतेष्टकाः (३।१) । छन्दो यत्
 (५।२) । कनीयाः सम् (८।२) । चिष्टद्विभिः (१०।३) ।
 वारुणाः (२०।१) । चतुःपञ्चाशत् ॥ ५४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे पष्ठप्रपाठके
 त्रयोविंशोऽनुवाकः ॥०॥

इति संहितापञ्चमाष्टके पष्ठप्रपाठकप्रश्नः समाप्तः ॥

॥०॥ हरिः ओम् ॥०॥

अथ चतुषष्टनाह,—

“पिशङ्गास्तथो वामन्ताः मारङ्गास्तथो ग्रैष्णाः प्रषन्तस्तथो वार्षिकाः
 प्रश्नस्तथः शारदाः पृश्निमक्यास्तथो हंसन्तिकाः अवलिप्रास्तथः
 जैशिराः संवत्सराय निवत्तमः” इति । ‘पिशङ्गाः’ गोरौचनवर्णाः ।
 ‘मारङ्गाः’ मारुङ्गवर्णाः । ‘प्रषन्तः’ विजातीयविन्दुयुक्ताः । ‘पृश्नयः’
 श्वेताः । ‘पृश्निमक्याः’ कटिभागे श्वेतवर्णाः । ‘अवलिप्राः’ मङ्गोर्णवर्णाः ।
 वसन्ताद्यृतवः तेषाम् । संवत्सरदेवतायास्तु ‘निवत्तमः’ निम्नेन
 वत्तसा युक्तः ।

अत्रास्य प्रपाठकस्य विनियोगमङ्गहः,—

कुक्षेष्टकामन्त्रणार्था ‘हिरण्य’ (१) इति त्रयोदश ।

‘दिवि’ (१।४) इति चरुमादध्याद् देवस्य’ (३।२) इत्यभिषेचनम् ।
 ‘मजूः’ (४।१) आहुतयः पञ्च ‘घृतेन’ (४।१) इत्यनुषज्यते ॥
 ‘पृष्टो’ (६।४) वैश्वानरी याज्ञे पुरीषं न्यापयेत्तया ।
 अन्वारोहेच्चितिं स्वामी ‘पृथिवीमाक्रमि’ (८।१) इत्यतः ॥
 ‘इष्टो यज्ञः’ ‘तस्य ते’ (८।६) द्वे समिष्टयजुषी मते ।
 ‘पिता मात’ (८।६) इति मन्त्रेण चित्यग्निमनुशंसति ॥
 अथ मेधस्य पशवो रोहिताद्या (११-२३) उदीरिताः ॥
 वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो ह्यर्द्धं विनाशयन् ।
 पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठके त्रयोविंशोऽनुवाकः ॥०॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्क-
 भूपालमासाज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थ-
 प्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे षष्ठप्रपाठकः
 सम्पूर्णः ॥०॥

समाप्तश्च षष्ठः प्रपाठकः ॥

॥०॥ ॐ नमः ॥०॥

॥०॥ श्रीगणेशाय नमः ॥०॥

तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये ।

पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।

हरिः ओम् ॥

यो वा अयथादेवतमग्निं चिनुत आ देवताभ्यो
 वृश्चयते पापीयान् भवति यो यथादेवतं न देवताभ्य
 आ वृश्चयते वसीयान् भवत्याग्नेय्या गायत्रिया प्रथमा-
 श्वितिमभि मृशेत् चिष्टुभा द्वितीयां जगत्या तृतीया-
 मनुष्टुभा चतुर्थीं पङ्क्त्या पञ्चमीं यथादेवतमेवामिं
 चिनुते न देवताभ्य आ वृश्चयते वसीयान् भवति
 इडायै वा एषा विभक्तिः पशव इडा पशुभिरे-
 नम् ॥ १ ॥

चिनुते यो वै प्रजापतये प्रतिप्रोच्याग्निं चिनोति

नार्ति॑मार्च्छत्य॒श्चाव॑भित॒स्तिष्ठेतां॑ कृ॒ष्ण उत्त॑रतः श्वेतो
 दक्षि॑णस्ता॒वा॒लभ्ये॑ष्टका उप॑ दध्यादे॒तद्वै प्र॒जाप॑ते रूपं
 प्रा॒जाप॑त्योऽश्वः सा॒क्षादे॒व प्र॒जाप॑तये प्रति॒प्रोच्या॑मिं
 चि॒नोति॑ नार्ति॑मार्च्छति^(१) ए॒तद्वा अ॒हो रूपं॑ यच्छे॒तोऽश्वो॑
 रात्रि॑यै कृष्ण ए॒तद॒हः ॥ २ ॥

रूपं यदिष्टका रात्रियै पुरीषमिष्टका उपधास्यन्
 श्वेतमश्वमभि मृशेत् पुरीषमुपधास्यन् कृष्णमहोरात्रा-
 भ्यामेवैनं चिनुते^(२) हिरण्यपात्रं मधोः पूर्णं ददाति
 मध्व्योऽसानीति^(३) सौर्या चित्रवत्यावेक्षते चित्रमेव
 भवति मध्यन्दिनेऽश्वमव प्रापयत्यसौ वा आदित्य
 इन्द्र एष प्रजापतिः प्राजापत्योऽश्वस्तमेव साक्षाद्
 कृधोति^(४) ॥ ३ ॥

ए॒न॒म् । ए॒तद॒हः । अ॒ष्टाच॑त्वारि॒ंशच्च ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
 प्रथमोऽनुवाकः ॥०॥

श्रीगणेशाय नमः ।

हरिः ओम् ।

यस्य निश्चयितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

उपानुवाक्यं यत्प्रोक्तं द्वयोः पञ्चमषष्ठयोः ।

ततोऽवशिष्टं तत्सर्वं सप्तमेऽत्राभिधीयते ॥

तत्रादौ तावत् मन्त्रविशेषैश्चितीनामभिमर्शनं विधत्ते,—“यो वै
अथयादेवतम् अग्निं चिनुते आ देवताभ्यो वृक्ष्यते पापीयान् भवति
यो यथादेवतं न देवताभ्यः आ वृक्ष्यते वमीयान् भवति आग्नेया
गायत्रिया प्रथमां चितिम् अभि मृणेतुं त्रिष्टुभा द्वितीयां जगत्या
तृतीयाम् अनुष्टुभा चतुर्थीं पङ्क्त्या पञ्चमीं यथादेवतमेवाग्निं चिनुते
न देवताभ्यः आ वृक्ष्यते वमीयान् भवति” इति । यस्याश्चिन्तेया
देवता, तामतिक्रम्य चयनम् ‘अथयादेवतं’; अनतिक्रमणं यथादेवतं ।
अतो यथादेवतम् अनुष्ठानाय आग्नेयगायत्र्यादिभिस्तां तां ‘चितिम्’
‘अभि’-‘मृणेतुं’ । “अग्नें देवाः इहावह” (ब्रा० ३।१।१।६।९)
इत्याग्नेयी गायत्री । “अगन्त महा मनमा यविष्ठम्” (ब्रा० ३।१।१।
६।३) इति त्रिष्टुप् । “मंधाकारम्” (ब्रा० ३।१।१।६।३) इति जगती ।
“मनुष्वत्त्वानि धीमहि” (ब्रा० ३।१।१।६।३) इति अनुष्टुप् । “अग्निर्हि
वाजिनम्” (ब्रा० ३।१।१।६।४) इति पङ्क्तिः । ता एताः नाचिकेत-
चयनप्रकरणे “यत्ते चितम्” (ब्रा० ३।१।१।६।१) इत्यनुवाके समा-

आस्यमानत्वात् तत्रैव व्याख्यास्यन्ते । एवमभिमर्शने सति न उक्तदोषः कश्चिदप्यस्ति ।

एकैकचित्स्पर्शने योऽयं मन्त्रविभागः, तमिमं प्रशंसति,—

“इडायै वै एषा विभक्तिः पशवः इडा पशुभिः एनं चिनुते^(१)” इति । ‘विभक्तिः’ गायत्र्यादिमन्त्रविभागः, स च अत्र इडार्थं क्रियते । ‘इडा’ हि नाम ‘पशवः’, “पशवो वा इडा” इति श्रुत्यन्तरात् । गायत्र्यादिच्छन्दांसि च पशुस्वरूपाणि “पशवो वै छन्दांसि” इति श्रुत्यन्तरात् । अतो गायत्र्यादिरूपैः ‘पशुभिः’ ‘एनम्’ अग्निं चितवान् भवति । एतच्च ब्राह्मणं “पशुर्वा एष यदग्निः”(पु।२।१०।१) इत्यनुवाके प्रथमचित्यवसाने द्रष्टव्यम् ।

अयोपधाने अश्वस्पर्शनं विधत्ते,—“यो वै प्रजापतये प्रतिप्रोच्य अग्निं चिनेति न आर्तिमार्च्छति अश्वौ अभितः तिष्ठेतां कृष्णः उत्तरतः अतो दक्षिणः तौ आलभ्य दष्टकाः उप दध्यात् एतत् वै प्रजापतेः रूपं प्राजापत्यः अश्वः मातादेव प्रजापतये प्रतिप्रोच्य अग्निं चिनेति नार्तिमार्च्छति^(१)” इति । प्रजापतिः, अग्निं प्रति दृष्टत्वात् प्रथमं चेदत्वाच्च अग्नेः स्वामीः अतस्तस्मै कथयित्वा तदनुज्ञया चयने कृते सति न विनाशं प्राप्नोति, अतः कथनीयं । पार्श्वयोर्द्वौ अश्वौ अवस्थाप्य तौ स्पृष्ट्वा पश्चात् ‘उप’-‘दध्यात्’ । ‘एतत्’ अश्वस्थं शरीरं ‘प्रजापतेः’ स्वरूपं, प्रजापत्यक्षिजन्यत्वेन तस्य प्राजापत्यत्वात् । अतः अश्वस्य स्पर्शनमेव प्रजापतये कथनं । तेनासौ न विनश्यति ।

तत्र स्थाने विषयव्यवस्थां विधत्ते,—“एतदे अहो रूपं यत् श्वेतः अश्वः रात्रियै कृष्णः एतत् अहो रूपं यत् इष्टकाः रात्रियै पुरीषम् इष्टकाः उपधास्यन् श्वेत् अपरं अभि मृशेत् पुरीषम् उपधास्यन् कृष्णम् अहोरात्राभ्याम् एव एनं चिनुते^(१)” इति । ‘श्वेतः’ ‘अश्वः’ ‘इष्टकाः’ च इत्युभयम् ‘अहो रूपम्’ । अतः ‘इष्टकाः’ ‘उपधास्यन्’ ‘श्वेतम्’ ‘अभि-मृशेत्’ । ‘कृष्णः’ ‘अश्वः’ ‘पुरीषं’ चेत्युभयं रात्रेः स्वरूपम् । तत्स्वरूपे वर्णमाम्यं हेतुः । ‘यदा ‘पुरीषम्’ उपधास्यति, तदा ‘कृष्णम्’ अभिमृशेत् । एवं मति ‘अहोरात्राभ्यामेव’ ‘एनम्’ अग्निं चितवान् भवति । एतच्च ब्राह्मणम् “अग्ने तव श्रवो वयः (५।२।६।१)” इत्यनुवाके द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण ‘दक्षिणाकाले हिरण्यपात्रं मधोः पूर्णं शतमानस्य कृतं चित्रं देवानामित्यवेक्ष्यायेनावप्राप्य ब्रह्मणे ददाति’ इति ।

तत्र दानं विधत्ते,—“हिरण्यपात्रं मधोः पूर्णं ददाति मधव्यः अस्मिन्^(२)” इति । परलोके मधुभोग्यद्रव्ययुक्तो भविष्यामीत्यभिप्रेत्य मधुना ‘पूर्णं’ सुवर्णपात्रं दद्यात् ।

दात्रा च दानात् पूर्वकालीनमवेक्षणं विधत्ते,—“मौर्या चित्रवत्या अवेक्षते चित्रमेव भवति मध्यन्दिने^(३)” इति । मध्याह्नस्य दक्षिणाकालत्वात् तदानीं दातुम् आदौ मधुपूर्णं पात्रं मन्त्रेण ‘अवेक्षते’ । “चित्रं देवानाम् (२।४।१४।४)” इत्येषा मौरी चित्रशब्दयुक्ता च ; तथा अवेक्षणे मति ‘चित्रमेव’ ऐश्वर्यं प्राप्नोति ।

अवेक्षणादूर्ध्वं प्रापणं विधत्ते,—“अश्वमव प्रापयति अश्वौ वै आदित्यः इन्द्रः एषः प्रजापतिः प्राजापत्यः अश्वः तमेव साक्षात्

ऋध्नोति^(१)” इति । योऽयं चित्रवत्या प्रतिपाद्यः ‘आदित्यः’, स एव परमैश्वर्योपेतत्वात् ‘इन्द्रः’ ; प्रजानां परिपालकत्वात् ‘प्रजापतिः’ । अवप्राताश्वः ‘प्राजापत्यः’ । अतः अश्वावप्राणेन तं प्रजापतिम् इन्द्रम् आदित्यमेव ‘मात्तात्’ समृद्धं करोति । तदिदं ब्राह्मणम् अन्ते द्रष्टव्यम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥०॥

त्वामग्ने दृषभं चेकितानं पुनर्यवानं जनयन्नुपागां ।
अस्थूरि णो गार्हपत्यानि सन्तु तिमने नो ब्रह्मणा सः
शिशधि^(१) । पशवो वा एते यदिष्टकाश्चित्यांचित्यामृषभ-
मुप दधाति मिथुनमेवास्य तद्यज्ञे करोति प्रजननाय
तस्माद्यूयेयूथ कृषभः^(२) । संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा
राव्युपासते । प्रजाः सुवीरां कृत्वा विश्वमायुर्व्यश्न-
वत्^(३) । प्राजापत्यां ॥ १ ॥

एतामुप दधातीयं वावैषैकाष्टका यदेवैकाष्टकाया-
मन्नं क्रियते तदेवैतयावरुन्ध एषा वै प्रजापतेः काम-
दुघा तयैव यजमानोमुष्णिं लोकैर्मिन्दुहे^(४) । येन देवा
ज्योतिषोर्ध्वा उदायन् येनादित्या वसवो येन रुद्राः ।
येनाङ्गिरसो महिमानमानशुस्तेनैतु यजमानः स्व-
स्ति^(५) । सुवर्गाय वा एष लोकाय ॥ २ ॥

जीयते यदग्निर्येन देवा ज्योतिषोर्ध्वा उदायन्नि-
 त्युख्यः समिन्ध इष्टका एवैता उप धत्ते वानस्पत्याः
 सुवर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै^(१) शतायुधाय शतवीर्याय शतो-
 तयेभिमातिपाहे । शतं यो नः शरदो अजीतानिन्द्रो
 नेषदति कुरितानि विश्वा^० । ये चत्वारः पथयो देव-
 याना अन्तरा द्यावापृथिवी विधन्ति । तेषां यो
 अज्यानिमजीतिमावहान्तस्मै नो देवाः ॥ ३ ॥

परिदत्तेह सर्वे^(२) । ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः
 शरद्वर्षाः सुवितन्त्रो अस्तु । तेषामृतूनाः शतशारदानां
 निवात एषामभये स्याम^३ । इदवत्सराय परिवत्सराय
 संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः । तेषां वयः सुमतौ यज्ञि-
 यानां ज्यागजीता अहताः स्याम^(४) । भद्रान्नः श्रेयः
 समनैष्ट देवास्त्वया वसेन समशीमहि त्वा । स नो
 मयोभूः पितो ॥ ४ ॥

आ विशस्व शन्तोकाय तनुवे स्योनः^(५) । अज्या-
 नीरेता उप दधात्येता वै देवता अपराजितास्ता एव
 प्रविशति नैव जीयते^(६) । ब्रह्मवादिना वदन्ति यदर्ध-
 मासा मासा ऋतवः संवत्सर ओषधीः पञ्चत्यथ क्रस्माद-
 न्याभ्यो देवताभ्य आग्रयणं निरूप्यत इत्येता हि तदेवता
 उदजयन् यदृतुभ्यो निर्वपेद्देवताभ्यः समदन्द्वादाग्र-

य॒णं, नि॒रु॒ध्य॒ता आ॒हु॒तो॒र्जु॒हो॒त्य॒र्ध॒मा॒साने॒व मा॒सान॒नू॒नत्
सं॒वत्स॒रं प्री॒णाति॒ न दे॒वता॑भ्यः स॒मद॑न्दधाति^(१) भ॒द्रान्नः
अ॒यः स॒मनै॑ष्ट दे॒वा इत्या॑ह हु॒ताद्या॑य यज॑मान॒स्या-
प॑राभावाय^(२) ॥ ५ ॥

प्रा॒जाप॒त्यां । लो॒काय॑ । दे॒वाः । पि॒तो । द॒ध्यादा॑-
य॒य॒णं । पञ्च॑विंशतिश्च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

चितिस्पर्शादिकन्वाद्येऽनुवाकेऽत्र ममीरितम् ।

अथ द्वितीये षष्ठभेष्टकादिकमभिधीयते । यदुक्तं सूत्रकारेण,—
'त्वामग्ने वृषभमित्यृषभमुपधाय' इति । तदिदं विधातुं मन्त्र-
मुत्पादयति,—“त्वामग्ने वृषभं चेकितानं पुनर्युवानं जनयन् उपागां
अस्यूरि णो गार्हपत्यानि सन्तु तिग्मेन नो ब्रह्मणा सः शिश्राधि^(१)
इति । हे 'अग्ने', 'वृषभं' कामानां वर्षितारं, 'चेकितानं' सर्वज्ञं,
'युवानं' नित्यतरुणं 'त्वां' 'जनयन्' प्रजोत्पादकं कुर्वन् अहं 'पुनः'
'उपागां' भूयोभूयः प्राप्नोति* । 'नः' अस्माकं 'गार्हपत्यानि'
गृहपतिकर्माणि 'अस्यूरि' 'सन्तु' । स्यूरिशब्दः सारवाची अस्यूरिणः
साररहिताः सन्तु । 'तिग्मेन' 'उज्ज्वलेन' 'ब्रह्मणा' ब्रह्मवर्त्तमेन
'नः' अस्मान् 'सं शिश्राधि' सम्यगनुशिष्टान् कुरु ।

* एवमेव सर्वत्र पाठः । 'भूयः प्राप्नोमि' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† 'अस्यूरि' (अस्यूरीणि) साररहितानि इत्येवंविधः कश्चित् पाठो
भवितुं युक्तः ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“पशवो वै एते यत् इष्टकाः चित्या-
चित्याम् ऋषभम् उप दधाति मिथुनमेव अस्य तत् यज्ञे करोति प्रजन-
नाय तस्मात् यूयेयूथे ऋषभः^(१)” इति । या एता अन्याः ‘इष्टकाः,’
ताः सर्वा गोरूपाः । अतो ‘यज्ञे’ तामां मिथुनभावाय एताम्
ऋषभाख्याम्, इष्टकाम् उपदध्यात् । यस्मादत्र एकस्याञ्चित्याम्
ऋषभम् उपधीयते, तस्मान्नोक्तेऽपि एकैकस्मिन् गोरूथे एकैक
‘ऋषभः’ तिष्ठति । सर्वचितिषु अपेक्षितत्वादिदं ब्राह्मणं प्रथमचित्यन्ते
द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘मंवत्सरस्य प्रतिमामिति प्राजापत्याम्’ इति ।
तदिदं विधातुं मन्त्रमुत्पादयति,—“मंवत्सरस्य प्रतिमां यां ता रात्रि
उपासते । प्रजाः सुवीरां कृत्वा विश्वमायुर्यश्नवद्^(२)” इति । ‘हे
रात्रि’ एकाष्टकारूपे, ‘यां’ ‘ता’ ‘प्रतिमां’ प्रतिनिधिरूपां सर्व
यजमानाः ‘उपासते’ भवन्ते, ‘एषा वै मंवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टका
एतस्यां वा एष एताः रात्रिं वमति’ इति हि अन्यत्रास्मात् । तां
त्वां ‘कृत्वा’ इहोपधाय ‘सुवीरां’ शोभनभृत्योपेतां ‘प्रजां’ पुत्रादिरूपां
‘विश्वमायुः’ कृत्स्नमयायुष्यं ‘यश्नवद्’ विगेषेण व्याप्नोति ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“प्राजापत्याम् एताम् उप
दधाति इयं वाव एषा एकाष्टका यदेव एकाष्टकायाम् अन्नं क्रियते
तदेव एतया अवरुन्धे एषा वै प्रजापतेः कामदृष्टा तथैव यजमानः
अमुष्मिं लोकेऽग्निं दृहे^(३)” इति । एकाष्टकायाः मंवत्सररूपप्रजापति-
पत्नीत्वात् तद्रूपेयमिष्टका प्राजापत्या, तामेतामुपदध्यात् । ‘एषा’ च
‘एकाष्टका’ ‘इयम्’ एव भूमिस्वरूपा । तथा मति भूमिरूपायाम्

एतस्याम् 'एकाष्टकायां' यत् 'अन्नं' मन्वाद्यन्तं तत् सर्वं प्राप्नोति ।
 किञ्च इयम् एकाष्टका 'प्रजापतेः' मन्वत्वरूपस्य कामधेनुः,
 'यजमानः' 'अमुष्मिन् लोके' कामान् दोग्धि दुग्धे । एतच्च नक्ष-
 त्रेष्टकाब्राह्मणात् (५।४।१) ऊर्ध्वं द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण, 'येन देवा ज्योतिषोर्ध्वा उदायन्ति प्रादेश-
 मात्रैः काष्ठैरुख्यमुपमन्त्रिन्हे' इति । तदिदं विधातुं मन्त्रमुत्पाद-
 यति, "येन देवाः ज्योतिषा ऊर्ध्वाः उदायन् येन आदित्याः वसवो
 येन रुद्राः । येन अङ्गिरमो महिमानम् आनशुः तेन एतु यजमानः
 खस्ति^(१)" इति । 'देवाः' सर्वे 'येन' 'ज्योतिषा' अग्निना 'ऊर्ध्वाः'
 उपरितनलोकवर्तिनः 'उदायन्' उत्कर्षं प्राप्ताः । तथा 'आदित्याः'
 'वसवः' च 'येन' उदायन् । 'रुद्राः' च 'येन' अग्निना उदायन् ।
 'अङ्गिरसः' महर्षयः 'येन' अग्निना 'महिमानम् आनशुः' स्वकीयं
 सामर्थ्यं प्राप्ताः, 'तेन' अग्निना 'यजमानः' अयं 'खस्ति' क्षेमम् 'एतु'
 प्राप्नोतु ।

तमिमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“स्वर्गाय वा एष लोकाय चीयते
 यदग्निः येन देवा ज्योतिषा ऊर्ध्वाः उदायन् इति उख्यः समन्त्रे
 दृष्टकाः एवैताः उप धत्ते वानस्पत्याः स्वर्गस्य लोकस्य समञ्जै^(२)
 इति । अस्य अग्नेः, स्वर्गार्थं चीयमानत्वात् स्वर्गस्य सर्वदेवप्रतिपादकेन
 मन्त्रेण इन्धने सति याभिः समिङ्गिरिध्यते, ताः सर्वाः 'वानस्पत्याः'
 दृष्टका एव उपहिता भवन्ति । तच्च स्वर्गप्राप्त्यै मन्वाद्यन्ते । एतच्च
 “विष्णुमुखा त्रै देवाः” (५।२।१।१) इत्यनुवाकं द्रष्टव्यम् ।

* एवमेव सर्वत्र पाठः । 'दुग्धे' दोग्धि इति पाठो भवितुं युक्तः ।

यत्किंदु सूत्रकारेण,—‘शतायुधाय शतवीर्यायेति पञ्चाज्यानीः प्रतिदिशमेकां मध्ये’ इति । तत्र प्रथमामाह,—“शतायुधाय शतवीर्याय शतोतये अभिमातिषाहे । शतं यो न शरदो अजीतान् इन्द्रो नेषत् अति दुर्गतानि विश्वा”^१ इति । ‘यः’ ‘इन्द्रः’ ‘नः’ अस्मान् ‘शतं’ ‘शरदः’ शतमङ्ग्याकान् संवत्सरान् ‘अजीतान्’ ‘नेषत्’ केनापि व्याधितस्करादिना यथा जिताः पीडिता न भवामः, तथा नेतुं ममर्थः । किं कृत्वा ? ‘विश्वा’ ‘दुर्गतानि’ ‘अति’ सर्वानि पापानि अतिक्रम्य :- यानि पापानि अस्माभिः कृतानि, तानि सर्वानि विनाश्य ; सर्वस्मिन्नप्यायुषि अस्मान् केनाप्यनुपद्रुतान् करोतीत्यर्थः । तस्मै इन्द्राय नमोऽस्त्वित्यध्याहारः । कीदृशाय ? शतमङ्ग्याकान्यायुधानि वज्रधनुरादीनि यस्यामौ शतायुधः, तस्मै । शतमङ्ग्याकानि वीर्याणि युद्धेषु विजयरूपाणि यस्यामौ शतवीर्यः, तस्मै । शतमङ्ग्याका ऊतयोऽस्मद्रक्षणानि यस्यामौ शतोतिः, तस्मै । ‘अभिमातिषाहे’ पापानां महते अभिभवतीति अभिमातिषाट्, तस्मै ।

अथ द्वितीयामाह,—“यं चत्वारः पथयो देवयाना अन्नराद्यावाप्रथिवी त्रियन्ति । तेषां यः अज्यानिम् अजीतिम् आवहान् तस्मै नो देवाः पबिदन्त इह सर्वे”^२ इति । ‘द्यावाप्रथिवी’ ‘अन्नरा’ ‘द्यावाप्रथिव्योर्मधो’, ‘यं चत्वारः पथयः’ मार्गाः ‘त्रियन्ति’ विविधं गच्छन्ति, प्रवर्तन्ते । कीदृशा मार्गाः ? ‘देवयानाः’ देवानां यानं गमनम् एषु ते देवयानाः ; देवा हि देवलोक-पितृलोक-ब्रह्मलोक-मनुष्यलोकविषयेषु मार्गेषु विस्मरन् मच्चरन्ति ; ‘तेषां’ मार्गाणां

* ‘अभिमातिम्’ इति पदं पतितमिव प्रतिभाति ।

‘यः’ इन्द्रः ‘अज्यानिम् अजीतिम् आवहत्’;—रक्षःप्रमृतिभिरनुपद्रवः
 ‘अजीतिः’, सा अजीतिः ‘अज्यानिः’ कदाचिदपि हानिरहिता;
 तादृशीम् अजीतिम् आवहति, तेषु मार्गेषु गच्छतामस्माकं नित्य-
 मनुपद्रवं मम्यादयतीत्यर्थः । ‘तस्मै’ इन्द्राय, हे ‘सर्वे’ देवाः, ‘इह’
 कर्मणि ‘नः’ अस्मान् ‘परिदत्त’ अयं यजमानः सर्वेषु मार्गेषु
 रक्षणीयः—इत्येवमस्मानिन्द्राय समर्पयत ।

अथ तृतीयामाह,—“ग्रीष्मो हेमन्तः उत नो वसन्तः शरत् वर्षाः
 सवितं नः अस्तु । तेषाम्ब्रूनां शतशारदानां निवाते एषामभये
 स्याम^(१०)” इति । यो ग्रीष्माख्य चतुः, स ‘नः’ अस्मान् प्रति
 ‘सवितम्’ ‘अस्तु’ शोभनगतिं प्राप्नोतु, कालोचितभोग्यद्रव्यपदः अस्तु-
 इत्यर्थः । एवं हेमन्तादिषु योज्यम् । ‘शतशारदानां’ अस्मदायुषि
 शतसंवत्सरमम्बन्धिनां ‘तेषाम्’ ‘पृषां’ ग्रीष्मादीनाम् ‘चतूनाम्’
 अनुग्रहाद् वयं ‘निवाते’ वातायुपद्रवरहिते ‘अभये’ भयरहितस्थाने
 ‘स्याम’ सुखेनावस्थिता भवेम ।

अथ चतुर्थीमाह,—“इदुवत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता
 बृहत् नमः । तेषां वयं समतौ यज्ञियानां ज्योक् अजीताः अहताः
 स्याम^(१०)” इति । प्रभवादिमंवत्सराणां पञ्चके चतुर्थः इदुवत्सरः,
 द्वितीयः परिवत्सरः, प्रथमः संवत्सरः । एतच्च कृत्स्नकालस्यायुपलक्षणम् ।
 हे अल्विग्यजमानाः, इदुवत्सरादिरूपाय कालाय ‘बृहत् नमः’ ‘कृणुत’
 अत्यन्तभक्तिपुरःसरं नमस्कारं कुरुत । ‘यज्ञियानां’ यज्ञनिष्पादकानां
 तेषां संवत्सरविशेषाणां ‘समतौ’ अनुग्रहबुद्धौ सत्यां ‘वयं’ सर्वे ‘ज्योक्’
 चिरम् ‘अजीताः’ केनाप्यवशीकृताः, ‘अहताः’ अमारिताश्च ‘स्याम’ भवेम ।

अथ पञ्चमीमाह,—“भद्रात् नः श्रेयः समनैष्ट देवास्तथा अवसेन समशीमहि त्वा । म नो मयोभूः पितो आ विशस्व गं तोकाय तनुवे स्थोनः^(११)” इति । हे ‘देवाः’, ‘भद्रात्’ कल्याणाद् अस्मात् कर्मसाधन-भृतात् ‘श्रेयः’ अधिकं प्रशस्तं फलं ‘नः’ अस्मान् ‘ममनैष्ट’ सम्यक् प्रापयत । तथा चित्याग्नौ ह्यमान हे गोम, ‘त्वया’ ‘अवसेन’ त्वदीयेन रक्षणेन वयं त्वां ‘ममशीमहि’ सम्यक् व्याप्नुयाम । हे ‘पितो’ अन्नभूत सोम, ‘म’ त्वं ‘मयोभूः’ सुखस्य भावयिता सन् ‘नः’ अस्मान् ‘आ’—‘विशस्व’ प्रविश । ‘तोकाय’ अन्नदपत्याय ‘गं’ सुखं कुरुत । ‘तनुवे’ शरीराय ‘स्थोनः’ सुखप्रदो भव ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“अज्यानीः एताः उप दधाति एताः वै देवताः अपराजितास्ता एव प्र विशति नैव जयते^(१२) इति । अज्यानिशब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टकाः अज्यान्त्यः, ताः उपदधात् । एतैर्मन्त्रैः प्रतिपाद्या या इन्द्रादिदेवताः, ‘एताः’ सर्वा देवताः कापि ‘अपराजिताः’ अयं यजमानः ‘ताः’ ‘एव’ देवताः ‘प्र’—‘विशति’; केनाप्यन्येन शत्रुणा ‘नैव’ ‘जीयते’ । एतदपि नक्षत्रेष्टका-ब्राह्मणसमीपे (५।४।१) द्रष्टव्यम् ।

अथायत्नप्रस्तावे यदक्तं सूत्रकारेण,—“निरुप्तं हविरुपमन्न-मप्रोक्षितं भवत्यथ पञ्चाज्यानीर्जुहोति शतायुधाय शतंवीर्याय” इति ।

तदिदं विधत्तं, —“ब्रह्मवादिनो वदन्ति यदर्धमामाः सामाः ऋतवः संवत्सरः ओषधीः पचन्ति अथ कस्मात् अन्याभ्यो देवताभ्यः आययणं निरूप्यते इति एता हि तत् देवताः उदजयन् यत् ऋतुभ्यो निर्वपेत्

* अथ ‘याः एताः’ इति का० क्रो० पुस्तकपाठः ।

देवताभ्यः समदं दध्यात् आग्रयणं निरूप्य एताः आहुतीर्जुहोति अर्ध-
मासानेव मासान् चतुर्न्संवत्सरं प्रीणाति न देवताभ्यः समदं दधाति^(१९)”
इति । ‘ब्रह्मवादिनः’ परस्परमेवं विचारयन्ति, अर्धमासमासर्तु-
संवत्सररूपा देवताः ओषधीनां परिपाकं सम्यादयन्ति । एवं सति, ता
देवताः उपेक्ष्य ‘अन्याभ्यः’ इन्द्राग्न्यादिभ्यो ‘देवताभ्यः’ आग्रयणाख्यं
नूतनधान्यरूपं हविः ‘कस्मात्’ कारणात् ‘निरूप्यते इति?’ । तत्रा-
भिज्ञा एवमुत्तरमाहुः,—यस्मात् ‘एताः’ इन्द्राग्न्यादयो ‘देवताः’
इतरैर्देवैः सह समयं कृत्वा तत्र-तत्रौषधिविषये उत्कर्षेण अग्रं
प्राप्ताः, तस्मात् इन्द्राग्न्यादिभ्यो निर्वापो युक्तः । एतच्च राजसूय-
प्रकरणे आग्रयणविधौ स्पष्टमास्नातम्,—“देवा वा ओषधीश्चाजिमयुः
ता इन्द्राग्नी उदजयताम्” (१।६।१।१० ब्रा०) इति । एवं सति जेतृन्
इन्द्राग्न्यादीन् उपेक्ष्य यदि चतुर्मासादिदेवताभ्यो ‘निर्वपेत्,’
तदानीमेतामां तामां च देवतानां कलहं संपादयेत् । एवं तर्हि
ओषधिपरिपाकहेतुनाम् चतुर्मासादिदेवतानां परितोषः कथम्?
इति चेत् । श्रूयताम्,—इन्द्राग्न्यादिभ्यः ‘आग्रयणं’ ‘निरूप्य’
श्रुतायुधायेति ‘एताः’ अज्यान्याहुतीः मासादिदेवताभ्यो जुहुयात् ।
तेनार्धमासादिदेवान् प्रीणयति, ततो देवतानां कलहं न करोति ।

यदपि सूत्रकारेणाग्रयणप्रस्तावे विहितम्,—‘भद्रान्नः अग्रेः
समनैष्ट देवा इति यजमानभागं प्राप्नोति’ इति । तं विधिं
मन्त्रव्याख्यानरूपार्थवादेनोन्नयति,—“भद्रात् नः अग्रेः समनैष्ट
देवाः इति आह ऊताद्याय यजमानस्य पराभावाय^(१७)” इति ।
यजमानो भक्षणकाले ‘भद्राद्’-इत्यादिमन्त्रं पठेत् । अथ च मन्त्रो

ऊतशेषस्य अदनाय समर्थः । 'अग्नीमहि'-इति मन्त्रलिङ्गात् ऊतभक्षणेन यजमानः पराभूतो न भवति । एतच्च ब्राह्मणम् आगयणविधिसमीपे (१।६।१।८ ब्रा०) नेतव्यम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके द्वितीयोऽनुवाकः ॥०॥

इन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्चघ्नस्तनूपा नः प्रतिस्पृशः ।
यो नः पुरस्तादक्षिणतः पश्चादुत्तरतोऽधायुरभिदा-
सत्येतः सोऽश्मानमृच्छतु^१ । देवासुराः संयत्ता आसन्ते
ऽसुरा दिग्भ्य आबाधन्त तान् देवा इधा च वज्रेण चापा-
नुदन्त यद्वज्रिणीरुपदधातीधा चैव तद्वज्रेण च यज-
मानो धातुव्यानप नुदते^२ दिष्टूप ॥ १ ॥

दधाति देवपुरा एवैतास्तनूपानीः पर्यृहते^३ अग्ना-
विष्णू सजोषसेमा वर्धन्तु वां गिरः । युर्मैर्वाजेभिरा-
गतं^४ । ब्रह्मवादिनो वदन्ति यन्न देवतायै जुह्वत्यथ किं-
देवत्या वसोर्धारेत्यग्निर्वसस्तस्यैषा धारा विष्णुर्वस-
स्तस्यैषा धाराग्नावैष्णव्यर्चा वसोर्धारां जुहोति भाग-
धेयेनैवैनौ समर्धयत्यथो एतां ॥ २ ॥

एवाहुतिमायतनवतीं करोति यत्काम एतां जु-
होति तदेवाव रुन्धे^५ रुद्रो वा एष यदग्निस्तस्यैते तनुवौ
घोरान्या शिवान्या यच्छतरुद्रोयं जुहोति यैवास्य

घोरा तनूस्तां तेन शमयति यदसोर्धारां जुहोति यै-
वास्यं शिवा तनूस्तां तेन प्रीणाति^(६) यो वै वसोर्धारायै
॥ ३ ॥

प्रतिष्ठां वेद प्रत्येव तिष्ठति यदाज्यमुच्छिष्येत तस्मिन्
ब्रह्मौदनं पचेत्तं ब्राह्मणाश्चत्वारः प्राश्नीयुरेप वा अग्नि-
वैश्वानरो यद् ब्राह्मण एषा खलु वा अग्नेः प्रिया तनू-
र्यद्वैश्वानरः प्रियायामेवैना तनुवां प्रतिष्ठापयति^(७)
चतस्रो धेनूदद्यात्ताभिरेव यजमानोऽमुष्मिन्लोकेऽग्निं
दुहे^(८) ॥ ४ ॥

उप । एतां । धारायै । षट्चत्वारिंशच्च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
तृतीयाऽनुवाकः ॥ ० ॥

द्वितीये ऋषभादीनामुपधानादिकं श्रुतम् ।

अथ तृतीये वज्रिणीष्टकोपधानं विधातुं मन्त्रानुत्पादयति,—
“इन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्चन्नः तनूपाः नः प्रतिस्पशः । यो नः पुर-
स्तात् दक्षिणतः पश्चात् उत्तरतः अघायुः अभिदासति एतः सः
अश्मानमृच्छतु^(१)” इति । इष्टकास्थानीय हे अश्मान्, त्वम् ‘इन्द्रस्य’
‘वज्रोऽसि’ वज्रसमानोऽसि । कीदृशस्त्वम् ? ‘वार्चन्नः’ वैरिघाती ।
‘नः’ अस्माकं ‘तनूपाः’ शरीरस्य पालकः । ‘प्रतिस्पशः’ रोगाद्यनि-
वृत्त्या विनाशयिता । किञ्च, ‘यः’ शत्रुः अघं पापं अस्मादुपद्रवम्

इच्छतीत्यघायुः तथाविधः सन् 'पुरस्तात्' पूर्वस्यान्दिशि 'नः' अस्मान् 'अभिदासति' हिनस्ति, 'सः' शत्रुः 'एतम्' 'अश्मानम्' उप-
धीयमानं पाषाणम् 'च्छच्छतु' प्राप्नोतु ; पाषाणं प्राप्य स्वयमेव
व्याधितो भवत्वित्यर्थः । 'दक्षिणतः' इत्यादिभिस्त्रिभिः पदैः चयो
मन्त्रा भिद्यन्ते । तेषु त्रिष्वपि अवशिष्टमनुषञ्जनीयम् ।

तैरेतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“देवासुराः संयन्ता
आमन् ते असुराः दिग्भ्यः आ अबाधन्त तान् देवाः इष्वा च वज्रेण
च अपानुदन्त यद्वज्रिणीरूपदधाति इष्वा च एव तद्वज्रेण च
यजमानो भ्रातृव्यान् अप नुदते^(१)” इति । यदा 'देवासुराः' युद्धो-
द्यताः, तदानीम् 'असुराः' चतसृभ्यः 'दिग्भ्यः' आगत्य सर्वतो
बाधितवन्तः । 'तान्' असुरान् 'देवाः' 'इष्वा' वज्रमदृशेन पाषाणेन
च तान् असुरान् 'अपानुदन्त' । ततो 'यजमानः' भ्रातृव्यापनोदनाय
'वज्रिणीः' उपदध्यात् ।

तस्य चोपधानस्य चित्तेर्बहिर्दृष्टं विधत्ते,—“दिक्षु उप दधाति
देवपुराः एव एताः तनूपानीः पर्युहते^(२)” इति । याः 'एताः'
वज्रिण्यः, ताः 'देवपुराः' 'एव' देवानामिन्द्रादीनां पुरम्यानीया
एव । तनूपानीः अस्मच्छरीरस्य पालयित्रीः । एतादृशीः परितः
स्थापयति । एतदपि नक्षत्रेष्टकाब्राह्मणाद् (५।४।१) *ऊर्द्धं द्रष्टव्यम् ।

यत्पूर्वं विहितं “वमोर्धारां जुहोति” (५।४।८) इति ।

* एवमेव सर्वत्र पाठः । अत्र पुनः 'तान् असुरान्' इति पाठः अधिक
इव प्रतिभाति ।

तदेतदनूद्य विशेषं वक्तुम्, आह्वातमपि (४।७।१) मन्त्रं पुनः पठति,—
 “अग्नाविष्णू सजोषसा इमाः वर्धन्तु वां गिरः द्युन्वैर्वाजेभिः आ
 गतम्”^(४) इति । हे ‘अग्नाविष्णू’, ‘इमाः’ ‘गिरः’ अस्माभिः प्रयुक्ताः
 स्तुतिरूपा वाचः ‘सजोषसा’ ‘वां’ परस्परं समानप्रीतियुक्तौ युवां
 ‘वर्धन्तु’ परितोषयन्तु । युवाञ्च ‘द्युन्वैः’ धनैः ‘वाजेभिः’ अन्नैश्च सहितौ
 ‘आ’ ‘गतम्’ इहागच्छतम् ।

तमिमं मन्त्रं विनियुङ्क्त,—“ब्रह्मवादिनो वदन्ति यत् न देवतायै
 जुह्वति अथ किंदेवत्या वसोधारा इति अग्निर्वसुः तस्य एषा
 धारा विष्णुर्वसुः तस्य एषा धारा अग्नौ वैष्णव्या च्छा वसोधारां
 जुहोति भागधेयेनैव एनौ समर्धयति अथो एतामेव आहुतिम्
 आयतनवतीं करोति यत्कामः एनां जुहोति तदेव अत्र हन्ते^(५)”
 इति । अत्र ‘ब्रह्मवादिनः’ एवं विचारयन्ति, वसोधाराया मन्त्रे
 “वाजश्च मे प्रमवश्च मे” (४।७।१।१) इत्येवं फलप्रार्थनैव प्रतीयते,
 न तु काचिद्देवता प्रतिपाद्यते । विधिवाक्ये अपि आज्यधारारूपं
 द्रव्यमेव प्रतीयते, न तु काचिद्देवता । एवं सति, होतारः ‘देवतायै’
 यस्मात् ‘न’ ‘जुह्वति’, तस्मात् ‘किंदेवत्या’ इयं ‘वसोधारा’?
 इत्येवं प्रश्नः । तत्राभिज्ञा उत्तरमेवमाहुः,—विधिवाक्यगतेन वसुधारा-
 शब्देनैव द्रव्यदेवतासम्बन्धः प्रतीयते । वामयतीतिव्युत्पत्त्या ‘वसुः’
 ‘अग्निः’, ‘तस्य’ इयमाज्यधारा वसोधारा । एवं विष्णावपि योज-
 नीयम् । यद्यप्येतौ देवौ “वाजश्च मे” इत्यादिना न प्रतीयते,
 तथापि अनया च्छा प्रतीयेत । तस्मात् एतया ‘वसोधारां’
 जुह्वयात् । तथा सति, उचितेन भागेनैतौ तोषयति । अपि च

‘एताम्’ ‘आहुतिं’ देवतारूपाधारवतीं ‘करोति’ । किञ्च यत्फलं कामयित्वा ‘जुहोति’ तन्नाप्नोति ।

प्रकारान्तरेणैतां प्रशंसति,—“रुद्रो वै एष यदग्निस्तस्यैते तनुवौ घोरा अन्या शिवा अन्या यत् शतरुद्रीयं जुहोति या एव अस्य घोरा तनूः त्वं तेन शमयति यत् वमोर्धारां जुहोति या एव अस्य शिवा तनूः तां तेन प्रीणाति^(१)” इति । शतरुद्रीयहोमेन उद्यातनोः शान्तावपि शिवातनोः प्रीत्यर्थोऽयं वमोर्धाराहोमः इति अस्य प्रशंसायां विशेषं विधातुमयं प्रसङ्गः कृतः ।

तं विशेषं विधत्ते,—“यो वै वमोर्धारायै प्रतिष्ठां वेद प्रति एव तिष्ठति यत् आज्यमुच्छिष्येत तस्मिन् ब्रह्मौदनं पचेत् तं ब्राह्मणा-
स्त्वारः प्राश्नीयुः एष वै अग्निर्वैश्वानरो यत् ब्राह्मणः एषा खलु वै अग्नेः प्रिया तनूः यत् वैश्वानरः प्रियायामेव एनां तनुवां प्रतिष्ठापयति^(२)” इति । ‘यः’ यजमानः वमोर्धारायाः प्रतिष्ठाप्रकारं ‘वेद,’ मः ‘प्रति’-
‘तिष्ठति’ ‘एव’ । कामौ तस्याः प्रतिष्ठा? इत्युच्यते,—होमावशिष्टे आज्ये ब्रह्मौदनं एका ब्राह्मणानां प्राशनं यत्, सैव प्रतिष्ठा । ब्राह्मणस्य सर्व्वपुरुषप्रियत्वेन वैश्वानररूपत्वात्, वैश्वानरस्य च अग्निप्रियगरीरत्वात् तस्मिन्नेव प्रियगरीरे तम् अग्निं ‘प्रतिष्ठापयति’ ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘यदाज्यमुच्छिष्येत तस्मिन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा चतुरो ब्राह्मणान् भोजयेच्चतुःशरावमोदनं पक्त्वा तद्वृद्धनं भोजयेत् प्रागितवद्वृद्धतस्रो धेनूर्दद्यात्’ इति ; तच्च दानं विधत्ते,—“चतस्रो धेनूर्दद्यात् ताभिरेव यजमानः अमुष्मिन् लोके अग्निं दुहे^(३)” इति ।

अत्र मीमांसा ।

तृतीयाध्यायस्य षष्ठपादे (१२अ०) चिन्तितम्,—

अखण्डादीष्टकाधर्माः चित्रिण्यादिषु नोचिताः ।

सन्ति वा ? वाक्यमण्यचानारभ्योक्तं ततो न ते ॥

प्रकृतापूर्वमन्वन्तान्तादृशादपि वाक्यतः ।

अखण्डत्वादयोऽन्यथास्त्रिचित्रिण्यादिषु सन्ति ते ॥

अनारभ्य श्रूयते,—‘चित्रिणीरूपदधाति’ इति, ‘वज्रिणीरूपदधाति’ इति च । अग्निप्रकरणे दृष्टकानां धर्माः श्रुताः ‘अखण्डामकृष्णां कुर्यात्’ इति । पूर्वत्र अंशदाभ्ययोत्पत्तिवाक्यस्य अनारभ्याधीतत्वेऽपि विनियोजकवाक्यं प्रकरणाधीतम् । चित्रिण्यादिनामकानाम् दृष्टका-विशेषाणां विनियोजकवाक्यमण्यनारभ्याधीतम् । तच्च चित्यन्नरे ताश्चित्रिणीर्विनियुङ्क्ते । अखण्डत्वादिधर्मास्तु षष्ठां चितीनां मध्ये प्रथमचित्तौ आस्तातः । तस्मात्, ते ‘चित्रिण्यादिषु नोचिताः’ इति प्राप्ते ब्रूमः,—यद्यपि उत्पत्तिविनियोजकवाक्ययोरन्यतरस्यापि प्रकरणपाठो नास्ति, तथापि “य एवं विद्वानग्निं चिनुते” इति प्रकृतम् यदेतदग्न्यपूर्वं, तत्सम्बन्धित्वेनैव चित्रिण्यादयोऽपि अप्रकरणपठितेनापि वाक्येन विनियुज्यन्ते । अखण्डत्वादयश्च अग्निमाधनभूतेष्टकाधर्माः, न तु प्रथमचित्तिधर्माः । तस्मादग्निमाधनभूतासु चित्रिण्यादीष्टकास्त्वपि ते सन्ति ।

पञ्चमाध्यायस्य तृतीयपादे (७अ०) चिन्तितम्,—

चित्रिण्यादेस्तत्तमायामुपधानं पुराऽथवा ।

अथवायादुत्तमायां, मध्यमायान् वाक्यतः ॥

उक्तमायां पञ्चम्यां चितौ चित्रिण्यादेरनारभ्याधीताया इष्ट-
काया उपधानमुक्तम् । तथा सति, प्रकरणाधीतानां कृत्तकमाणामिष्ट-
कानां परस्परव्यवधानं न प्रसज्येत—इति चेत् । मैवम्, 'याङ्गाच्चित्
ब्राह्मणवनीमिष्टकामभिजानीयात्, तां मध्यमायां चितौ' इति वाक्येन
अनारभ्याधीत्वेन ब्राह्मणेन विहितानामिष्टकानां मध्यमचितौ विनि-
वेशः' ॥ तत्रैव (८ अ०) अन्यच्चिन्तितम्,—

लोकं-पृणात ऊर्ध्वं स्याच्चित्रिण्युत ततः पुरा ।

बादरायणदृष्ट्योर्ध्वं पूरणोक्तेस्ततः पुरा ॥

'चित्रिणीरूपदधाति', 'वज्रिणीरूपदधाति', 'भृतेष्टका उप-
दधाति' इति विहितम् । चित्रिण्यादिकं मध्यमायां चितौ लोकं-
पृणाभिधाया इष्टकाया ऊर्ध्वमुपधेयम् । कुतः ? । बादरायणं तथा
दृष्टत्वात् । "अन्ते तु बादरायणः" (मी० पू० १।२८) इति सूत्रेण
बादरायणस्य मतमुपन्यस्तम् । स हि आगन्तूनामन्तं निवेशमाह,—
लोकं-पृणा च प्रकरणपठितानाम् अन्तिमेष्टका, ततस्तस्या ऊर्ध्वं
चित्रिण्यादिकम्—इति प्राप्तं, ब्रूमः, "लोकं पृण द्विद्रं पृण"
(४।१।४।४) इत्यनेन मन्त्रेण उपधीयमाना इष्टका लोकं-पृणा । तस्याः
कर्मणि ऊनत्वदिदोषपरिहारेण सम्युत्तिष्ठितुत्वं मन्त्रलिङ्गादवगम्यते ।
ब्राह्मणेऽयं वमाम्नातम्,—'यदेवास्थोनं यच्छिद्रं तदेतया प्ररयति लोकं
पृण द्विद्रं पृण' इति । यद्येतस्या इष्टकाया ऊर्ध्वं चित्रिण्यादयः
उपधीयेरन्, तदानो चित्रिण्यादिगते ऊनत्वच्छिद्रत्वं न पश्येयाताम् ।
तस्मात् लोकं-पृणातः पूर्वं चित्रिण्याद्युपधानम् ।

‘ विनियोगविशेषः—इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

इति मायनाचार्यविरचिते माध्ववीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चतकाण्डे सप्तमप्रपाठके द्वाविंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

चिन्तिं जुहोमि मनसा घृतेनेत्याहादाभ्या वै
नामैषाहतिर्वैश्वकर्मणी नैनं चिक्यानं भ्रातृव्यो दम्नो-
त्यथो देवता एवाव रुन्धे^(१) अग्ने तमद्येति पङ्क्त्या
जुहोति पङ्क्त्याहुत्या यज्ञमुखमा रभते^(२) सप्त ते अग्ने
समिधः सप्त जिह्वा इत्याह होचा एवाव रुन्धेऽग्नि-
देवेभ्योऽपाक्रामद्भागधेयम् ॥ १ ॥

इच्छमानस्तस्मा एतद्भागधेयं प्रायच्छन्नेतद्वा अग्ने-
रग्निहोत्रमेतर्हि खलु वा एष जातो यर्हि सर्वश्चितो
जातायैवास्मा अन्नमपि दधाति स एनं प्रीतः
प्रीणाति वसीयान् भवति^(३) ब्रह्मवादिनो वदन्ति यदेष
गार्हपत्यश्चीयतेऽथ कास्याहवनीय इत्यसावादित्य
इति ब्रूयादेतस्मिन् हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति
॥ २ ॥

य एवं विद्वानग्निं चिन्ते साक्षादेव देवता
कृधति^(४) अग्ने यशस्विन् यशसेममर्पयेन्द्रावतीमपि
चित्तीमिहावह । अयं मूर्द्धा परमेष्ठी सुवर्चाः समानाना-

मुत्तमस्रोको अस्तु^{११} । भद्रं पश्यन्त उप सेदुरग्रे तपो
दीक्षामृषयः सुवर्षिदः । ततः क्षुचं बलमोजश्च जातं
तदस्मै देवा अभि सन्नमन्तु^{१२} । धाता विधाता परमा
॥ ३ ॥

उत संहैक् प्रजापतिः परमेष्ठी विराजा । स्तोमा-
म्बुन्द्रांसि निविदो म आहरेतस्मै राष्ट्रमभि स-
न्नमाम^{१३} । अभ्यावर्त्तेभ्वमुप मेत साकमयः शास्ता-
धिपतिर्वो अस्तु । अस्य विज्ञानमनु सः रभध्वमिमं
पश्चादनु जीवाय सवे^{१४} । राष्ट्रभृतता उप दधात्येषा
वा अग्नेश्चिती राष्ट्रमृत्तयैवास्मिन्नाष्ट्रं दधाति, राष्ट्रमेव
भवति नास्माद्राष्ट्रं भ्रंशते ॥ ४ ॥

भागधेयं । जुह्वति । परमा । राष्ट्रं दधाति । सप्त
च ॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

चित्रिण्यश्च त्रयोर्धागस्तृतीयं समुदीरिताः ।

अथ चतुर्थे होमविशेषाः राष्ट्रमृदाख्यं दृष्टकायाभिधीयन्ते ।
यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘चितिं जुहोम्यग्ने तमद्यायमिति दे आह्वताह्वत्वा’
इति ।

तत्र प्रथमाहुतेर्विधिं मन्त्रव्याख्यानेनोक्तयति, “चिन्तिं जुहोमि मनसा हृतेन इति आह अदाभ्या वै नाम एषा आहुतिः वैश्वकर्मणी न एनं चिक्षानं भ्रातृव्यो दभ्नोति अथो देवताः एव अत्र हन्ते^(१)” इति । अयं मन्त्रः पूर्वम् “आपो वरुणस्य पत्नयः” (५।५।४) इत्यनुवाके समाम्नातो व्याख्यातश्च । तस्मिन् होमसाधानत्वेन पठेत् । अस्या आहुतेः ‘अदाभ्या’ इति ‘नाम’, रक्षोभिः कैरपि विनाशयितुमशक्यत्वात् । सा च विश्वकर्मदेवताका, तस्मिन् मन्त्रे ‘विश्वकर्मणे’ इत्याम्नानात् । अस्यामाहुतौ हुतायां चितवन्तम् ‘एनं’ यजमानं ‘भ्रातृव्यो’ ‘न’ हिनस्ति । तस्मादेतां जुहुयात् । अपि चैतां जुहुत् पुरुषो ‘देवताः’ प्राप्नोति ‘एव’ ।

अथ द्वितीयमाहुतिं विधत्ते,—“अग्ने तम् अथ इति पङ्क्त्या जुहोति पङ्क्त्या आहुत्या यज्ञमुखम् आ रभते^(२)” इति । अयं मन्त्रस्तुर्थकाण्डे “अग्निर्मूर्धा” (४।४।४) इत्यनुवाके पठितो व्याख्यातश्च । पङ्क्तिच्छन्दसा ह्रयमाना येयमाहुतिः, तथा यज्ञप्रारम्भं प्राप्नोति ।

“प्राचीमनु प्रदिशम्” (५।४।७) इत्यस्मिन् ब्राह्मणानुवाके ‘पूर्णया जुहोति’ इति यद्विहितं, तदेवानूद्य प्रशंसति,—“सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः इति आह होत्राः एव अत्र हन्ते अग्निर्देवेभ्यो अपाक्रामत् भागधेयम् इच्छमानः तस्मै एतद्भागधेयं प्रायच्छन् एतत् वै अग्नेः अग्निहोचम् एतर्हि खलु वै एष जातो

यर्हि सर्वस्वितो जाताय एव अस्मै अन्नम् अपि दधाति स एनं प्रीतः प्रीणाति वसीयान् भवति^(१)” इति । अयञ्च मन्त्रश्चतुर्थकाण्डे “प्राचीम्” (४।६।५) इत्यनुवाके समाम्नातो व्याख्यातश्च । तस्मिन् मन्त्रे ‘सप्त होचाः’ इत्यभिधानात् अनया आहुत्या होत्रकान् प्रश्ना-स्वादीन् अधीनान् करोति । किञ्च देवैर्दत्तो योऽयमग्रभागः, तद्रूप-त्वात् इयमाहुतिः अस्म्य चोयमानस्य ‘अग्रः’ ‘अग्निहोत्रम्’ इत्युच्यते । यस्मिन् काले साकन्धेन अयमग्निः ‘चितः,’ तदैवायम् उत्पन्नो भवति ; उत्पन्नाय च तस्मै तदाहुतिरूपम् ‘अन्नं’ मत्पादितं भवति । तेन च तप्तोऽग्निर्यजमानं प्रीणयति । स च यजमानो धनपतिर्भवति । एतदुक्तं सर्वं “प्राचीम्” (४।६।५) इत्यनुवाके एव द्रष्टव्यम् ।

अथात्र चोयमानमग्निं प्रश्नोत्तराभ्यामादित्यरूपेण प्रशंसति,—
“ब्रह्मवादिनो वदन्ति यत् एष गार्हपत्यः चोयते अथ क अस्म्य आहवनीयः इति अग्नौ आदित्यः इति ब्रूयात् एतस्मिन् हि सर्वेभ्यो देवताभ्यो जुहति य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते साक्षात् एव देवताः ऋध्नोति^(२)” इति । अन्यत्र ‘अग्निर्होता गृहपतिः’ इत्यादिषु मन्त्रेषु अग्रं गृहपतित्वमुक्तम् । गृहपतिस्वामिकः कश्चित्* प्रदंशो गार्हपत्यः । एवं सति पूर्वस्मिन् वाक्ये ‘एतदा अग्रंरग्निहोत्रम्’ इति चितेऽग्नौ ह्ययमानायाः पूर्णाहुतेरग्निस्वामिकत्वाभिधानात् सर्वेऽप्ययं चोयमानो गार्हपत्यः संपन्नः । तस्मात् आहवनीयो न लभ्यते । आ समन्तात् सर्वे देवा यत्र ह्ययन्तं सोऽयम् आहवनीयः । सर्वस्यापि

* ‘गृहपतिस्वामिकश्चित्’ इति आदर्शपुस्तके पाठः एवं ‘गृहपतिस्वामी कश्चित्’ इति का० की० पुस्तके पाठो न समीचीनः ।

चितप्रदेशस्य अन्यर्यहोमाधारत्वेन गार्हपत्यत्वे सति देवतान्तरहोमार्थः
 आहवनीयः ‘अस्य’ यजमानस्य कुत्र सम्भवेत्?—इत्येवं ब्रह्मवादिनां प्रश्नः ।
 तथाभिन्नः कश्चित् उत्तरमेवं ब्रूयात्,—‘असौ आदित्यः’ एव
 यजमानस्य आहवनीय इति, आदित्ये हि सर्वदेवार्थो होमः
 क्रियते; ‘अग्नौ प्राक्षाज्जतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते’ इति स्मृतेः* ।
 एवं सति यो यजमानश्चीयमानस्य अग्निरादित्यरूपत्वं ज्ञात्वा चयनं
 करोति, सोऽयं ‘साक्षादेव’ अव्यवधानेन ‘देवताः’ तोषयति ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘अग्ने यज्ञस्त्रिभित्ति चतस्रो राशभ्यतः
 पुरस्तादुपधाय’ इति । तदेतदिधातुम् उत्पादनीयेषु मन्त्रेषु
 प्रथमाष्टकमाह,—“अग्ने यज्ञस्त्रिन् यज्ञसा इमम् अर्पय इन्द्रावतीम्
 अपचितीम् इह आ वह । अयं मूर्धा परमेष्ठी सुवर्चाः समानानाम्
 उत्तमश्लोकः अस्तु^(१)” इति । प्रभूतं यज्ञो यस्यास्ति स यज्ञस्त्री,
 तादृश हे अग्ने, ‘इमं’ यजमानं ‘यज्ञसा’ ‘अर्पय’ संयोजय ।
 ‘इन्द्रावतीम्’ इन्द्रस्य योग्यां ‘अपचितीं’ पूजाम् ‘इह’ कर्मणि ‘आ-वह’
 शब्दादयः । ‘अयं’ यजमानः तत्प्रसादात् ‘समानानां’ यजमानानां
 मध्ये ‘मूर्धा’ शिरस्थानीयः, ‘परमेष्ठी’ उत्तमस्थाननिवासी, ‘सुवर्चाः’
 शोभनकान्तिः, ‘उत्तमश्लोकः’ सत्कीर्त्तियुक्तश्च ‘अस्तु’ ।

अथ द्वितीया,—“भद्रं पश्यन्तः उप सेदुः अग्ने तपो दीक्षाम्
 चक्षयः सुर्विदः । ततः चक्षं बलम् ओजस्य जातं तदस्मै देवा
 अभिषञ्जमन्तु^(१)” इति । ‘अग्ने’ पूर्वस्मिन् काले ‘चक्षयः’ केषित्
 महात्मानः ‘भद्रं’ कल्याणं कर्मफलं ‘पश्यन्तः’ शास्त्रदृष्ट्या निश्चित्वानाः

* ‘अग्नेः’ इति का० क्री० पुस्तके पाठः ।

‘सुवर्विदः’ स्वर्गं लब्धुकामाः ‘तपः’ कर्माङ्गभूतम् अनघनादिकं, ‘दीर्घा’ मौल्यादिनियमविशेषश्च ‘उप’—‘वेदुः’ अनुष्ठितवन्तः । ततोऽनुष्ठानात् तेषां ‘चञ्चं’ चतादनिष्ठात् चण्णं रचणं, ‘बलं’ शरीरसामर्थ्यं, ‘ओजः’ धातुपुष्टिश्च इत्येतत् सर्वं ‘जातं’ सम्पन्नं; ‘तत्’ फलं सर्वम् ‘अस्मै’ यजमानाय ‘देवाः’ ‘अभि’—‘सन्नमन्तु’ सर्वतः मन्त्रादयन्तु ।

अथ तृतीयामाह,—“धाता विधाता परमा उत मन्दृक् प्रजापतिः परमेष्ठी विराजा स्तोमाः कृन्दांसि निविदः मे आङ्गः एतस्मै राष्ट्रम् अभि सन्नमाम^(१)” इति । ‘परमा’ परमः उत्तमो ‘धाता’ पोषको यो देवः, यश्च ‘विधाता’ स्रष्टा, ‘उत’ अपिच ‘मन्दृक्’ मन्त्रगभिज्ञः ‘प्रजापतिः’ प्रजानां पालकः, परमे उत्कृष्टे मन्त्रलोकादौ तिष्ठति इति ‘परमेष्ठी’, ‘विराजा’ ब्रह्माण्डरूपया विराण्मूर्त्या सहितः, तादृशो यो देवः, ये च ‘स्तोमाः’ त्रिवृदादयः, यानि च ‘कृन्दांसि’ गायत्र्यादीनि, याश्च ‘निविदः’ ‘देवेद्वमन्विद्ध’—इत्यादीनि निवि-
त्यदानि, सर्वे ‘मे’ मर्त्यम् ‘आङ्गः’ भुवन्तु । तैर्वक्तव्यं प्रदर्शयते,—‘एतस्मै’ यजमानाय ‘राष्ट्रम्’ ‘अभि’—‘सन्नमाम’ देशाधिपत्यं सर्वतः मन्त्रादयाम् । तदिदं तैर्वक्तव्यम् ।

अथ चतुर्थी,—“अभ्यावर्त्तध्वम् उप मा एत माकम् अयं शास्त्रा अधिपतिर्वः अन्त । अस्य विज्ञानम् अनु मूर्त्रमध्वम् इमं पश्चात् अनु जीवाय सर्वे^(२)” इति । हे मनुष्याः, ‘सर्वे’ यूयं ‘अभ्यावर्त्तध्वं’ सर्वतः आगच्छत । ‘माकं’ परस्परं मिलित्वा ‘मा’ मन्त्रीयं यजमानं ‘उप’ समीपम् ‘एत’ आगच्छत । ‘अयं’ यजमानः ‘वः’ युष्माकं ‘शास्त्रा’ अनुशासकः ‘अधिपतिः’ अधिकं पालयिता च ‘अन्तु’ ।

‘अस्य’ यजमानस्य ‘विज्ञानं’ चित्तवृत्तिम् अनुसृत्य ‘संरम्भं’ सम्बन्धं प्रवर्तध्वं । ‘इमं’ यजमानम् अनुसृत्य ‘पश्चात्’ ‘जीवाय’ एनं यजमानं संविज्ञानेन दत्तं जीवितं गृह्णीत इत्यर्थः ।

एतैर्मन्त्रैः माध्यमुपधानं विधत्ते,—“राद्वभृत् एताः उप दधाति एषा वै अग्नेः चितिः राद्वभृत् तथा एव अस्मिन् राद्वं दधाति राद्वमेव भवति न अस्मात् राद्वं भ्रूयते(८)” इति । राद्वशब्दोपेतान् मन्त्रान् विभ्रति तैरुपधीयन्ते इति ‘राद्वभृत्ः’; एतदुपधानेन निष्पन्ना या ‘चितिः’, सा ‘एषा’ ‘अग्नेः’ मन्त्रन्विनी ‘राद्वभृत्’—इत्युच्यते । ‘तथा’ ‘एव’ अस्मिन् यजमाने ‘राद्वं’ स्थापयति । तच्च ‘राद्वम्’ अस्याधीनमेव ‘भवति’ ‘अस्मात्’ यजमानात् तत् ‘राद्वं’ कदाचिदपि ‘न’ भ्रष्टं भवति । एतच्च नक्षत्रेष्टकाब्राह्मणात् (५।४।१) ऊर्ध्वं द्रष्टव्यम् ॥

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयज्ञः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

यथा वै पुत्रो जातो म्रियते एवं वा एष म्रियते
यस्याग्निरुख्यं उद्धारयति यन्निर्मथं कुर्याद्विच्छिंद्या-
द्भ्रातृव्यमस्मै जनयेत्स एव पुनः परीध्यः स्वादेवैनं योने-
र्जनयति नास्मै भ्रातृव्यं जनयति तमो वा एतं गृह्णाति
यस्याग्निरुख्यं उद्धारयति मृत्युस्तमः कृष्णं वासः कृष्णा
धेनुर्दक्षिणा तमसा ॥ १ ॥

एव तमो मृत्युमपहते^१ हिरण्यं ददाति ज्योतिर्वै
 हिरण्यं ज्योतिषैव तमोऽपहतेऽथो तेजो वै हिरण्यं तेज
 एवात्मन्यते^२ सुवर्नं घर्मः स्वाहा सुवर्नार्कः स्वाहा
 सुवर्नं शुक्रः स्वाहा सुवर्नं ज्योतिः स्वाहा सुवर्नं सूर्यः
 स्वाहा^३ अर्को वा एष यदग्निरसावादित्यः ॥ २ ॥

अश्वमेधो यदेता आहुतीर्जुहोत्यर्काश्वमेधयोरैव
 ज्योतींषि सन्दधात्येष ह त्वा अर्काश्वमेधो यस्यैतदग्नौ
 क्रियते^४ आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् स एतां
 प्रजापतिः प्रथमाञ्चितिमपश्यत्तामुपाधत् तद्विय-
 मभवत्^५ तं विश्वकर्माऽब्रवीदुप त्वायानीति नेह
 लोकोऽस्तीति ॥ ३ ॥

अब्रवीत्स एतां द्वितीयाञ्चितिमपश्यत्तामुपाधत्
 तदन्तरिक्षमभवत्^६ स यज्ञः प्रजापतिमब्रवीदुप
 त्वायानीति नेह लोकोऽस्तीत्यब्रवीत्स विश्वकर्माण-
 मब्रवीदुप त्वायानीति केन मोपैष्यसीति दिश्याभि-
 रित्यब्रवीत्तं दिश्याभिरुपैत्ता उपाधत् ता दिशः ॥
 ॥ ४ ॥

अभवन्^७ स परमेष्ठी प्रजापतिमब्रवीदुप त्वायानीति
 नेह लोकोऽस्तीत्यब्रवीत्स विश्वकर्माणं च यज्ञञ्चा-
 ब्रवीदुप वामायानीति नेह लोकोऽस्तीत्यब्रूताः स

एतां तृतीयाञ्चितिमपश्यन्तामुपाधत्त तदसावभवत्^(८)
स आदित्यः प्रजापतिमब्रवीदुप त्वा ॥ ५ ॥

आयानीति नेह लोकोऽस्तीत्यब्रवीत्स विश्वकर्माणं
च यज्ञञ्चाब्रवीदुप वामायानीति नेह लोकोऽस्ती-
त्यब्रूताः स परमेष्ठिनमब्रवीदुप त्वायानीति केन मोपै-
ष्यसीति लोकं पृणयेत्यब्रवीत्तः लोकं पृणयोऽपैत्तस्मा-
दयातयाम्नी लोकं पृणयातयामा ह्यसौ ॥ ६ ॥

आदित्यः^(१०) तानृषयोऽब्रुवन्नप व आयामेति केन न
उपैष्यथेति भूमेत्यब्रुवन् तान् द्वाभ्याञ्चितीभ्यामुपायन्
स पञ्चचितीकः समपद्यत्^(११) य एवं विद्वानग्निं चिनुते
भूयानेव भवत्यभीमान् लोकान् जयति विदुरेनं देवा
अथो एतासामेव देवतानाः सायुज्यं गच्छति^(१२) ॥ ७ ॥

तमसा । आदित्यः । अस्तीति । दिशः । आदित्यः
प्रजापतिमब्रवीदुप त्वा । असौ । पञ्चचत्वारिंशच्च ॥ ५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
पञ्चमोऽनुवाकः ॥०॥

तिस्र आहुतयो राश्रभृतस्तुर्ये समीरिताः ।

अथ पञ्चमे पुनः परीत्यनादयो विधीयन्ते । यदुक्तं सूत्रकारेण,—
'यस्याग्निहव्य उदायेद्गार्हपत्यादन्यं प्रणयेत्स एव पुनः परीत्यः' इति ।

तदिदं विधत्ते,—“यथा वै पुत्रो जातो म्रियते एवं वै एष म्रियते
 यस्याग्निरुख्यः उदायति यत् निर्मन्थं कुर्यात् विच्छिन्द्याद् भ्रातृव्यम्
 अस्मै जनयेत् स एव पुनः परीध्यः स्वात् एव एनं योनेर्जनयति
 न अस्मै भ्रातृव्यं जनयति^(१)” इति । ‘यस्य’ यजमानस्य उख्याग्निः
 ज्ञाम्यति, तस्य पुत्रमरणवत् अग्निनाशनिमित्तं दुःखं जायते । तस्य
 निर्मन्थेन अन्यन्तरोत्पादने मति पूर्वः* अग्निं ‘विच्छिन्द्यात्’ । स च
 विच्छिन्नः अस्य यजमानस्य वैरिणं ‘जनयेत्’ । अतस्तत्परिहाराय
 गार्हपत्यनिष्ठः ‘मः’ अग्निः ‘एव’ पुनरपि आनीय परितः काष्ठप्रक्षेपेण
 दन्वनीयः ; तथा मति स्वकारणादेव उत्पन्नत्वात् वैरिणं ‘न’ ‘जनयति’ ।

अत्रैव प्रायश्चित्तरूपां दक्षिणां विधत्ते,—“तमो वै एतं
 गृह्णाति यस्याग्निरुख्य उदायति मृत्युस्तमः कृष्णं वामः कृष्णा
 धेतुर्दक्षिणा तमसा एव तमो मृत्युम् अपहृते^(२)” इति । ‘यस्य’
 यजमानस्य उख्याग्निः नश्येत्, एनं यजमानं ‘तमः’ ‘गृह्णाति’ ;
 तच्च मृत्युरूपम् । अतस्तत्परिहाराय कृष्णवर्णमेकं वस्त्रं कृष्णवर्णा
 च ‘धेतुः’ ‘दक्षिणा’ तेन दातव्या । एवं मति तमोरूपत्वात्
 दक्षिणायाः तं मृत्युरूपं ‘तमः’ विनाशयति ।

अथ तत्रैव दानान्तरं विधत्ते,—“हिरण्यं ददाति ज्योतिर्वै
 हिरण्यं ज्योतिषा एव तमः अपहृते अथो तेजो वै हिरण्यं तेज एव
 आत्मन् धत्ते^(३)” इति । हिरण्यरूपेण ‘ज्योतिषा’ मृत्युरूपस्य तमसो
 विनाशनं युक्तम् । अपि च हिरण्यस्य तेजस्त्वात् आत्मनि ‘तेजः’
 संपादयति । तदेतत् ब्राह्मणं सर्वान्तं द्रष्टव्यम् ।

* ‘पूर्वम्’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘सुवर्नं घर्मः स्वाहेति पञ्चार्काङ्गतीर्ज्जला’ इति । तदिदं विधातुं मन्त्रानुत्पादयति,—“सुवर्नं घर्मः स्वाहा सुवर्नं अर्कः स्वाहा सुवर्नं शुक्रः स्वाहा सुवर्नं ज्योतिः स्वाहा सुवर्नं सूर्यः स्वाहा^(४)” इति । ‘सुवर्नं’ स्वर्ग इव, यथा स्वर्गे अवस्थिता देवाः दीप्यमानाः, एवं ‘घर्मः’ दीप्यमानो अग्निरिति, तस्मै ‘स्वाहा’ ऊतमस्य । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । ‘अर्कः’ अर्चनीयः । ‘शुक्रः’ अतिनिर्मलः । ‘ज्योतिः’ प्रकाशरूपः । ‘सूर्यः’ सूर्यवर्णः आदित्यरूपः ।

एतैर्मन्त्रैर्होमं विधत्ते,—“अर्का वै एष यदग्निः अग्नौ आदित्यः अश्वमेधः यत् एताः आङ्गतीर्ज्जुहोति अर्काश्वमेधयोरेव ज्योतींषि सन्दधाति एष ह त्वै अर्काश्वमेधी यस्य एतत् अग्नौ क्रियते^(५)” इति । योऽयं चीयमानः ‘अग्निः’ क्रतुसाधनभूतः, ‘एषः’ अर्चनीयत्वात् ‘अर्कः’ इत्युच्यते । योऽयम् ‘आदित्यः’, स एष क्रतुफलरूपत्वात् ‘अश्वमेधः’ इत्युच्यते । ‘सुवर्नं’ इत्येतन्मन्त्रहोमेन ‘अर्काश्वमेधयोः’ अग्न्यादित्ययोः यानि ‘ज्योतींषि’ तानि मन्त्रादयति । ‘यस्य’ यजमानस्य अग्निचयने तत् ‘एतत्’ आङ्गतिपञ्चकं ‘क्रियते’, स ‘एषः’ एव यजमानः ‘अर्काश्वमेधी’ क्रतुसाधन-तत्फलाभ्यामुपेतः । एतच्च ब्राह्मणं “अग्निर्देवेभ्यः” (५।४।८) इत्यनुवाकान्ते द्रष्टव्यम् ।

अथ चितीनां पञ्चानां प्रशंसा । तत्र प्रथमाश्चितिं प्रशंसति,—“आपो वै इदमग्रे मलिलमासीत् स एतां प्रजापतिः प्रथमां चितिम् अपश्यत् ताम्” उपाधत्त तत् इयम् अभवत्^(६)” इति । यदिदं भूम्यन्तरिक्षादिरूपं जगत्, तद् ‘इदं’ सृष्टेः प्राक् अनेन रूपेण विभूतं नासीत्, किन्तु ‘आपः’ एव आसीत् । तामु अप्सु भूतान्तरं

न मिलितम्, किन्तु नैरन्तर्येण 'मलिलम्' एव 'आसीत्' । तदानीं 'प्रजापतिः' अवस्थातुमाधारः को वा भविष्यति ?—इति विचार्य्य 'एतां' 'प्रथमाच्चिति' दृष्ट्वा 'उपाधत्त' । तदानीं सा चितिः 'इयं' भूमिरूपा 'अभवत्', तत्रायं प्रजापतिरवस्थितः ।

अथ द्वितीयाच्चितिं प्रशंसति, —“तं विश्वकर्मा अब्रवीत् उप त्वा आयानि इति नेह लोकः अस्ति इति अब्रवीत् स एतां द्वितीयां चितिम् अपश्यत् ताम् उपाधत्त तत् अन्तरिक्षम् अभवत्^(१)” इति । विश्वकर्माख्यः कश्चित् अन्यः अवस्थातुमाधारम् अलभमानः 'तं' भूमौ अवस्थितं प्रजापतिम् इदम् 'अब्रवीत्',—अहमपि त्वाम् 'उप' आगच्छानि त्वत्समीपे उपविशानि 'इति' । स च प्रजापतिः 'इह' भूमौ तव अवकाशो 'न' 'अस्ति' 'इति' 'अब्रवीत्' । ततः 'सः' विश्वकर्मा स्वस्थाधारः को भविष्यति ?—इति विचार्य्य 'एतां' 'द्वितीयाच्चिति' दृष्ट्वा 'ताम्' 'उपाधत्त' । तदानीं सा द्वितीया चितिः 'अन्तरिक्षम्' 'अभवत्' । तत्रायं विश्वकर्मा अवस्थितः ।

अथ दिश्याख्या इष्टकाः प्रशंसति,—“स यज्ञः प्रजापतिम् अब्रवीत् उप त्वा आयानि इति नेह लोकः अस्ति इति अब्रवीत् स विश्वकर्मणम् अब्रवीत् उप त्वा आयानि इति केन मा उपैष्यमि इति दिश्याभिः इति अब्रवीत् तं दिश्याभिः उपैत् ताः उपाधत्त ता दिशः अभवन्^(२)” इति । यज्ञाख्येन पुरुषेण स्थाने पृष्ठे सति प्रजापतिः परिजहार । विश्वकर्मा 'तु' 'केन' उत्कोचरूपेण साधनेन सह मां प्रत्यागमिष्यमि ?—इति पप्रच्छ । स च यज्ञः 'दिश्याभिः' इष्टकाभिः सह आगमिष्यामि—इत्युक्त्वा तथैव

गतवान् । “राज्यसि प्राची दिक्” (४।४।२) इत्यादिभिर्मन्त्रैर्दिक्षु उपधेया ‘दिक्षाः’, ‘ताः’ च उपहिताः सत्यो दिगूपाः ‘अभवन्’ । ततो यज्ञस्य अवकाशोऽभूत् ।

अथ तृतीयाञ्चितिं प्रशंसति,—“स परमेष्ठी प्रजापतिमब्रवीत् उप त्वा आयानि इति नेह लोकः अस्ति इति अब्रवीत् स विश्वकर्माणं च यज्ञश्च अब्रवीत् उप वाम् आयानि इति नेह लोकः अस्ति इति अब्रूताः स एतां तृतीयां चितिम् अपश्यत् ताम् उपाधत्त तत् असौ अभवत्^(९)” इति । प्रजापतिर्विश्वकर्मा परमेष्ठी—इत्येते चयोऽपि एतस्यैव* मूर्त्तिभेदाः । तच्च परमेष्ठिना प्रार्थितः प्रजापतिः भूमौ अवकाशम् अदत्त्वा परिजहार ; विश्वकर्मा यज्ञश्च—इत्येतावपि अन्तरिक्षे दिक्षु च अवकाशमदत्त्वा परिजहत्तुः । ततः परमेष्ठी विचार्य ‘तृतीयाञ्चितिं’ दृष्ट्वा ‘उपाधत्त’ । सापि चित्तिर्द्यौः ‘अभवत्’ । तत्रायं परमेष्ठी स्वयमवस्थितः ।

अथ लोकंप्रणष्टृकां प्रशंसति,—“स आदित्यः प्रजापतिम् अब्रवीत् उप त्वा आयानि इति नेह लोकः अस्ति इति अब्रवीत् स विश्वकर्माणश्च यज्ञश्च अब्रवीत् उप वाम् आयानि इति नेह लोकः अस्ति इति अब्रूताः स परमेष्ठिनम् अब्रवीत् उप त्वा आयानि इति केन मा उपैष्यसि इति लोकंप्रणया इति अब्रवीत् तं लोकंप्रणया उपैत् तस्मात् अयातयाब्धी लोकंप्रणा अयातयामा हि असौ आदित्यः^(१०)” इति । ‘स आदित्यः’ लोकंप्रणाम् आनीतवान् । तस्याम् उपहितायाम् आदित्यस्य

* ‘एकस्यैव’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

अवकाशोऽभूत् । यस्मादित्यमादित्येन आनीता, 'तस्मात्' अगतमारा
'लोकंष्टणा'; आदित्योऽपि अगतमारः पुनःपुनरावर्त्तमानोऽपि
तस्मिन् जगदुपकारकस्य प्रकाशरूपस्य मारस्य अनीयमाणत्वात् ।
आदित्यवत् लोकंष्टणा पुनःपुनः प्रयुज्यमानापि अनीयमाणमारा ।
यत्र यत्र* क्षितौ क्षिद्रमस्ति, तत्र तत्र लोकंष्टणा प्रयुज्यते ।

अथ चतुर्थपञ्चमचिती प्रशंसति, "तान् षष्ठयः अभवन् उप वः
आयाम इति केन न उपैष्यथ इति भुक्त्वा इति अभवन् तान्
द्वाभ्याश्चितीभ्याम् उपायन् सः पञ्चचितीकः समपद्यत^(११)" इति ।
'तान्' प्रजापति-विश्वकर्म-यज्ञ-परमेष्ठ्यादित्यान् अन्ये केचित् 'षष्ठयः'
स्थानं प्रार्थितवन्तः; ततः प्रजापत्यादिभिरुत्कोचे याचिते सति
उत्कोचवाङ्मयं प्रतिज्ञाय चितिदयमानीतवन्तः । अतस्तेषामवकाशो-
ऽभूत् । तदेवं प्रशस्ताभिश्चितीभिः अयमग्निः 'पञ्चचितीकः' अभूत् ।

एतदेदनपूर्वकमनुष्ठानं प्रशंसति,—“य एवं विद्वान अग्निं चिनुते
भूयान् एव भवति अभि दमान् लोकान् जयति विदुः एनं देवाः
अथो एतासामेव देवतानां मायुजं गच्छति^(१२)" इति । विद्यादि-
गुणसमृद्धिः भूयस्त्वम् । लोकत्रयस्य स्वाधीनत्वं जयः । देवैर्वदनं नाम
एतदीया कर्मर्त्तिः† । अपि च 'एतामां' 'देवतानां' महभावं प्राप्नोति ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके पञ्चमोऽनुवाकः ॥०॥

* 'यत्र कुत्र' इति आदर्शादिपुस्तकपाठो न सम्यक् ।

† 'एकैकतदीया कीर्त्तिः' इति का० श्री० पु० पाठः ।

वयो वा अग्निर्यदग्निचित्पक्षिणोऽश्लीयात्तमेवाग्नि-
मद्यादात्तिमाच्छेत् संवत्सरं ब्रतश्चरेत् संवत्सरः हि
ब्रतं नाति^(१) पशुर्वा एष यदग्निर्हि नस्ति खलु वै तं
पशुये एनं पास्तात् प्रत्यच्चमुपचरति तस्मात् पश्चात्
प्राङुपचर्य आत्मनोऽहिंसायै^२ तेजोऽसि तेजो मे
यच्छ पृथिवीं यच्छ ॥ १ ॥

पृथि॒यै मा पाहि॒ ज्योति॑रसि॒ ज्योति॑र्मे यच्छान्तरिक्षं
यच्छान्तरिक्षान्मा पाहि॒ सुव॑रसि॒ सुव॑र्मे यच्छ दिवं यच्छ
दिवो मा पाहि^(१) इत्याहैताभिर्वा इमे लोका विधृता
यदेता उप॒दधा॑त्येषां लोकानां विधृत्यै^२ स्वयमातृणा
उप॒धाय॑ हिरण्येष्टका उप॒ दधा॑तीमे वै लोकाः स्वय-
मातृणा ज्योति॑र्हिरण्यं यत्स्वयमातृणा उप॒धाय॑ ॥ २ ॥

हि॒र॒ण्येष्ट॒का उप॒दधा॑तीमानेवैताभिर्लोकान् ज्योति॑-
ष्मतः कुरुतेऽथा एताभिर्वासा इमे लोकाः प्रभान्ति^(३)
यास्ते अग्ने॒ सूर्ये॑ रुच॒ उद्य॑तो दिव॒मात॑न्वन्ति रु॒श्मिभिः॑ ।
ताभिः॒ सर्वा॑भी रुच॒े जना॑य नस्कृधि^(४) । या वो दे॒वाः सूर्ये॑
रुचो॑ गो॒ष्ठश्चैष॑ या रुचः॑ । इन्द्रा॑ग्नी ताभिः॒ सर्वा॑भी रुचं
नो धत्त॑-वृ॒हस्प॑ते^(५) । रुचं॑ नो धेहि ॥ ३ ॥

ब्राह्म॒णेषु॑ रुचः॒ राज॑सु नस्कृधि । रुचं॑ वि॒श्वेषु॑ शु॒द्रेषु॑
मयि॑ धेहि रु॒चा रुचं॑^(६) इ॒धा वा अग्निं॑ चि॒क्या॒नस्य॑

यश्च इन्द्रियं गच्छत्यग्निं वा चित्तमोज्ञानं वा यदेता
 आहुतीर्जुहोत्यात्मन्नेव यश्च इन्द्रियन्धत्ते^{१०} ईश्वरो
 वा एष आर्तिमार्तोऽग्निं चिन्वन्नधिक्रामति तत्त्वा
 यामि ब्रह्मणा वन्दमान इति वारुण्यर्चा ॥ ४ ॥

जुहुयाच्छान्तिरेवैषामेर्गुप्तिरात्मनः^{११} हविष्कृतो वा
 एष योऽग्निं चिनुते यथा वै हविस्कुन्दत्येवं वा एष स्कुन्दति
 योऽग्निं चित्वा स्त्रियमुपैति मैत्रावरुणायामिक्षया यजेत
 मैत्रावरुणतामेवोपैत्यात्मनोऽस्कुन्दाय^{१२} यो वा अग्नि-
 मृतुस्थां वेदतुर्कृतुरस्मै कल्पमान गति प्रत्येव तिष्ठति
 संवत्सरो वा अग्निः ॥ ५ ॥

कृतुस्थास्तस्य वसन्तः शिरो ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षो
 वर्षाः पुच्छः शरदुत्तरः पक्षो हेमन्तो मध्य पूर्वपक्षा-
 श्वितयोऽपरपक्षाः पुरीषमहोरात्राणीष्टका एष वा
 अग्निर्कृतुस्था य एवं वेदतुर्कृतुरस्मै कल्पमान गति
 प्रत्येव तिष्ठति^{१३} प्रजापतिर्वा एतं ज्यैष्ठ्याकामो न्यधत्त
 ततो वै स ज्यैष्ठ्यमगच्छद्य एवं विद्वानग्निं चिनुते,
 ज्यैष्ठ्यमेव गच्छति^{१४} ॥ ६ ॥

पृथिवीं यच्छ । यत्स्वयमातृणा उपधाय । धेहि ।
 कृचा । अग्निः । चिनुते । वीणि च ॥ ६ ॥ .

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
 षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

पुनःपरौन्धनाद्यत्र पञ्चमे समुदीरितम् ।

अथ षष्ठे व्रतचरणादिकमभिधीयते ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘संवत्सरं न किञ्चन प्रत्यवरोहेष्व च रामामुपेयाञ्च पक्षिणोऽग्नीयात्’ इत्यादि । तत्र पक्ष्यजननिषेधरूपं संवत्सरव्रतं विधत्ते,—“वयो वै अग्निः यत् अग्निचित् पक्षिणः अग्नीयात् तमेवाग्निम् अद्यात् आर्त्तिमार्च्छेत् संवत्सरं तं चरेत् संवत्सरः हि व्रतं न अति^(१)” इति । योऽयं चीयमानः ‘अग्निः’ स पक्षिरूप एव । “वयसां वा एष प्रतिमया चीयते” (५। ५। ३। २) इति पूर्वमुक्तम् । एवं सति अयम् ‘अग्निचित्’ यदि ‘पक्षिणः’ भक्षयेत्, तर्हि ‘अग्निम् एव’ भक्षितवान् भवति । ततो क्षियेत । अतस्तत्परिहाराय संवत्सरमात्रं पक्षिभक्षणवर्जनरूपं ‘व्रतं’ ‘चरेत्’ । तस्मात् संवत्सरमतीत्य व्रतचरणं न कापि दृष्टम् तस्मात्तद्व्रतपर्याप्तम् एतद्वाङ्मन्यं, पूर्वोक्तञ्च (५। ७। ५। ५) चित्-प्रशंसारूपं ब्राह्मणं सर्वान्ते द्रष्टव्यम् ।

अथ चित्यारोहणस्य पश्चिमदिङ्मयमं विधत्ते,—‘पशुर्वै ए यदग्निर्हिंनस्ति खलु वै तं पशुः य एनं पुरस्तात् प्रत्यक्षम् उपचरति तस्मात् पश्चात् प्राङ् उपचर्य आत्मनः अहिंसाये^२” इति । अग्ने पशुरूपत्वात् पुरस्तात् आरोहणे यथा पशुः शृङ्गाभ्यां हिंनस्ति तेदत् अयमपि हिंस्यात् । ‘तस्मात्’ पश्चिमायां दिशि प्राप्नुषेः ‘उपचर्य’ आरोहणीयः । तच्च ‘आत्मनः’ आरोदुः अहिंसार्थं भवति एतच्च “अग्ने तव अबो वयः” (५। २। ६) इत्यनुवाके द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘तेजोऽसि तेजो मे यच्छेति हिरण्येष्टकाम’—

इति, 'ज्योतिरसि ज्योतिर्मे यच्छेति हिरण्येष्टकाम्' इति च, 'सुवरसि सुवर्मे यच्छेति हिरण्येष्टकाम्' इति च । तदेतद्विधातुं मन्वानुत्पादयति,—“तेजोऽसि तेजो मे यच्छ पृथिवीं यच्छ पृथिव्यै मा पाहि ज्योतिरसि ज्योतिर्मे यच्छ अन्तरिक्षं यच्छ अन्तरिक्षात् मा पाहि सुवरसि सुवर्मे यच्छ दिवं यच्छ दिवो मा पाहि^(१)” इति । प्रथमचित्तौ उपधातव्ये हे हिरण्येष्टके, त्वं तेजोरूपासि । ‘मे’ मदर्धं ‘तेजः’ देहि । तथा ‘पृथिवी’ देहि । यदा पृथिवीं मदुपकारित्वेन नियमय । तस्याः पृथिव्याः सकाशात्मां ‘पाहि,’ यथा पृथिवी मोपद्रवं करोति तथा कुरु । एवं तृतीयपञ्चमचित्तिविषयोरुत्तरयोर्मन्त्रयोर्द्यौज्यम् । ‘सुवः’ स्वर्गसुखम् । ‘दिवं’ द्युलोकम् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“इत्याह एताभिर्वै इमे लोकाः विधृताः यत् एताः उपदधाति एषां लोकानां विधृत्यै^(४)” इति । इत्युक्तान् मन्वानुपधानकाले पठेत् । ‘एताभिः’ हिरण्येष्टकाभिः ‘इमे’ च यो ‘लोकाः’ ‘विधृताः’ । अतः एतदुपधानं लोकघृत्यै भवति ।

अस्योपधानस्य तत्तच्चित्तिगतस्वयमादृष्ट्याभ्य ऊर्ध्वकालं विधत्ते,—“स्वयमादृष्ट्या, उपधाय हिरण्येष्टका उप दधाति इमे वै लोकाः स्वयमादृष्ट्या ज्योतिर्हिरण्यं यत् स्वयमादृष्ट्याः उपधाय हिरण्येष्टकाः उपदधाति इमान् एव एताभिर्लोकान् ज्योतिभ्यतः कुरुते अग्ने एताभिरेव अग्ने इमे लोकाः प्र भास्ति^(५)” इति । एतच्च “स्वयमादृष्ट्याम्” (५।२।८) इत्यनुवाके द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘यास्ये अग्ने सूर्यं त्वं इति तिस्रो रश्मि’

इति । रुगाख्या आहुतीर्जुह्यादित्यर्थः । तत्र प्रथमामाह,—
 “यास्ते अग्ने सूर्ये रुचः उद्यतो दिवम् आतन्वन्ति रश्मिभिः ताभिः
 सर्वाभिः रुचे जनाय नः हृधि^(१)” इति । हे ‘अग्ने’, ‘सूर्ये’ सूर्यमण्डले
 स्थितस्य ‘ते’ तव ‘उद्यतः’ उदयं गच्छतः ‘याः’ ‘रुचः’ दीप्तयः
 ‘दिवं’ द्युलोकम् ‘आतन्वन्ति’ सर्वतो व्याप्नुवन्ति, ‘ताभिः’
 ‘सर्वाभिः’ ‘रश्मिभिः’ ‘नः’ ‘जनाय’ अस्मदीयजनार्थं ‘रुचे’ ‘हृधि’
 रुचं दीप्तं कुरु ।

अथ द्वितीयामाह,—“या वो देवाः सूर्ये रुचः गोषु अश्वेषु
 या रुचः इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभिः रुचं नः धत्त वृहस्पते^(२)”—इति ।
 हे ‘देवाः’, ‘वः’ युष्माकं सम्बन्धिन्यः सूर्यमण्डले ‘याः’ ‘रुचः’
 दीप्तयो वर्तन्ते, तथा ‘गोषु’ ‘अश्वेषु’ च ‘या रुचः’ वर्तन्ते, हे
 ‘इन्द्राग्नी’, ‘ताभिः सर्वाभिः’ दीप्तिभिः ‘नः’ अस्मदर्थं ‘रुचं’ ‘धत्त’
 दीप्तं कुरुत ।

अथ तृतीयामाह,—“रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचः राजसु
 नः हृधि रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्^(३)”—इति ।
 हे अग्ने, ‘नः’ अस्मदीयेषु ‘ब्राह्मणेषु’ ‘रुचं’ ‘धेहि’ प्रकाशं कुरु ।
 ‘नः’ अस्मदीयेषु ‘राजसु’ ‘रुचं’ ‘हृधि’ प्रकाशं कुरु । तथा
 ‘विश्वेषु’ वैश्वेषु ‘शूद्रेषु’ च ‘रुचं’ प्रकाशं कुरु । तथा च ‘रुचा’
 तदीयया दौष्ट्या ‘मयि’ ‘रुचं’ ‘धेहि’ प्रकाशं कुरु ।

एतेर्मन्त्रैः साध्यं क्रमं विधत्ते,—“देधा वै अग्निं चिक्वानस्य
 यशः इन्द्रियं गच्छति अग्निं वा चितम् ईजानं वा यदेता आहुतीः
 जुहोति आत्मन्नेव यशः इन्द्रियं धत्ते^(४)” इति । यो यजमानः

अग्निं चितवान् तस्य 'यज्ञः' कौर्तिः 'इन्द्रियं' सामर्थ्यं वा अन्यत्र गच्छति । कुत्र ? इति चेत् । श्रूयताम्, योऽयमिदानीं चितः . अग्निः तं वा प्राप्नोति । यस्तु ईजानः पूर्वं चिते अग्नौ यागं कृतवान् तं वा प्राप्नोति । सर्वथापि अस्मद्यजमानात् अपगच्छति । एतैर्मन्त्रैर्हीमे तु तत् 'यज्ञः' इन्द्रियं च स्वात्मन्येव धारयति । एतच्च "अग्निर्देवेभ्यः" (५।४।८) इत्यनुवाकादूर्ध्वं द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान इति शालामुखीये ऊत्त्वा' इति । तदिदं विधत्ते,—“ईश्वरो वै एष आर्तिम् आ अर्तोः यः अग्निं चित्वन् अधिक्रामति तत् त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान इति वारुणा च्छा जुहुयात् शान्तिरेव एषा अग्नेर्गुप्तिः आत्मनः^(१०)” इति । 'यः' यजमानः चयनकाले 'अग्निम्' अधिरुह्य पादेनाक्रामति, 'एषः' यजमानो विनाशं प्राप्तुं समर्थः । तत्परिहाराय 'तत्त्वा यामि'-इति 'च्छा' जुहुयात् । सेयम् ऋक् “इन्द्रो विश्वतस्परौन्द्रं नरः” (२।१।११) इत्यनुवाके व्याख्याता । 'एषा' आहुतिः 'अग्नेः' गमनहेतुः, 'आत्मनः' यजमानस्य च रक्षणहेतुः । तच्च “अग्ने तव अवो वयः” (५।२।६) इत्यनुवाके द्रष्टव्यम् । .

. यथाग्निचयनादूर्ध्वं तदङ्गत्वेन मौचामणी पूर्वं विहिता एवमत्र मैत्रावरूणिं विधत्ते,—“हविष्कृतो वै एष योऽग्निं चिनुते यथा वै हविः स्कन्दति एवं वै एष स्कन्दति योऽग्निं चित्ता स्त्रियम् उपैति मैत्रावरूणा आमित्रया यजेत मैत्रावरूणताम् एव उपैति आत्मनः अस्कन्दायै^(११)” इति । 'यः' यजमानः 'अग्निं' 'चिनुते',

‘एषः’ हविःस्वरूपं प्राप्तः । तथा सति स्त्रीगमनस्य स्वरूपनाशो हविर्नाशसमानः । अतस्तत्परिहारार्थं ‘यजेत’ । तेन यागेन स्वयं मित्रावरुणसम्बन्धितां प्राप्य यागादूर्ध्वं हविषः उपयुक्तत्वात् हविःस्थानीयस्य स्वस्य गमनेऽपि नास्ति विनाशः ।

अथ अग्निं संवत्सररूपकल्पनया प्रशंसति,—“यो वै अग्निम् ऋतुस्यां वेद ऋतुः ऋतुः अस्मै कल्पमानः एति प्रति एव तिष्ठति संवत्सरो वै अग्निः ऋतुस्याः तस्य वसन्तः शिरः शीघ्रो दक्षिणः पक्षः वर्षाः पुष्करं शरत् उत्तरः पक्षः हेमन्तो मध्यं पूर्वपक्षाश्चितयः अपरपक्षाः पुरीषम् अक्षोरात्राणि इष्टका एष वै अग्निः ऋतुस्या यम् एव वेद ऋतुः ऋतुः अस्मै कल्पमानः एति प्रति एव तिष्ठति^(१९)” इति । ऋतुषु तिष्ठतीति ऋतुस्याः संवत्सरः । तद्रूपम् ‘अग्निं’ ‘यः’ ‘वेद’ मनसा भावयेत्, ‘अस्मै’ यजमानाय स स ऋतुः स्वस्वोचित-भोगप्रदानसमर्थः सन् एनं प्राप्नोति । तद्भोगेन च अयं ‘प्रति’-‘तिष्ठति’ । ‘संवत्सरो वै अग्निः’ इत्यादि भावनाप्रकारः । ‘य एवं वेद’ इत्यादि पूर्वोक्तफलोपसंहारः ।

अथ फलान्तरेण प्रशंसति, “प्रजापतिर्वै एतं ज्यैष्ठ्यकामो न्यधत्त ततो वै स ज्यैष्ठ्यमगच्छत् य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते ज्यैष्ठ्यमेव गच्छति^(१९)”—इति । ‘न्यधत्त’ चितवानित्यर्थः । ‘ज्यैष्ठ्यं’ वधोगुणाभ्यामाधिक्यम् । एतच्च सर्वमन्ते द्रष्टव्यम् ।

इति शायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः । ॥

यदाकृतात्समसुसोडुदो वा मनसो वा संमृतञ्चक्षुषो
वा । तमनु मेहि सुकृतस्य लोकं यवर्षयः प्रथमजा ये
पुराणाः^(१) । एतः सधस्थ परि ते ददामि यमावहा-
च्छेविधिं जातवेदाः अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वी अत्र तः स्म
जानीत पशमे व्योमन्^(२) । जानीतादेनं परमे व्योमन्
देवाः सधस्था विद रूपमस्य । यदागच्छात् ॥ १ ॥

पृथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते ह्युतादाविरस्मै^(३) । सं प्र
अवध्वमनु सं प्र याताग्ने पथो देवयानान् ह्युध्वम् ।
अस्मिन्सधस्थे अद्यत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च
सीदत^(४) । प्रस्तुरेण परिधिना सुचा वेद्या च बर्हिषा ।
क्वचेमं यज्ञं नो वह सुवर्देवेषु गन्तवे^(५) । यदिष्टं यत्
परादानं यद्वत्तं या च दक्षिणा तत् ॥ २ ॥

अग्निवैश्वकर्मणः सुवर्देवेषु नो दधत्^(६) । येना महसं
वहसि येनाग्ने सर्ववेदसं । तेनेमं यज्ञं नो वह सुवर्देवेषु
गन्तवे^(७) । येनाग्ने दक्षिणा युक्ता यज्ञं वहन्तृत्विजः ।
तेनेमं यज्ञं नो वह सुवर्देवेषु गन्तवे^(८) । येनाग्ने
सुकृतः पथा मधोर्धारा व्यानशुः । तेनेमं यज्ञं नो वह
सुवर्देवेषु गन्तवे^(९) । यच्च धारा अनपेतां मधोर्धृतस्य
च याः । तदग्निवैश्वकर्मणः सुवर्देवेषु नो दधत्^(१०) ॥ ३ ॥

आगच्छात् । तद् । व्यानशुः । तेनेमं यज्ञं नो वह
सुवर्देवेषु गन्तवे । चतुर्दश च ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
सप्तमोऽनुवाकः ॥

ब्रतेष्टकाप्रशंसा हि सर्वाः षष्ठे समीरिताः ।

अथ सप्तमे आकूतिमन्त्रा उच्यन्ते । यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘यदा-
कूतादिति । दशाकूतीर्जलेति’ ।

तत्र प्रथमामाह,—“यद् आकूतात् समसुस्रोत् हृदो वा मनसो
वा संभृतं चक्षुषो वा । तमनु प्रेहि सुकृतस्य लोकं यत्र ऋषयः
प्रथमजाः ये पुराणाः^(१)” इति । आकूतादिभिः ‘सम्भृतं’ सम्पादितं
यत्फलं पूर्वा यजमानमङ्गः ‘समसुस्रोत्’ संम्यक् प्राप्तवान् । हे
यजमान, त्वं ‘सुकृतस्य लोकं’ त्वदीयस्य कर्मणः फलभूतं ‘तं’ भोगम्
‘अनु प्रेहि’ अनुक्रमेण प्राप्नुहि । आकूतं संकल्पः अक्षयं सुखं
प्राप्नोमौत्येवंरूपः । हृदयं चित्तं श्रुतिस्मृत्युदितसाधनोपायचिन्तनम् ।
मनः अन्तःकरणं तदनुकूलप्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकम् । चक्षुषः चक्षुषा
लक्ष्यन्ते यानि सम्यगनुष्ठानेनाभिमतं फलं साधयन्ति । एतैः सर्वैः
सम्पादितं प्राप्नुह्यौत्यन्वयः । ‘यत्र’ यस्मिन् सुकृतस्य लोके ‘प्रथमजाः’
स्वयम्भूप्रभृतयः ‘ऋषयः’ सर्वज्ञाः आसते । ‘ये’ च ‘पुराणाः’ पूर्वं
यजमानाः सन्ति, तेऽपि यत्र आसते, ‘तम्’ ‘अनु-प्रेहि’ ।

अथ द्वितीयामाह,—“एतः सधस्य परि ते ददामि यम्
आवहात् श्रेवधिं जातवेदाः । अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वः अथ तः स

जानीत परमे व्योमन्^(१)” इति । हे ‘सधस्य’ अतिगयजमानैरस्माभिः सह अस्यां यज्ञभूमाववस्थित, हे अग्ने, ‘ते’ तुभ्यं ‘एतं’ यजमानं ‘परि’-‘ददामि’ रक्षार्थं तद्भस्ते ददामीत्यर्थः । ‘जातवेदाः’ उत्पन्नानां प्राणिनां योगचेमाभिज्ञः त्वं ‘शेवधिं’ निधिवद्रक्षणीयं, ‘यं’ यजमानम् ‘आवहात्’ आवहसि,—मदीयोऽयमिति स्वीकरोषि, तं यजमानं परिददामीति पूर्वचान्वयः । हे देवाः, ‘यज्ञपतिः’ अयं यजमानः ‘वः’ युष्मान् ‘अन्वागन्ता’ युष्माकं पृष्ठे आगमिष्यति । ‘अत्र’ अस्मिन् ‘परमे’ ‘व्योमन्’ उत्कृष्टविशिष्टरक्षणयोग्ये स्थाने भवदीये लोके ‘तं’ यजमानं ‘जानीत’ ‘स्म’ सर्वथा रक्षणोद्योग्यमिति स्मरत ।

अथ तृतीयामाह,—“जानीतात् एनं परमे व्योमन् देवाः सधस्या विद रूपम् अस्य यत् आगच्छात् पथिभिर्देवयानैः दृष्टा-पूर्त्तं कृणुतात् आविरस्मै^(१)” इति । हे देवाः, ‘परमे’ स्थाने भवदीये लोके ‘एनं’ ‘जानीतात्’ यजमानम् अविस्मृत्य सर्वदा रक्षार्थं स्मरत । हे ‘सधस्याः’ यजमानेन सह तस्मिन् पुण्यलोके स्थिताः, देवाः, ‘अस्य’ यजमानस्य, ‘रूपं’ अग्निचयनाद्यनुष्ठानयुक्तं स्वरूपं ‘विद’ जानीत,—तस्मिन् लोके पुनः पुनः स्मरत । ‘देवयानैः’ भवदीयगमनयोग्यैः ‘पथिभिः’ मार्गैः, ‘यत् आगच्छात्’ यो यजमान आगच्छति, ‘अस्मे’ एतद्-यजमानार्थं, ‘दृष्टापूर्त्तं’ श्रौतस्मार्तकर्मफले, ‘आविः’-‘कृणुयात्’ प्रकटीकुरुत, हे यजमान, तवेदं श्रौतकर्मफलं, इदं च स्मार्तकर्मफलमित्येवं सावधाना अनुदृष्टीतेत्यर्थः ।

अथ चतुर्थीमाह,—“सं प्र अथध्वमनु सं प्र याताग्रं पथो देव-

यानान् ह्यणुध्वं । अस्मिन् सधस्थे अधि उत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सौदत^(४)” इति । हे ‘अग्ने’, त्वं, ‘विश्वे देवाः’ सर्वेऽपि देवाः, यजमान इत्येते यूयं सर्वेऽपि ‘संप्र-च्यवध्वं’ अस्मात् भूलोक-
‘स्थानात् सम्यक् प्रचलित्वा* च ‘अनु- संप्र यात’ अनन्तरं यजमानेन सङ्गता एव गच्छत, गमनकाले च ‘देवयानान्’ ‘पथः’ ‘ह्यणुध्वं’ । न तु नरकलोकभनुष्यलोकमार्गः कर्त्तव्यः । ‘सधस्थे’ यजमानेन सहावस्थानयोग्ये ‘अस्मिन्’ यज्ञभूमिरूपे भूलोके ‘अधि’ ‘उत्तरस्मिन्’ फलभोगस्थाने, स्वर्गलोके च ‘सौदत’ यजमानो यूयं च सह तिष्ठत ।

अथ पञ्चमीमाह,—“प्रस्तरेण परिधिना सुचा वेद्या च बर्हिषा । अचेमं यज्ञं नो वह सुवर्देवेषु गन्तवे^(५)” इति । हे अग्ने, प्रस्तरादिभिः सर्वैर्यज्ञसाधनैः सहितं नः अस्मदीयम् इमं यज्ञं ‘सुवः’ स्वर्गलोके ‘वह’ प्रापय । किमर्थं ?—‘देवेषु गन्तवे’ देवानां मध्ये गन्तुं, तेषां प्रदर्शनार्थमित्यर्थः ।

अथ षष्ठीमाह,—“यदिष्टं यत्परादानं यद्वत्तं या च दक्षिणा तदग्निर्वैश्वकर्मणः सुवर्देवेषु नो दधत्^(६)” इति । दर्शपूर्णमासादिरूपं ‘यत्’ कर्म ‘इष्टम्’ अनुष्ठितं, ‘यत्’ च ‘परादानं’ दौनान्मह्यपणादिभ्यः स्वल्पदानं, ‘यत्’ अपि ‘दत्तं’ बर्हिर्वेदिपात्रभूतेभ्योऽनूचानेभ्यो बलु द्रव्यं समर्पितं, ‘या च’ अन्या ‘दक्षिणा’ यज्ञमध्ये गवादिरूपा दत्ता,

* एवमेव सर्व्वत्र पाठः । ‘प्रचलित, चलित्वा च’ इत्येवंरूपः कश्चित् पाठः पतित इव प्रतिभाति ।

‘नः’ अस्मदीयं ‘तत्’ सर्वं ‘वैश्वकर्मणः’ कृत्स्नकर्मस्वामिभृतोऽयम्
‘अग्निः’ ‘सुवर्देवेषु’ स्वर्गलोकनिवासिषु मध्ये ‘दधत्’ स्थापयतु ।

अथ सप्तमीमाह,—“येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसन्नेनेमं
यज्ञं नो वह सुवर्देवेषु गन्तवे^(७)” इति । हे ‘अग्ने’, त्वं ‘येन’ मार्गेण
‘सहस्रं’ ‘वहसि’ सहस्रदक्षिणाकं यज्ञं नयसि; ‘येन’ च ‘सर्ववेदसं’
सर्वस्वदक्षिणाकं यज्ञं नयसि, ‘तेन’ मार्गेण ‘नः’ अस्मदीयम् ‘इमं’
‘यज्ञं’ ‘वह’ । ‘नय सुवः’ इत्यादि पूर्ववत् ।

अथाष्टमीमाह,—“येनाग्ने दक्षिणाः युक्ताः यज्ञं वहन्ति अत्विजः ।
तेनेमं यज्ञं नो वह सुवर्देवेषु गन्तवे^(८)” इति । ‘अत्विजः’ सर्वे ‘युक्ताः’
योग्याः शास्त्रीयाः ‘दक्षिणाः’ ‘यज्ञं’ च ‘इमं’ येन शास्त्रीयेण मार्गेण
‘वहन्ति’ निर्वहन्ति अनुतिष्ठन्तीत्यर्थः, ‘तेन’ एव शास्त्रीयेण मार्गेण
‘इमं यज्ञम्’ इत्यादि पूर्ववत् ।

अथ नवमीमाह,—“येनाग्ने सुकृतः पथा मधोर्धारा व्यानशुः ।
तेनेमं यज्ञं नो वह सुवर्देवेषु गन्तवे^(९)” इति । हे ‘अग्ने’, ‘सुकृतः’
पूर्वं पुण्यकृतो यजमाना ‘येन’ मार्गेण गत्वा ‘मधोः’ मधुरस्य
पीयूषस्य ‘धारा’ ‘व्यानशुः’ व्याप्तवन्तः । तेनेत्यादि पूर्ववत् ।

अथ दशमीमाह,—“यत्र धारा अनपेता मधोः घृतस्य च याः
तद्ग्निरवैश्वकर्मणः सुवर्देवेषु नो दधद्^(१०)” इति । ‘यत्र’ यस्मिन् लोके
‘मधोः’ माक्षिकस्य ‘घृतस्य’ च ‘धाराः’ ‘अनपेताः’ अविच्छिन्नाः, तत्र
लोके ‘अग्निः’-इत्यादि पूर्ववत् । एते च दश मन्त्राः पूर्वस्मिन्
मन्त्रकाण्डे “ममाग्ने (४।७।१४)” इत्यनुवाकादूर्ध्वं द्रष्टव्याः ।

* पूर्वपुण्यकृत इति का० ब्री० पु० पाठः ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥०॥

यास्ते अग्ने समिधो यानि धाम या जिह्वा जातवेदो
यो अर्चिः ये ते अग्ने मेडयो य इदं वस्तेभिरात्मानं
चिनुहि प्रजानन्^(१) । उत्सन्नयन्नो वा एष यदग्निः किं
वाहैतस्य क्रियते किं वा न यद्वा अध्वर्युरग्नेश्चिन्वन्त-
रेत्यात्मनो वै तदन्तरैति यास्ते अग्ने समिधो यानि
॥ १ ॥

धामेत्याहैषा वा अग्ने स्वयञ्चितिरग्निरेव तदग्निं
चिनोति नाध्वर्युरात्मनोन्तरैति^(२) चतस्र आशाः
प्र चरन्वग्रय इमन्नो यज्ञन्नयतु प्रजानन् । घृतं पिब-
न्नजरं सुवीरं ब्रह्म समिद्धवत्याहुतीनां^(३) । सुवर्गाय
वा एष लोकायोपधीयते यत्कूर्मश्चतस्र आशाः प्र चर-
न्वग्रये इत्याह ॥ २ ॥

दिशा एवैतेन प्र जानाति^(४) इमन्नो यज्ञं नयन्तु प्र-
जानन्नित्याह सुवर्गस्य लोकस्याभिनीत्यै^(५) ब्रह्म समि-
द्धवत्याहुतीनामित्याह ब्रह्मणा वै देवाः सुवर्गं लोक-
मायन्^(६) यद् ब्रह्मण्वत्योपदधाति ब्रह्मणैव तद् यजमानः

सुवर्गं लोकमेति^१ प्रजापतिर्वा एष यदग्निस्तस्य प्रजाः
 पशवश्छन्दांसि रूपः सर्वान्वर्णानिष्टकानां, कुर्याद्
 • रूपेणैव प्रजान् पशूश्छन्दांस्यव रुन्धे^२ अथो प्रजाभ्य
 एवैनं पशुभ्यश्छन्दोभ्येवरुध्य चिनुते ॥ ३ ॥

एति यास्ते अग्ने समिधो यानि । अग्नय इत्याह ।
 इष्टकानां । षोडश च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
 अष्टमोऽनुवाकः ॥

आकृत्याहुतिमन्त्रा ये ते सप्तम उदीरिताः ।

अथाष्टमे स्वयंचित्यादिकमभिधीयते । यदङ्गं सूत्रकारेण,—
 ‘यास्ते अग्ने समिध इति स्वयंचित्याभिष्टुति’ इति । तदेतद्दि-
 धातुं मन्त्रमुत्पादयति,—“यास्ते अग्ने समिधो यानि धाम या जिज्ञा
 जातवेदो यो अर्चिः । ये ते अग्ने मेडयो य इन्द्रवस्तेभिरात्मानं
 चिनुहि प्रजानन्^(१)” इति । हे ‘जातवेदः’ ‘अग्ने’, ते त्वदीयाः ‘समिधः’
 समिन्धनक्रिया ‘याः’ सन्ति, ‘यानि’ च ‘धाम’ त्वदीयानि स्थानानि
 गार्हपत्यादीनि, ‘या’ च ‘जिज्ञा’ त्वदीया ‘काली कराली’ इत्यादिकाः,
 ‘यः’ ‘अर्चिः’ प्रकाशनसामर्थ्यं, हे ‘अग्ने’, ‘ते’ त्वदीया ‘ये’ ‘मेडयो’,
 शब्दविशेषाः, ‘ये’ ‘इन्द्रवः’ इन्दुसदृशा त्रिस्फुलिङ्गाः, ‘तेभिः’ तैः
 सर्वैः प्रजानन्, चयनप्रकाराभिज्ञस्त्वं ‘आत्मानं’ ‘चिनुहि’ स्वकीय-
 स्वरूपमुपचितं कुरु ।

अनेन मन्त्रेण साध्यस्य चेत्त्राभिमर्शनस्य विधिसुन्नयति,
 “उत्सन्नयज्ञो वै एष यदग्निः किं वा अहेतस्य क्रियते किं वा
 न यद्वै अध्वर्युरग्नेश्चिन्वन्नन्तरेत्यात्मनो वै तदन्तरेति यास्ते अग्ने
 समिधो यानि धामेत्याहेषा वै अग्नेः स्वयञ्चितिरग्निरेव तदग्निं
 चिनोति नाध्वर्युरात्मनोऽन्तरेति^(१)” इति । योऽयञ्चीयमानोऽग्निः
 सोऽयम् ‘उत्सन्नयज्ञः’, वज्रध्वजेषु यस्य-कस्यचिद्विस्तृतिसम्भवेन विनष्ट-
 यज्ञत्वम्, अतः ‘अस्य’ यज्ञस्य ‘किम्’ अङ्गमनुष्ठितं ‘किं वा’ नेति
 ज्ञातुमशक्यम् । एवं च सति चिन्वानः अयम् ‘अध्वर्युः’ ‘अग्नेः’
 सम्बन्धि ‘यत्’ ‘अङ्गम्’ अन्तरितं करोति, ‘तत्’ ‘आत्मनः’
 एवाङ्गमन्तरितं कुर्यात् ; अतस्तत्परिहाराय चेत्त्राभिमर्शनकाले
 ‘यास्ते अग्ने’ इत्येतामृचं ब्रूयात् । येयं ‘यास्ते अग्ने’-इत्यृक्, सैषा
 ‘स्वयञ्चितिः’-इत्यभिधीयते, ‘आत्मानं चिनुहि’ इत्येवं स्वेन
 स्वस्यैव चीयमानत्वाभिधानात् । तेन मन्त्रपाठेन ‘तत्’ ‘अग्निः’ ‘एव’
 स्वयम् ‘अग्निम्’ स्वात्मानं ‘चिनोति’ । ततः ‘अध्वर्युः’ स्वसम्बन्धि
 किञ्चिदपि ‘अङ्गं’ ‘न’ ‘अन्तरेति’ । एतदपि ‘अग्ने तव अवो वयः
 (५।२।६)” इत्यनुवाके द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूचकारेण,—“‘मधुवाता च्छतायते’ इति तिष्ठभिर्दध्ना
 मधुमित्रेण कूर्ममभ्यज्य ‘मही द्यौः पृथिवी च न (४।२।८)’ इति
 दुरस्तात्स्वयमादृष्टायाः प्रत्यञ्चं जीवन्तं कूर्मं प्राङ्मुखं उपदधाति
 इति । ‘चतस्र आग्नाः प्र चरन्तु अग्नयः’ इति वा उपधाय”-इति । तच्च
 कूर्मोपधाने विकल्पितं मन्त्रमुत्पादयति,—“चतस्र आग्नाः प्र चरन्तु
 अग्नय इमं नो यज्ञं नयतु प्रजानन् । इतं पितृवज्जरः सुवीरं ब्रह्म

समिद् भवति आहुतीनाम्^(१)” इति । ‘अग्नयः’ आहवनीयादयः सन्ति, ते ‘चतस्रः’ चतुःसङ्ख्याका दिशः पूर्वाद्याः ‘प्र चरन्तु’ कूर्मस्य
 • स्वर्गमार्गाभिज्ञानाय सर्वासु दिक्षु प्रकाशं कुर्वन्तु । अयं च कूर्मः ‘प्रजानन्’ अस्मदीयं कर्म प्रकर्षेण अवगच्छन्, ‘नः’ अस्मदीयमिमं यज्ञं ‘नयतु’ स्वर्गं प्रापयतु । किं कुर्वन्?—‘अजरं’ विनाशरहितं ‘सुवीरं’ शोभनवीर्यप्रदं । ‘दत्तं’ मधुमिश्रमाज्यं, ‘पिवन्’ पिवन्, आहुतिप्रदानां यजमानानां ‘ब्रह्म समिद्’ ‘भवति’, मन्त्र एव स्वर्गमार्गप्रकाशको भवति । अनेन मन्त्रेण साध्यं कूर्मोपधानं पूर्वमेव विहितं “यज्जौवन्तं कूर्ममुपदधाति (५।८।२)” इति । अत्र तु मन्त्रमेतं विनियोक्तमादौ तदर्थः प्रकाशते ।

तत्र प्रथमपादस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“सुवर्गाय वै एष लोकाय उपधीयते यन्कूर्मस्य तस्य आशाः प्रचरन्त्वग्नय इत्याह दिशा एवैतेन प्र जानाति^(२)” इति । सुवर्गलोके नेतुमयं कूर्म उपधीयते, अतः मार्गाभिज्ञानाय एतेन पादेन दिक्प्रकाशनं प्रार्थते ।

द्वितीयपादस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“इमं नो यज्ञं नयतु प्रजानन्नित्याह सुवर्गस्य लोकस्याभिनीत्यै^(३)” इति । ‘नयतु’ इति सामान्येनोक्तेऽपि स्वर्गं प्रत्यवगमनमत्र विवक्षितम् ।

चतुर्थपादस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“ब्रह्म समिद्भवत्याहुतीनामित्याह ब्रह्मणा वै देवाः सुवर्गं लोकमायन्^(४)” इति । आहुतिप्रदाः पूर्वं देवाः मन्त्रसामर्थ्येनैव स्वर्गं प्राप्ताः, अतो मन्त्र एव प्रकाशसाधनं ।

व्याख्यातमेतं मन्त्रं विनियुक्ते,—“यद् ब्रह्मण्वित्या उपदधाति ब्रह्मणैव तद्यजमानः सुवर्गं लोकमेति^(५)” इति । ब्रह्मणन्दो यस्याम्

अचि अस्ति सेयं ब्रह्मण्वनौ । तदिदं ब्राह्मणं “स्वयमावृणामुप-
दधाति (५।२।८)”-इत्यनुवाके द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘सर्वान्वर्णानिष्टकानां कुर्यात्स्त्रिधाधिकारो
भवति इति विज्ञायते त्व या दक्षिणावृत्तस्ता दक्षिणत उपदध्यात्
स व्यावृत्त उतरत अजुलेखाः पश्चात्पुरस्ताच्च अलिखिता मध्ये इति ।
तदेतत्सर्वं विधत्ते,—“प्रजापतिर्वै एष यदग्निस्तस्य प्रजाः पशव-
श्छन्दांसि रूपं सर्वान् वर्णानिष्टकानां कुर्याद्रूपेणैव प्रजां पशून्
छन्दांस्यव रन्ध्रे^(८)” इति । चौयमानः ‘अग्निः’ प्रजापतिजन्यत्वात्
‘प्रजापतिः’ एव, ‘तस्य’ च प्रजापतेः प्रजा-पशु-श्छन्दांसि परस्पर-
विलक्षणानि स्वरूपम् । अतस्तद्रूपप्रत्यभिज्ञानाय ‘इष्टकानां’ ‘सर्वान्
वर्णान्’ बहुविधरेखाविशेषान् ‘कुर्यात्’ । एवं सति प्रजापतिरूपेणैव
प्रजापतिं प्राप्नोति ।

“अथो प्रजाभ्य एवैनं पशुभ्यश्छन्दोभ्योऽवसृज्य चिनुते” इति ।
अपि च प्रजादिभिः ‘एव’ ‘एनम्’ अग्निं स्वाधीनं कृत्वा चितवान्
भवति । एतदपि “स्वयमावृणामुपदधाति (५।२।८)” इत्यनुवाके
द्रष्टव्यम् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके अष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

मयि गृह्णाम्यग्ने अग्निः रायस्योषाय सुप्रजात्वाय
 सुवीर्याय । मयि प्रजां मयि वर्चो दधाम्यरिष्टा स्याम
 • तनुवा सुवीराः^(१) । यो नो अग्निः पितरो हृत्स्वन्तर-
 मर्त्यो मर्त्याः आविवेश । तमात्मन् परि गृह्णीमहे वयं
 मा सो अस्माः अवहाय परा गात्^(२) । यदध्वर्युरात्म-
 न्नग्निमगृहीत्वामिं चिनुयाद्योऽस्य स्वोऽग्निस्तमपि ॥ १ ॥

यजमानाय चिनुयादग्निं खलु वै पशवोऽनूपं तिष्ठन्ते-
 ऽपक्रामुका अस्मात् पशवः स्युर्मयि गृह्णाम्यग्ने अग्नि-
 मित्याहात्मन्नेव स्वमग्निन्दाधार नास्मात् पशवोऽप क्राम-
 मन्ति^(३) ब्रह्मवादिनो वदन्ति यन्मृदापश्चाग्नेरनाद्यमथ
 कस्मान् मृदा चाद्भिश्चाग्निश्चीयते इति यदद्भिः सं-
 यौति ॥ २ ॥

आपो वै सर्वा देवता देवताभिरेवैनः सः सृजति
 यन्मृदा चीनोतीयं वा अग्निवैश्वानरोऽग्निनैव तदग्निं
 चिनोति^(४) ब्रह्मवादिनो वदन्ति यन्मृदा चाद्भिश्चाग्निः
 चीयतेऽथ कस्मादग्निरुच्यते इति यच्छन्दोभिः चिनो-
 त्यग्नेयो वै छन्दाः सि तस्मादग्निरुच्यतेऽथो इयं वा अग्नि-
 वैश्वानरो यत् ॥ ३ ॥

मृदा चिनोति तस्मादग्निरुच्यते^(५) हिरण्येष्टका उप
 दधाति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेवास्मिन् दधात्यथो

तेजो वै हिरण्यं तेज एवात्मन्धत्ते^(१) यो वा अग्निः सर्व-
तोमुखं चिनुते सर्वासु प्रजास्वन्नमन्ति सर्वा दिशोऽभि
जयति गायत्रीं पुरस्तादुप दधाति त्रिष्टुभं दक्षिणतो
जगतीं पश्चादनुष्टुभमुत्तरतः पङ्क्तिं मध्य एष वै, अग्निः
सर्वतोमुखस्तं य एवं विद्वाश्चिनुते सर्वासु प्रजास्वन्न-
मन्ति सर्वा दिशोऽभि जयत्यथो दिश्येव दिशं प्र वयति
तस्माद्दिशि दिक् प्रोता^० ॥ ४ ॥

अपि। संयौति। वैश्वानरो यत्। एष वै। पञ्चविं-
शतिश्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
नवमोऽनुवाकः ॥०॥

खयञ्चितिश्च कूर्मादिरष्टमे समुदीरितः ।

अथ नवमेऽग्निग्रहणादिकमभिधीयते । यदुक्तं सूत्रकारेण,—
'मयि गृह्णाम्यग्ने अग्निं, यो नो अग्निः पितर इति द्वाभ्यामात्मन्धत्तिं
गृह्णोत्वा' इति ।

तत्र प्रथमामाह,—“मयि गृह्णाम्यग्ने अग्निः रायस्योवाय सुप्रजा-
स्त्राय सुवीर्याय । मयि प्रजां मयि वर्चो दधाम्यरिष्टा स्थाम
तनुवा सुवीराः^(१)” इति । ‘अग्ने’, परकोयस्याग्नेश्चयनात् पूर्वम् ‘अग्निं’
स्वकोयं पूर्वसिद्धं वज्रं ‘मयि गृह्णामि’ स्वात्मन्येव यथा स्थिरो भवति
तथा स्त्रीकरोमि । किमर्थं ? धनपुष्टि-शोभनापत्य-शोभनभृत्यार्थं ।

अस्य गृहीतस्याग्नेः प्रसादात् 'प्रजाम्' उत्पत्त्यमानां पुत्रादिकां,
'मयि' स्थापयामि, 'वर्चः' शरीरं बलं च मयि स्थापयामि ।
• 'सुवीराः' शोभनपुत्रभृत्योपेताः वयं 'तनुवा' मदीयेन शरीरेण सह
'अरिष्टाः' हिंसारहिताः 'स्याम' ।

अथ द्वितीया,—“यो नो अग्निः पितरो हवतु अन्तरं अमर्त्या
मर्त्याः आविवेश । तम् आत्मन् परि-गृह्णीमहे वयं मा सो अस्माः
अवहाय परा-गात्^(१)” इति । हे 'पितरः' पालकाः, अस्मच्छरीर-
गता भूतेन्द्रियविशेषाः, 'अमर्त्याः' मरणरहिताः 'अग्निः' 'हवतु' 'अन्तः'
हृदयाद्यवयवेषु मध्ये 'मर्त्यान्' मरणयोग्यान् अस्मान् 'आविवेश'
सर्वतः प्रविष्टः । 'तम्' अग्निं 'वयं' 'आत्मन्' 'परि-गृह्णीमहे'
स्वशरीरे एव स्थिरं धारयामः । 'सो'ऽग्निः 'अस्मान्' 'अवहाय'
परित्यज्य 'मा' 'परा-गात्' अन्यत्र मा गच्छतु ।

एतन्मन्त्रद्वयसाध्यमग्निग्रहणं विधत्ते,—“यदध्वर्युरात्मन्नग्निम् अगृ-
हीत्वा अग्निं चिनुयाद् यः अस्य सोऽग्निः तमपि यजमानाय चिनु-
यादग्निं खलु वै पशवोऽनूप तिष्ठन्ते अपक्रामुका अस्मात् पशवः स्युर्मयि
गृह्णामि अग्ने अग्निमित्याह आत्मन्नेव स्वमग्निं दाधार न अस्मात्
पशवः अप क्रामन्ति^(२)” इति । यदि अयम् 'अध्वर्युः' 'मयि गृह्णामि'
इति मन्त्राभ्यां स्वकीयम् 'अग्निं' स्वस्मिन् 'अगृहीत्वा' परार्थम् 'अग्निं'
'चिनुयात्', तदानीम् 'अस्य' अध्वर्याः 'यः' स्वकीयः पूर्वमेव
चितोऽग्निः 'तमपि' यजमानार्थमेव चितवान् भवति । 'पशवः' च
सर्वेऽपि 'अग्निम्' अनुसेवन्ते । अतोऽपक्रामन्तं तमग्निमनु 'पशवः'
अपि 'अस्मात्' अध्वर्याः अपक्रामन्ति । अतस्तत्परिहर्तुमग्निग्रहणाय

‘मयि गृह्णामि’ इति मन्त्रद्वयं ब्रूयात् । तेन स्वकौयमग्निं स्वस्मिन् अवधारयति, पशवोऽपि अस्मात् न अपक्रामन्ति । एतदपि पूर्व-
ब्राह्मणेन सह द्रष्टव्यम् ।

अथ प्रश्नोत्तराभ्यां चयनं प्रशंसति,—“ब्रह्मवादिनो वदन्ति यत्, मृच्च आपश्च अग्नेरनाद्यम् अथ कस्मात् मृदा चाङ्गिश्चाग्निश्चीयते इति, यदङ्गिः संयौति आपो वै सर्वा देवता देवताभिरेवैनं सः सृजति, यत् मृदा चिनोति इयं वै अग्निर्वैश्वानरोऽग्निनैव तद् अग्निं चिनोति^(४)” इति । मृत्तिका च आपश्चेति यदस्ति तदु-
भयमग्नेर्भक्ष्यं न भवति, अतो भक्ष्यम् आज्यपुरोडाशादिकं विहाय कस्मादेताभ्यां मृज्जलाभ्यां दृष्टकारूपाभ्यामग्निश्चीयते इति ब्रह्म-
वादिनां प्रश्नः । तत्राभिज्ञा एवमुत्तरमाहुः, यद्यपि आपो न भक्ष्याः तथापि, अङ्गिर्मृत्तिकां मिश्रयति इति ‘यत्’, तेन ‘देवताभि-
रेव’ अग्निं संयोजयति, अपां सर्वदेवतात्मकत्वात् । वृत्रवधादाविन्द्रस्य सहकारित्वेन अपां सर्वदेवोपकारित्वात् सर्वदेवतात्मकत्वम् । अतः सर्वदेवतासंयोजनाय अङ्गिश्चयनं युक्तम् । तथा मृदा चयनं यदस्ति, तदपि युक्तम्, भूमेर्वैश्वानराग्निरूपत्वात् तद्रूपत्वं च “तस्मादिमां वयांसि नक्तं नाध्यासते” इत्यत्रोपपादितम् । अतो मृद्रूपेणाग्निनैव तम् ‘अग्निं चिनुते’ इत्येतदुपपन्नम् ।

इदानीं मृज्जलाभ्यां चयनमङ्गीकृत्य तस्यास्थितेरग्नित्वं प्रश्नो-
त्तराभ्यां प्रतिपादयति,—“ब्रह्मवादिनो वदन्ति यन् मृदा चाङ्गि-
श्चाग्निश्चीयते अथ कस्मादग्निरुच्यते इति, यच्छब्दोभिश्चिनोत्यग्नयो वै हन्दांसि तस्मादग्निरुच्यते अथो इयं वै अग्निर्वैश्वानरो यस्मृदा

चिनोति तस्मादग्निरुच्यते^(५)” इति । इयमग्न्याख्या चितिर्मृज्ज-
लाभ्यामेव निष्पाद्यते, न त्वङ्गारैर्ज्वालाभिर्वा । तथा सति कस्मात्
कारणाद् अग्निनाम सग्नमिति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । तत्राभिज्ञा
उत्तरमाहुः, न केवलं मृज्जलाभ्यामेव चयनम्, किन्तु छन्दोयुक्तैर्मन्त्रै-
रपि । छन्दांसि चाग्निस्वरूपाणि “अभिला देव सवितः” (३।५।११)
इत्यादिभिर्मन्त्रगतैश्छन्दोभिर्मथनहेतुभिरग्नेरुत्पाद्यत्वात् । अतश्छन्दो-
द्वारा चितेरग्नित्वम् । अपि च भूमेर्वैश्वानरत्वमिदानीमेवोदा-
हृतम्, अतो मृत्कार्यत्वादग्नित्वं युक्तम् । एतद्ब्राह्मणमन्त्रे द्रष्टव्यम् ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘हिरण्येष्टकाभिः सर्वतोमुखमुपदधाति
गायत्रीं पुरस्तादुपदधातीत्युक्तम्’ इति । तदिदं विधत्ते,—“हिरण्येष्टका
उप दधाति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेवाग्निं दधाति अथो तेजो
वै हिरण्यं तेज एवात्मन् विधत्ते^(६)” इति । ज्योतिष्टम् इतरप्रकाशकत्वं ।
तेजः प्रसिद्धं, कान्तिः ।

प्रपाठकादौ “अग्नेय्या गायत्रिया (५।७।१)” इत्यादिना नाचि-
केतचयनप्रकरणस्मात्ता मन्त्रादय उदाहृताः । तांश्च मन्त्रान् अत्र
हिरण्येष्टकोपधाने विनियुक्ते,—“यो वै अग्निः सर्वतोमुखं चिनुते
सर्वासु प्रजासु अन्नमन्ति सर्वा दिशोऽभि जयति गायत्रीं पुरस्तादुप
दधाति त्रिष्टुभं दहिणतो जगतीं पश्चादनुष्टुभमुत्तरतः पङ्क्तिं मध्ये
एष वै अग्निः सर्वतोमुखस्तं य एवं विद्वाः चिनुते सर्वासु प्रजासु
अन्नमन्ति सर्वा दिशोऽभि जयति अथो दिग्भ्यो दिशं प्र वयति
तस्माद्दिशि दिक् प्रोता^(७)” इति । या हिरण्येष्टका तदेवाग्नेर्मुखं,
तासेष्टकाः सर्वा दिशोऽभिजयन्तः सर्वासु दिक्षु विद्यन्त इत्ययम् ‘अग्निः

सर्वतोमुखः', एतस्य चयने सति खगटहवर्त्तिप्रजास्त्रिव सर्वदिग्वर्त्ति-
प्रजासु स्निग्धो भूत्वा अन्नमन्ति, अत एव सर्वा दिशोऽनेन जिता
भवन्ति । पुनरप्यन्ते फलाभिधानम् उपसंहाराय । अपि च सर्वासु
दिक्षु प्रधानेनैकस्यां 'दिशि' अन्यां 'दिशं' 'प्र-वयति' सूच्या वस्त्रमिव
स्निष्टां करोति । अत एव लोकेऽपि एकस्यां 'दिशि' अन्या 'दिक्'
'प्रोता' वर्त्तते । आग्नेयादिविदिक्षु द्वयोर्दिगन्तयोः संक्षेपात् । इदं
च ब्राह्मणं नचत्रेष्टकाभ्यः (४।४।१०) ऊर्ध्वं द्रष्टव्यम् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके नवमोऽनुवाकः ॥०॥

प्रजापतिरग्निमासृजत् सोऽस्मात् सृष्टः प्राङ्प्राद्वत्
तस्मा अश्वं प्रत्यास्यत् स दक्षिणावर्त्तत तस्मै वृष्णिं
प्रत्यास्यत् स प्रत्यङ्गवर्त्तत तस्मा ऋषभं प्रत्यास्यत् स
उद्ङावर्त्तत तस्मै बस्तं प्रत्यास्यत् स ऊर्ध्वोऽद्रवत् तस्मै
पुरुषं प्रत्यास्यत् पशुशीर्षाण्युपदधाति सर्वत एवैनम्
॥ १ ॥

अवरुध्य चिनुते^(१) एता वै प्राणभृतश्चक्षुष्मतीरिष्टका
यत् पशुशीर्षाणि यत् पशुशीर्षाण्युपदधाति ताभि-
रेव यजमानोऽमुष्मिंरुलोके प्राणित्यथो ताभिरेवास्मा

इमे लोकाः प्र भान्ति^{१)} मृदाभिलिष्योप दधाति मेध्य-
त्वाय^{१)} पशुर्वा एष यदग्निरन्नं पशवं एष खलु वा अग्नि-
र्यत् पशुशीर्षाणि यं कामयेत् कनोयोऽस्यान्नम् ॥ २ ॥

स्यादिति सन्तरान्तस्य पशुशीर्षाण्युप दध्यात्कनीय
एवास्यान्नं भवति यं कामयेत् समावदस्यान्नं स्या-
दिति मध्यतस्तस्योप दध्यात्समावदेवास्यान्नं भवति यं
कामयेत् भूयोऽस्यान्नं स्यादित्यन्तेसु तस्य व्यूहोप
दध्यादन्तत एवास्मा अन्नमवरुन्धे भूयोऽस्यान्नं भवति
॥ ३ ॥

एनम् । अस्यान्नम् । भूयोऽस्यान्नं भवति ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
दशमोऽनुवाकः ॥

अग्निग्रहः सर्वमुखं सप्रोतं नवमे श्रुतम् ।

अथ दशमे पशुशीर्षाण्युच्यन्ते । यत्पूर्वं द्वितीयप्रपाठके विहितं
“पशुशीर्षाण्युपदधाति (५।२।८)” इति । तदचानूच्य प्रशंसति,—
“प्रजापतिरग्निमसृजत सोऽस्मात् सृष्टः प्राङ् प्र-अद्रवत्तस्मै अश्वं प्रति-
आस्यत् स दक्षिणा आ-अवर्त्तत तस्मै दृष्टिं प्रति-आस्यत् स प्रत्यङ्-
आवर्त्तत तस्मै ऋषभं प्रति-आस्यत् स उदङ् आ-अवर्त्तत तस्मै बभ्रुं
प्रति-आस्यत् स ऊर्ध्वोऽद्रवत्तस्मै पुरुषं प्रति-आस्यत् यत् पशुशीर्षा-
ण्युपदधाति सर्वत एवैनं अवरुध्य चिनुते^(१)” इति । प्रजापतिना ‘सृष्टः’

अग्निर्यदा पूर्वस्थान्दिग्निं पलायते, तदा तन्निवारणायाम् तन्नाति-
कृत्त्येन स्थापितवान् । एवं दिगन्तरेष्वपि योज्यम् । अतः पशुग्रीर्षा-
णामुपधाने सति अग्नेः पूर्वतः पलायनं निवार्य तमग्निं चिनोति ।

प्रकारान्तरेण पशुग्रीर्षाणि प्रशंसति,—“एता वै प्राणभृतश्चु-
अतीरिष्टका यत् पशुग्रीर्षाणि यत् पशुग्रीर्षाण्युपदधाति ताभि-
रेव यजमानोऽमुष्मिन् लोके प्र-अणिति अथो ताभिरेवास्यै इमे
लोकाः प्र भान्ति^(१)” इति । पशुग्रीर्षाणां प्राणभृतां चचुष्मत्वञ्च
भूतपूर्वगत्या द्रष्टव्यम् । तदुपधानेन यजमानः सुवर्गे ‘प्राणिति’
चिरञ्जीवति । अपि च यजमानार्थमिमे सर्वे लोकाः पशुग्रीर्षेष्टकाभिः
प्रकर्षेण भासन्ते ।

तदुपधाने कश्चिद्विशेषं विधत्ते,—“मृदा अभिलिख्योप दधाति
मेधत्वाय^(२)” इति । मृतानां पशुग्रीर्षाणां मृक्केपेन मृन्मयत्वे सति
यज्ञयोग्यं भवति ।

अथान्वयव्यतिरेकाभ्यामपरं विशेषं विधत्ते,—“पशुर्वा एष
यदग्निरन्नं पशव एष खलु वै अग्निर्यत् पशुग्रीर्षाणि यं कामयेत
कनीयोऽस्यान्नं स्यादिति सन्तरान्तस्य पशुग्रीर्षाण्युप दध्यात्कनीय
एवास्यान्नं भवति यं कामयेत समावदस्यान्नः स्यादिति मृधतस्तस्योप
दध्यात् समावदेतास्यान्नं भवति यं कामयेत भूयोऽस्यान्नः स्यादिति
अन्तेषु तस्य बुद्ध्या उप दध्यादन्तत एवास्यै अन्नमव हन्ते भूयोऽस्यान्नं
भवति^(३)” इति । अयमग्निः पशुसाधनत्वात् पशुस्वरूपः पशवस्यान्न-
साधनत्वादन्नरूपः पशुग्रीर्षाणि चाग्निनिष्यादकत्वादग्निरूपाणि । एवं
सति अन्नात्पत्वकामनायां ‘सन्तरां’ सन्निकृष्टतराणि यथा भवन्ति,

तथा 'उप-दध्यात्', ततोऽन्नमल्पमेव भवति । अथात्यल्पं नापि बड्डलं किन्तु 'समावत्' समं जीवनमात्रपर्याप्तमन्नं स्यादिति कामनायां मध्यत 'उप-दध्यात्', नात्यन्नं सन्निकर्षः, नाप्यतिविकर्षः । तथा सति जीवनमात्रपर्याप्तमेवान्नं भवति । अथान्नभूयस्त्वकामनायां चितेरन्तेषु परस्परं 'बुद्धूह्य' यथा भवति, तथा पशुश्रीर्षाणि अप-सार्थं 'उप-दध्यात्', तथा सति सर्वस्मादपि दिगन्तरतोऽस्यान्नमधीनं भवति, ततोऽतिबड्डलं सम्पद्यते । एतच्च सर्वम् "एषां वा एतन्नोकानाम्" (५।१।८) इत्यनुवाके द्रष्टव्यम् ।

इति भायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके दशमोऽनुवाकः ॥०॥

स्ते॒गान्, द॒ः॒घ्रा॒भ्यां^(१) म॒ण्डू॒कान् ज॒भ्यो॒भिः^(२) आ॒द॒कां
खा॒देन^(३) उ॒ज्जि॒ * स॒सू॒देन^(४) आ॒र॒ण्यं जा॒म्बी॒रि॒न^(५)
मृ॒दं ब॒र्खे॒भिः^(६) श॒र्करा॒भिर॒व॒काम्^(७) अ॒व॒काभिः
श॒र्करा॒म्^(८) उ॒त्सा॒देन॑ जि॒ह्वा॒म्^(९) अ॒व॒क्र॒न्देन॑ ता॒लु॒^(१०)
सर॑स्वतीं जि॒ह्वा॒ग्रेण॑^(११) ॥ १ ॥

स्ते॒गान् । द्वा॒विं॒शतिः ॥ ११ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
एकादशोऽनुवाकः ॥

* 'उज्जि' इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

विशेषः पशुग्रीर्षेषु दशमे समुदीरितः ।

समाप्तं चैतावताग्निब्राह्मणम् ।

अथाश्वमेधमन्त्राः * केचिदत्रोच्यन्ते । यदुक्तं सूत्रकारेण,—
'हविषा प्रचर्याज्यमवदानं कृत्वा, स्तेगान् द११†^(१) मण्डूकान्
जम्भेभिः^(२)—इत्येतैश्चतुर्दशभिरनुवाकैः प्रतिमन्त्रं शरीरहोमान्
जुहोति' इति ।

तत्र प्रथमानुवाकगतान् मन्त्रनाह,—“स्तेगान्द११द्वाभ्यां^(१) मण्डूकान्
जम्भेभिः^(२) आदकां खादेन^(३) ऊर्जं म११सूदेन^(४) आरण्यं
जाम्बीलेन^(५) मृदं बर्खेभिः^(६) शर्कराभिरवकाम्^(७) अवकाभिः
शर्कराम्^(८) उल्सादेन जिह्वा^(९) अवक्रन्देन तालु^(१०) सरस्वतीं
जिह्वायेण^(११)” इति । अत्र द्वितीयान्तनिर्दिष्टा देवताः, तृतीया-
न्तनिर्दिष्टानि अश्वस्य अङ्गानि । इमां देवतामनेनाङ्गेन प्रीणया-
मीति होमकाले उभयं स्मर्तव्यमिति मन्त्राभिप्रायः । स्तेगाः
चुद्रजन्तुविशेषाः, ‘गोकर्णगाः’ इति लोके प्रसिद्धाः । तदधिष्ठात्री
काचिद्देवतेह लक्ष्यते । दंष्ट्रे उज्जते । स्तेगाभिमानिनी देवता
दंष्ट्राभ्यां यजामि । स एको मन्त्रः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यं ।

मण्डूकाः प्रसिद्धाः । दन्तमूलं जम्भः, तत्र भवा जम्भ्याः,
पार्श्वदन्ताः । आदका भक्षयित्री, प्राणाभिमानिनी देवता । खादः
भक्षणहेतुर्दन्तविशेषः । ऊर्क् रसाभिमानिनी देवता । संसूदं
सन्ततचरणो नासिकादिः । आरण्यं प्रसिद्धं । जाम्बीलं आमाशयः ।

यत्र भक्षितं त्वणं निधीयते तत् मृदं । वर्खभिः^१ दन्तमूलमांसादीनि ।
 शर्कराः तत्सदृशानि कठिनास्थीनि । अवकाः शैवालसदृशानि
 • मांसानि । शर्करा प्रसिद्धा । उत्साद उच्चप्रदेशः । जिह्वा
 प्रसिद्धा । अवकन्दः आन्तरं काधिक^१शब्दाभिव्यक्तिस्थानं । तासुं
 जिह्वामूलं । मूरखतौ जिह्वाग्रश्चेत्युभयं प्रसिद्धम् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवौघे वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥०॥

वाज२, हनूभ्याम्^(१) अप आस्येन^(२) आदित्यान्
 श्मश्रुभिः^(३) उपयामम् अधरेणोष्ठेन^(४) सदुत्तरेण^(५)
 अन्तरेणानूकाशं^(६) प्रकाशेन वाह्यं^(७) स्तनयितुं निर्वा-
 र्धेन^(८) सूर्याग्नौ चक्षुर्भ्यां^(९) विद्युतौ कनानकाभ्याम्^(१०)
 अशनिं मस्तिष्केण^(११) बलं मज्जभिः^(१२) ॥ १ ॥

वाज३ । पञ्चविंशतिः ॥ १२ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
 द्वादशोऽनुवाकः ॥

* एवमेव सर्वत्र पाठः । वर्खा इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† एवमेव सर्वत्र पाठः । 'कादिक' इत्येवंरूपः कश्चित् पाठो भवितुं
 युक्तः ।

विहितेषु चतुर्दशसु द्वितीयानुवाकगतान्मन्त्रानाह,—“वाज५
 हनूभ्याम्^(१) अप आस्तेन^(२) आदित्यान् अश्रुभिः^(३) उपयाममधरे-
 षोष्ठेन^(४) सद् उत्तरेण^(५) अन्तरेणानूकाशं^(६) प्रकाशेन वाह्य५^(७)
 स्तनयिद्गुं निर्वाधेन^(८) सूर्याग्नी चक्षुर्भ्यां^(९) विद्युतौ कनानकाभ्याम्^(१०)
 अशनिं मस्तिष्केण^(११) बलं मज्जभिः^(१२)” इति । वाजोऽन् ।
 ह्वादीनां पञ्चानां पदानामर्थाः प्रसिद्धाः । उपयामः पृथिवी,
 ‘इयं वा उपयामः’ इति श्रुत्यन्तरात् । अधरमोष्ठं प्रसिद्धं ।
 मच्छब्देन द्यौरुच्यते, सौदन्त्यस्यां पुण्यकृत इति व्युत्पत्तेः ।
 उत्तरेणेत्यूर्ध्वोऽष्टेनेत्यनुवर्तते* । अन्तरम् ओष्ठयोर्मध्यम् । अनूकाशं
 द्यावापृथिव्योर्मध्यं, अनुक्रमेण काशन्ते भासन्ते ज्योतींषि अस्मि-
 न्निति व्युत्पत्तेः । प्रकाशोऽभ्यन्तरं प्रकाशस्थानं । बाह्यं ब्रह्माण्डात्
 बहिःस्थानं । स्तनयिद्गुः प्रसिद्धः । निर्वाधो गमनकालीनः शब्दः ।
 सूर्याग्नी चक्षुषी चेतुभयं प्रसिद्धं । विद्युतौ वृष्टिकालेतरकालीने ।
 कनानके अलिखे कृष्णमण्डले । अशनिः प्रसिद्धः । मस्तिष्कः
 शिरोमांसं । बलं मज्जेत्युभयं प्रसिद्धम् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः ॥०॥

* अत्र ‘उत्तरेण ऊर्ध्वेन, ओष्ठेनेति अनुवर्तते’ इत्येवंरूपः कश्चित्पाठो
 भवितुं युक्तः ।

कूर्मान्, शफैः^(१) अच्छलाभिः कपिञ्जलान्^(२) साम्
कुष्ठिकाभिः^(३) जवं जङ्घाभिः^(४) अगदं जानुभ्यां^(५)
वीर्यं कुहाभ्यां^(६) मयं प्रचालाभ्यां^(७) गुह्योपपक्षाभ्यां^(८)
अश्विनावः साभ्याम्^(९) अदितिः शीर्ष्णा^(१०) निर्वृतिं
निर्जाल्मकेन शीर्ष्णा^(११) ॥ १ ॥

कूर्मान् । चर्योविः शतिः ॥ १३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
चयोदशोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयगतात्मन्वानाह,—‘कूर्मान् शफैः^(१) अच्छलाभिः
कपिञ्जलान्^(२) साम् कुष्ठिकाभिः^(३) जवं जङ्घाभिः^(४) अगदञ्जानुभ्यां^(५)
वीर्यं कुहाभ्यां^(६) मयं प्रचालाभ्यां^(७) गुहा उपपक्षाभ्याम्^(८)
अश्विनौ अः साभ्याम्^(९) अदितिः शीर्ष्णा^(१०) निर्वृतिं निर्जाल्मकेन
शीर्ष्णा^(११) इति । कूर्मः शफाश्च प्रसिद्धाः । अच्छलाः शरुलमांसानि ।
कपिञ्जलाः प्रसिद्धाः । साम् गीतिः । कुष्ठिकाः प्रकोष्ठारोग्य-
जानुनी (?) जङ्घाभ्यामधः प्रदेशः । जवो वेगः । जङ्घाः सन्धिभ्योऽधः-
प्रदेशः । अगदः आरोग्यं । जानुनी प्रसिद्धे । वीर्यं बलं । कुहा
हृत्तयोर्मध्यसन्धी । मयं प्रसिद्धं । प्रचालौ पादयोरुपरिप्रदेशौ ।
गुहा गुहनी । उपपक्षौ पार्श्वौ । अश्व्यंसशब्दौ प्रसिद्धौ । अदितिर्भूमिः ।

* कूर्माः इति पाठो भवितुं युक्तः ।

श्रीर्णा शिरसा । निर्वृतिः प्रसिद्धा । निर्जाल्मकेन केशरहितेन ।
श्रीर्णा शिरसा ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्टयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके त्रयोदशोऽनुवाकः ॥०॥

योक्त्रं, गृध्राभिः^(१) युगमानतेन^(२) चित्तं मन्याभिः^(३)
संक्रोशान् प्राणैः^(४) प्रकाशेन त्वचं^(५) पराकाशेनान्तरां^(६)
मशकान् केशैः^(७) इन्द्रः स्वपसा वह्नेन^(८) बृहस्पतिः
शकुनिसादेन^(९) रथमुष्णिहाभिः^(१०) ॥ १ ॥

योक्त्रम् । एकविंशतिः ॥ १४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
चतुर्दशोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थगताम्नान्वाह, —“योक्त्रं गृध्राभिः^(१) युगमानतेन^(२)
चित्तम् मन्याभिः^(३) संक्रोशान् प्राणैः^(४) प्रकाशेन त्वचं^(५) पराकाशे-
नान्तरां^(६) मशकान् केशैः^(७) इन्द्रः स्वपसा वह्नेन^(८) बृहस्पतिः शकु-
निधादेन^(९) रथमुष्णिहाभिः^(१०)” इति । योक्त्रं दर्भमयं बन्धनसाधनं ।
गृध्राः कक्षाः । युगं कृतचेतादि । आनतं घीवाप्रदेशः । चित्तं प्रसिद्धं ।
मन्या घीवारेखाः । संक्रोशाः घोषाः । प्राणाश्चक्षुरादयः । प्रकाशो
वाक् रूपं । त्वक् त्वगिन्द्रियाभिमानी । पराकाशोऽध्वनरं

रूपं । अन्तरा अभ्यन्तरप्रदेशाभिमानिनी । मशककेग्रेन्द्रशब्दाः
प्रसिद्धाः । स्वपसा वहेन शोभनव्यापारेण अङ्गबलेन । दृहस्पतिः
प्रसिद्धः । शकुनिसादः पृष्ठं, यत्र शकुनयः शक्ता वीराः सौदन्ति ।
रथः प्रसिद्धः । उष्णिहा रथवाहनदेशः ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके चतुर्दशोऽनुवाकः ॥०॥

मि॒चावरु॑णौ ओ॒णीभ्याम्^(१) इन्द्रा॒ग्री शि॒खण्डा॑भ्याम्^(२) ।
इन्द्रा॒दृह॑स्पती॒ ऊरु॑भ्याम्^(३) इन्द्रा॒विष्णू॑ अ॒ष्टीव॑द्वा^(४) ।
सवि॒तारं॑ पु॒च्छेन॑^(५) गन्ध॒र्वान् शे॒पेन॑^(६) अ॒प्सर॑सौ
मु॒ष्काभ्यां॑^(७) पव॑मानं पायु॒ना^(८) पवि॑त्रं पो॒चाभ्याम्^(९) ।
आ॒क्रम॑णं॒ स्थूरा॑भ्यां^(१०) प्र॒तिक्रम॑णं॒ कु॒ष्ठाभ्याम्^(११) ॥
१ ॥ १५ ॥

इति तैत्तिरियसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
पञ्चदशोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमगतात्मन्त्वानाह,—“मिचावरुणौ ओणीभ्याम्^(१) इन्द्राग्री
शिखण्डाभ्याम्^(२) इन्द्रादृहस्पती ऊरुभ्याम्^(३) इन्द्राविष्णू अष्टीवद्वा^(४)
सवितारं पुच्छेन^(५) गन्धर्वान् शेपेन^(६) अप्सरसौ मुष्काभ्यां^(७) पवमानं
पायुना^(८) पवित्रं पोचाभ्याम्^(९) आक्रमणं स्थूराभ्यां^(१०) प्रतिक्रमणं
कुष्ठाभ्याम्^(११)” इति । ओणी जघनगते मांसे । शिखण्डे ततोऽप्यधस्तने ।

ऊरू ततोऽप्यधस्तने । अष्टीवती जङ्घयोः पृष्ठभागगते मांसे ।
पोत्रा-स्थूर-कुष्ठशब्दैः पायुसमीपवर्तिन एव मांसविशेषा उच्यन्ते ।
देवतानामानि तु स्पष्टानि ।

इति सायनाचार्यरिचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके पञ्चदशोऽनुवाकः ॥०॥

इन्द्रस्य, क्रोडः^(१) अदित्यै पाजस्यं^(२) दिशां यज्वः^(३)
जीमूतान् हृदयौपशाभ्याम्^(४) अन्तरिक्षं पुरितता^(५)
नभ उदर्येण^(६) इन्द्राणीं स्त्रीक्रा^(७) वल्मीकान् क्लोन्वा^(८)
गिरीन् स्नाग्निभिः^(९) समुद्रमुदरेण^(१०) वैश्वानरं
भस्मना^(११) ॥ १ ॥

मिवावरुणौ । इन्द्रस्य । द्वाविंशतिः । द्वाविंशतिः*
॥ १६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
षोडशोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठगतान्मन्त्रनाह,—‘इन्द्रस्य क्रोडः^(१) अदित्यै^(२) पाजस्यं
दिशां यज्वः^(३) जीमूतान् हृदयौपशाभ्याम्^(४) अन्तरिक्षं पुरितता^(५)
नभ उदर्येण^(६) इन्द्राणीं स्त्रीक्रा^(७) वल्मीकान् क्लोन्वा^(८) गिरीन्
स्नाग्निभिः^(९) समुद्रमुदरेण^(१०) वैश्वानरं भस्मना^(११)’ इति । क्रोडो

* ‘इन्द्रस्य’ । द्वाविंशतिः इति षादशं पुस्तकपाठः ।

गलभागः । पाजस्यं पादतलं । जञ्जवोऽंससमीपवर्तीनि अस्थीनि ।
 हृदयमध्यम्* अष्टदलं मांसपद्मं । औपशं तद्देष्टुनं मांसं । पुरिततां
 अन्त्राणि । उदर्यमुदरगतं मांसं । स्त्रीहक्लोमशब्दाभ्यां उदरपार्श्ववर्तिनी
 मांसखण्डे उच्येते । तत्समीपवर्तीनि मांसानि श्लाघीनि । उदरं
 प्रसिद्धं । भुक्ष जीर्णहणादि । यथा द्वितीयया देवतानिर्देशः,
 एवम् 'इन्द्रस्य' इत्यादौ षष्ठीचतुर्थीभ्यामपि देवतानिर्देशो द्रष्टव्यः ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके षोडशोऽनुवाकः ॥०॥

पूष्णः, वनिष्टुः^(१) अन्याहेः स्थूरगुदा^(२) सर्पान्
 गुदाभिः^(३) कृतून् पृष्टीभिः^(४) दिवं^(५) पृष्ठेन^(६) वसूनां
 प्रथमा कीकसा^(७) रुद्राणां द्वितीया^(८) आदित्यानां
 तृतीया^(९) अङ्गिरसां चतुर्थी^(१०) साध्यानां पञ्चमी^(११)
 विश्वेषां देवानां पृष्टी^(१२) ॥ १७ ॥

पूष्णः । चतुर्विंशतिः ॥ १७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
 सप्तदशोऽनुवाकः ॥

* * 'अत्र हृदयं हृदयमध्यं किं वा हृदयमध्यस्य' इति गेवरूपः कश्चित्
 पाठो भवितुं युक्तः ।

† 'पुरितत्' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

‡ आदर्शपुस्तके १ इत्यङ्गोऽस्ति ।

अथ सप्तमगतान्मन्त्रानाह,—“पूष्णो वनिष्ठः^(१) अन्वाहेः स्थूरगुदा^(२)
 सर्पान् गुदाभिः^(३) चतुर्ष्वृष्टीभिः^(४) दिवं पृष्ठेन^(५) वसूनां प्रथमा
 कीकसा^(६) रुद्राणां द्वितीया^(७) आदित्यानां तृतीया^(८) अङ्गिरसां
 चतुर्थी^(९) साध्यानां पञ्चमी^(१०) विश्वेषां देवानां षष्ठी^(११)” इति ।
 वनिष्ठः प्रौढम् अन्तम् । स्थूरगुदा गुदकाण्डे स्थूलो भागः । गुदा
 गुदकाण्डस्य सूक्ष्मभागाः । पृष्ठो गुदसमीपवर्तिन्यः शिराः ।
 पृष्ठमुपरिभागः । तत्समीपवर्तिनोऽस्थिविशेषाः कीकसाः, ताश्च
 षट्सङ्ख्याकाः क्रमेण वस्त्रादीनां भागाः ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके सप्तदशोऽनुवाकः ॥०॥

ओजः, ग्रीवाभिः^(१) निर्वृतिमस्थभिः^(२) इन्द्रः स्वपसा
 वह्नेन^(३) रुद्रस्य विचक्षः स्कन्धः^(४) अहोरात्रयोर्द्वितीयः^(५)
 अर्धमासानां तृतीयः^(६) मासां चतुर्थः^(७) ऋतूनां
 पञ्चमः^(८) संवत्सरस्य षष्ठः^(९) ॥ १८* ॥

ओजः । विःश्रुतिः ॥ १८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
 अष्टादशोऽनुवाकः ॥०॥

अथाष्टमगतान्मन्त्रानाह,—‘ओजो ग्रीवाभिः^(१) निष्ठतिमस्यभिः^(२)
इन्द्रः स्वपसा वह्ने^(३) रुद्रस्य विचलः स्कन्धः^(४) अहोरात्रयोर्द्वितीयः^(५)
अर्धमासानां तृतीयः^(६) मासां चतुर्थः^(७) स्रवणां पञ्चमः^(८)
संवत्सरस्य षष्ठः^(९)” इति । ग्रीवास्तदवयवाः । अस्थीनि तत्तत्पानि ।
योऽयं ‘वह्ने’ वह्नययोग्यप्रदेशः ‘स्वपाः’ शोभनकर्मा, वह्नेत्यन्तः
स्वपाः, सोऽयमिन्द्रस्य भागः । स्कन्धोऽवयवभेदेन षोढा भिन्नः,
तत्रात्यन्तचञ्चलोऽवयवो रुद्रस्य । तत्तदनन्तरभाविनोऽहोरात्रादीनाम् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयज्ञः—
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके अष्टादशोऽनुवाकः ॥०॥

आनन्दं, नन्दयुना^(१) कामं^१ प्रत्यासाभ्यां^२ भयः-
श्रितीमभ्यां^(३) प्रशिषं^१ प्रशामाभ्यां^(४) सूर्याचन्द्रमसौ
वृक्षाभ्यां^(५) श्यामश्वलौ मतस्त्राभ्यां^(६) व्युष्टिं रूपेण^(७)
निम्बुक्तिमरूपेण^(८) ॥ ६ ॥

• आनन्दः । षोडश ॥ १६ ॥

• इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
एकोनविंशोऽनुवाकः ॥०॥

• अथ नवमगतान्मन्त्रानाह,—“आनन्दं नन्दयुना^(१) कामं प्रत्या-
साभ्यां^(२) भयः श्रितीमभ्यां^(३) प्रशिषं प्रशामाभ्यां^(४) सूर्याचन्द्रमसौ

वृक्षाभ्यां^(५) श्यामशबलौ मतस्ताभ्यां^(६) व्युष्टिं रूपेण^(७) निष्कृतिमरूपेण^(८) इति । नन्दयुर्गुह्येन्द्रियम् । प्रत्यासन्नितीम-
प्रशासशब्देर्गुह्यसमीपवर्तिनि अवयवयुगलानि अभिधीयन्ते । वृक्षौ
पार्श्वद्वयवर्तिन्यौ मांसग्रन्थौ । तत्समीपवर्तिनी मतस्ते । रूपं समीचीन
आकारः । तद्विपरौतम् अरूपम् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके एकोनविंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अहः, मासेन^(१) रात्रिं पीवसा^(२) अपो यूषेण^(३)
घृतं रसेन^(४) श्यां वसया^(५) दूषीकाभिः ह्रादुनि^(६)
अश्रुभिः पृष्ठां^(७) दिवं रूपेण^(८) नक्षत्राणि प्रतिरूपेण^(९)
पृथिवीं चर्मणा^(१०) ह्रवीं ह्रव्या^(११) उपाकृताय स्वाहा^(१२)
आलब्धाय स्वाहा^(१३) हुताय स्वाहा^(१४) ॥ १० ॥

अहः । अष्टाविंशतिः ॥ २० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
विंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अथ दशमगताम्बन्तानाह,—‘अहर्मासेन^(१) रात्रिं पीवसा^(२)
अपः यूषेण^(३) घृतं रसेन^(४) श्यां वसया^(५) दूषीकाभिर्ह्रादुनि^(६)
अश्रुभिः पृष्ठां^(७) दिवं रूपेण^(८) नक्षत्राणि प्रतिरूपेण^(९) पृथिवीं

चर्मणा^(१०) कवीं क्व्या^(११) उपाकृताय स्वाहा^(१२) अलम्बाय
स्वाहा^(१३) ऊताय स्वाहा^(१४)” इति । पीवो-यूष-रस वसा-
शब्दास्तत्रत्यद्रवाणां विशेषाः । दूषीका नेत्रयोर्मलं । अश्रूणि नेत्र-
जलानि । पृष्ठा (?) । रूपं नेत्रगोलकं । प्रतिरूपं तत्रत्यं प्रति-
विम्बं । चर्म पद्मपटलम् । कवी नेत्रगता कान्तिः । योऽयमुपा-
कृतमश्वमभिमन्यमानो देवः तस्मै इदं स्वा ऊतमस्तु* । तथैवालम्ब-
मभिमन्यमानाय, ऊतमभिमन्यमानाय च देवाय तत्तदवस्थापन्नमिदं
ऊतमस्तु ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवोद्ये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे मत्तमप्रपाठके विंशोऽनुवाकः ॥०॥

अग्नेः, प॒ष्टुतिः^(१) सर॑स्वत्यै नि॒प॒क्षतिः^(२) सोम॑स्य
तृतीया^(३) अपां च॒तुर्थी^(४) आप॑धीनां पञ्च॒मी^(५) संवत्स॑रस्य
षष्ठी^(६) म॒रुता॑ः सप्त॒मी^(७) बृ॒हस्पते॑रष्ट॒मी^(८) मि॒त्रस्य॑
नव॒मी^(९) वरु॑णस्य दश॒मी^(१०) इन्द्र॑स्यैकाद॒शी^(११) विश्वे॑पां
दे॒वानां॑ द्वाद॒शी^(१२) द्यावा॑पृथि॒व्योः पा॒र्श्वै^(१३) य॒मस्य॑
पा॒टूरैः^(१४) ॥ ११ ॥

अग्नेः । ए॒कान्न॑चि॒शत् ॥ २१ ॥

* एवमेव सर्वत्र पाठः । ‘स्वाहा’ ऊतमस्तु’ इत्येवंरूपः कश्चित्पाठो
भवितुं युक्तः ।

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
एकविंशोऽनुवाकः ॥०॥

अथैकादशगतान्मन्त्रनाह,—“अग्नेः पक्षतिः^(१) सरस्वत्यै निपक्षतिः^(२)
सोमस्य द्वितीया^(३) अपां चतुर्थी^(४) ओषधीनां पञ्चमी^(५) संवत्सरस्य
षष्ठी^(६) मरुतां सप्तमी^(७) बृहस्पतेरष्टमी^(८) मित्रस्य नवमी^(९)
वरुणस्य दशमी^(१०) इन्द्रस्यैकादशी^(११) विश्वेषां देवानां द्वादशी^(१२)
द्यावापृथिव्योः पार्श्व^(१३) यमस्य पाटूरः^(१४)” इति । दक्षिणपार्श्वस्य
मूले वर्त्तमाना येयं वङ्क्रिः सा पक्षतिः । तदनन्तरभाविनी
वङ्क्रिः निपक्षतिः । एवं तत्तदनन्तरभाविन्यो वङ्क्रयो द्वितीयादि-
शब्दैरुच्यन्ते । एता वङ्क्रयो यस्मिन् पृष्ठभागगतेऽस्थिपार्श्वविशेषे
सम्बध्यन्ते, सोऽयं पाटूरः ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके एकविंशोऽनुवाकः ॥०॥

वायोः, पक्षतिः^(१) सरस्वतो निपक्षतिः^(२) चन्द्रमसः
तृतीया^(३) नक्षत्राणां चतुर्थी^(४) सवितुः पञ्चमी^(५)
रुद्रस्य षष्ठी^(६) सर्पाणां सप्तमी^(७) अर्यमणोऽष्टमी^(८)
त्वष्टुर्नवमी^(९) धातुर्दशमी^(१०) इन्द्राण्या एकादशी^(११)
अदित्यै द्वादशी^(१२) द्यावापृथिव्योः पार्श्व^(१३) यम्यै
पाटूरः^(१४) ॥ १२ ॥

वायोः । अष्टाविंशतिः ॥ २२ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
द्वाविंशोऽनुवाकः ॥०॥

अथ द्वादशगतात्मन्त्वानाह,—“वायोः पचतिः^(१) सरस्वतो
निपचतिः^(२) चन्द्रमसः दत्तौया^(३) नक्षत्राणां चतुर्थी^(४) सवितुः
पञ्चमी^(५) रुद्रस्य षष्ठी^(६) सर्पाणां सप्तमी^(७) अर्यम्णोऽष्टमी^(८)
त्वष्टुर्नवमी^(९) धातुर्दशमी^(१०) इन्द्राणां एकादशी^(११) अदित्यै
द्वादशी^(१२) द्यावापृथिव्योः पार्श्व^(१३) यस्यै पाटूरः^(१४)” इति ।
पूर्वोक्तदक्षिणपार्श्ववदुत्तरपार्श्वपरत्वेनेदं सर्वं व्याख्येयम् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके द्वाविंशोऽनुवाकः ॥०॥

पन्थामु, अनूष्टम्भ्या^(१) सन्ततिः स्त्रावन्थाभ्या^(२)
शुकान् पित्तेन^(३) हरिमाणं यक्ता^(४) हलीक्षणान्
पापवातेन^(५) कूष्मान् शकभिः^(६) शवृत्तान् जवधेन^(७)
शुनो विशसनेन^(८) सर्पान् लोहितगन्धेन^(९) वयांसि
पक्वगन्धेन^(१०) पिपीलिकाः प्रशादेन^(११) ॥ १३ ॥

पन्थां । द्वाविंशतिः ॥ २३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
त्रयोविंशोऽनुवाकः ॥०॥

अथ त्रयोदशगतान्मन्त्रनाह,—“पन्थामनूवृग्भ्याः^(१) सन्ततिः
 स्त्रावन्याभ्याः^(२) शुक्रान् पित्तेन^(३) हरिमाणं यक्ता^(४) हलीक्ष्णान्
 पापवातेन^(५) कृष्णान् शक्रभिः^(६) शवर्त्तान् ऊवधेन^(७) शुनो
 विशसनेन^(८) सर्पान् लोहितगन्धेन^(९) वयाः^(१०) सि पक्वगन्धेन^(१०)
 पिपीलिकाः प्रशादेन^(११)” इति । अनूवृक्शब्देन पूर्वोक्तयोर्वृक्कथोः
 समीपवर्त्तिनी मांसखण्डे उच्येते । स्त्रावन्यशब्देन सूक्ष्माणां
 स्त्रायुविशेषाणां मूले, ते पार्श्वद्वयवर्त्तिन्यौ द्वे शिरे उच्येते । पित्तं
 प्रसिद्धं । यक्ता यक्षत्शब्देन* पित्तगतो वर्णविशेषः । पापवातोऽपा-
 नवायुः । शक्रानि शक्रत्पिण्डान् । ऊवधं अपक्वं शक्रत् ।
 विशसनं क्षिन्नस्थानं । लोहितगन्धपक्वगन्धौ प्रसिद्धौ । प्रशादो
 विशसनकालपतितो मांसलेखविशेषः ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छण्ययजुः-
 संहिताभाष्ये पञ्चमखण्डे सप्तमप्रपाठके त्रयोविंशोऽनुवाकः ॥०॥

क्रमैः, अत्यक्रमीद्वाजी विश्वैर्देवैर्यज्ञियैः संविदानः ।
 स नो नय सुकृतस्य लोकं तस्य ते वयः स्वधया
 मदेम ॥ १४ ॥

क्रमैः । अष्टादश ॥ २४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
 चतुर्विंशोऽनुवाकः ॥०॥

* ‘यक्ता’ यक्षता । यक्षन्शब्देन पित्तगतो वर्णविशेषोऽत्राभिप्रेत इत्येवं-
 रूपः कश्चित् पाठो भवितुं युक्तः ।

अथ चतुर्दशोक्तं मन्त्रमाह,—“क्रमैरत्यक्रमीदाजी विश्वेर्देवैर्यज्ञियैः
संविदानः । स नो नय सुकृतस्य लोकं तस्य ते वयं स्वधया मदेम”
इति । अयं ‘वाजी’ पूर्वोक्तावयवसंपन्नोऽयं ‘यज्ञियैः’ यज्ञार्हैः
‘विश्वेर्देवैः’ पूर्वोक्तैस्तेगादिभिः पिपौलिकान्तैः सर्वैर्देवैः ऐकमत्यङ्गतः
‘क्रमैः’ पादविन्यासैः ‘अत्यक्रमीत्’ भूलोकमतिक्रम्य स्वर्गं गतवान् ।
हे वाजिन्, ‘सः’ त्वं ‘नः’ अस्मान् ‘सुकृतस्य’ फलभूतं ‘लोकं’ ‘नय’
प्रापय । तस्य ‘ते’ तृप्त्यर्थं ‘वयं’ स्वधाशब्दोपलक्षितेनाज्येन हविषा
हर्षं जनयाम ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-
संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके चतुर्विंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

द्यौः, ते पृष्ठं पृथिवी सधस्यमात्मान्तरिक्षं समुद्रो
योनिः सूर्यस्ते चक्षुर्वातः प्राणश्चन्द्रमाः श्रोत्रं मासाश्चा-
र्द्धमासाश्च पर्वण्यृतवोऽङ्गानि संवत्सरो महिमा ॥ १५ ॥

द्यौः । पञ्चविंशतिः ॥ २५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
पञ्चविंशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

एवमाज्याहुतिसाधनभूताश्चतुर्दशानुवाकगता मन्त्रा उक्ताः ।
अथ यद्विहितमश्वमेधब्राह्मणे,—“द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्यमित्यश्वम-

नुमन्त्रयते”(३।८।५।८ब्रा०) इति । तं मन्त्रमस्मिन् पञ्चविंशानुवाके पठति,—“द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्यम् आत्मा अन्तरिक्षं समुद्रो योनिः सूर्यस्ते चक्षुर्वातः प्राणश्चन्द्रमाः ओत्रं मासाश्च अर्द्धमासाश्च पर्वाण्यृतवोऽङ्गानि संवत्सरो महिमा” इति । हे अश्व, येयं ‘द्यौः’, सा ‘ते’ तव ‘पृष्ठम्’ उपरिभागः । या च ‘पृथिवी’ सा यजमानादिभिः सह तवावस्थानहेतुः । यच्च ‘अन्तरिक्षं’ तत्तव ‘आत्मा,’ उदरभागः । योऽयं ‘समुद्रः’ स लदीय-‘योनिः’, “अप्सुयोनिर्वा अश्वः”(५।३।१२) इति श्रुत्यन्तरात् । यः ‘सूर्यः’ स विराड् रूपस्य तव ‘चक्षुः’ । यो ‘वातः’ स तव ‘प्राणः’ । यः ‘चन्द्रमाः,’ स तव ‘ओत्रं’ । ‘मामाः’ पचाश्च तव ‘पर्वाणि’ । वसन्ताद्यृतवः तव हस्तपादाद्यङ्गानि । ‘संवत्सरः’ तव युद्धजयादिरूपो ‘महिमा’ ।

इति मायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-संहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके पञ्चविंशोऽनुवाकः ॥०॥

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतं लोकमजयद् यस्मिन् अग्निः स ते लोकस्तज्जेष्यस्यथाव जिघ्र वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतं लोकमजयद्यस्मिन् वायुः स ते लोकस्तस्मात् त्वान्तरेष्यामि यदि नावजिघ्रस्यादित्यः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतं लोकमजयद्यस्मिन्, आदित्यः स ते लोकस्तं जेष्यसि यद्यवजिघ्रसि ॥ १ ॥

यस्मिन् । अथै च ॥ २६ ॥

यो वै अयथादेवतम् (१) । त्वामग्ने (२) । इन्द्रस्य
 (३) । चित्तिं (४) । यथा वै (५) । वयो वै (६) ।
 यदाकृतात् (७) । यास्ते अग्ने (८) । मयि गृह्णामि
 (९) । प्रजापतिः—सोऽस्मात् (१०) । स्तेगान् (११) ।
 वाजं (१२) । कूर्मान् (१३) । योक्तं (१४) । मिषा-
 वरुणौ (१५) । इन्द्रस्य (१६) । पूष्णः (१७) । ओजः
 (१८) । आनन्दम् (१९) । अहः (२०) । अग्ने (२१) ।
 वायोः (२२) । पन्थाम् (२३) । क्रमैः (२४) । द्यौस्ते
 (२५) । अग्निः पशुरासीत् (२६) । पङ्क्तिः ॥ २६ ॥

यो वै (१।१) । एवाहुतिम् (३।३) । अभवन् (५।५) ।
 पृथिभिः (७।२) । अवरुध्य (१०।२) । आनन्दम् (१९) ।
 अष्टौ-पञ्चाशत् ॥ ५८* ॥

सावित्राणि (१) । विष्णुमुखाः (२) । उत्सन्नयज्ञः (३) ।
 देवासुराः (४) । यदेकेन (५) । हिरण्यवर्णाः (६) । यो वै
 अयथादेवतम् (७) । सप्त ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
 पङ्क्तिविंशोऽनुवाकः ॥०॥

पञ्चमाष्टकः समाप्तः ।

* प्रथमेऽनुवाके ३ द्वितीये ५ तृतीये ४ चतुर्थे ४ पञ्चमे ७ षष्ठे ६ सप्तमे
 ३ अष्टमे ३ नवमे ४ दशमे ३ एकादशान् षड्विंशपथ्यन्तं प्रत्येकं एकक-
 मिति १६ । मिलित्वा ५८ ।

अथ यदुक्तमश्वमेधब्राह्मणे “अग्निः पशुरासीदित्यवघ्रापयेत्”
 (३।८।५।८ब्रा०) इति तमिमं मन्त्रमस्मिन् षड्विंशानुवाके पठति,—
 “अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतं लोकमजयद् यस्मिन् अग्निः स
 ते लोकस्तञ्जेव्यस्थयाव जिघ्र, वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतं
 लोकमजयद् यस्मिन् वायुः स ते लोकस्तस्मात् त्वान्तरेष्यामि
 यदि नावजिघ्रसि, आदित्यः पशुरासीत्तेनायजन्त स एतं
 लोकमजयद् यस्मिन्नादित्यः स ते लोकस्तञ्जेव्यसि यद्यवजिघ्रसि”—
 इति । हे अश्व, अयम् ‘अग्निः’ देवः पुरा कस्मिंश्चित् जन्मनि
 त्वमिवाश्वमेधे यागहेतुश्चाश्वः ‘पशुरासीत्’, ‘तेन’ अग्निरूपेण
 पशुना केचित् यजमाना ‘अयजन्त’, ‘स’ च पशुरग्निर्देवो भूत्वा
 ‘लोकम्’ ‘एतम्’ ‘अजयत्,’ ‘यस्मिन्’ लोके सः ‘अग्निः’ इदानीं
 तिष्ठति, ‘सः’ एव तवापि ‘लोको’ भविष्यति, त्वं च तं लोकं
 जेयसि । अथेवं सति त्वमुत्सुकः सन् इदमुदकं जिघ्र* । एवं
 वाय्वादित्यवाक्ययोरपि योज्यम् । वायुवाक्ये तु व्यतिरेकोपन्यासः,
 यदि† उदकं ‘नावजिघ्रसि,’ तर्हि ‘तस्मात्’ वायुलोकात् त्वाम्
 ‘अन्तः’ ‘एष्यामि,’ त्वमन्तरितस्तस्माल्लोकाद्भूष्यो यथा भवसि‡ ।
 तथा करिष्यामि । आदित्यवाक्ये तु अग्निवाक्यवदन्वयः,—यद्युदकं
 ‘अवजिघ्रसि,’ तर्हि तस्मादित्यलोकं जेयसि ।

* ‘अव-जिघ्र’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† ‘यदुदकम्’ इति आदर्शपुस्तक-का० श्री० पुस्तकयोः पाठः ।

‡ अत्र ‘भवति’ इति आदर्शपुस्तक-का० श्री० पुस्तकयोः पाठः ।

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरवृक्ष-
भूपाससाम्राज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थ-
प्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये पञ्चमकाण्डे सप्तमप्रपाठके
षड्विंशोऽनुवाकः ॥०॥

॥०॥ समाप्तं पञ्चमं काण्डम् ॥०॥
